डॉ॰ भगवानदास वर्मा

कहानी की संवेदनशीलता सिद्धान्त और प्रयोग

मराठवाड़ा विद्यापीठ की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धान्त और प्रयोग

(नई कहानी के सदर्भ मे)

डॉ० भगवानदास वर्मा
एम० ए० (हिन्दी-अंग्रेजी) पी एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
श्री सरस्वती भुवन महाविद्यालय
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर १२
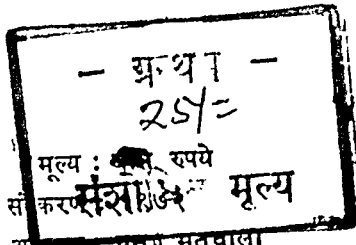
प्रस्तावना

पिछले दस-पन्द्रह बरसो मे हिन्दी कहानी साहित्य पर बहुत कुछ लिखा गया है, लिखा जा रहा है। नई कहानी को लेकर परिसवादो, पत्र-पत्रिकाओं और चर्चा-गोष्ठियो मे विवादात्मक प्रश्नो पर काफी ऊहापोह हुआ है।

इस शताब्दी के आठवें दशक मे पदार्पण करने वाली हिन्दी की कहानी साहित्य-जगत मे अपना स्थान निश्चित कर चुकी है, और हिन्दी साहित्य-इतिहास में एक नई सुनिश्चित धारा निर्माण हो चुकी है। किन्तु कहानी साहित्य पर आलोचना-ग्रन्थो का निर्माण जिस ढग से होना चाहिए था, नही हुआ है। इस दिशा मे जो भी प्रयास हुए है उनका स्वरूप फुटकर एव झलकियो-सा है। कहानी साहित्य पर गम्भीरता से उसकी समग्रता को लेकर बहुत कम विचार हुआ है। फिर भी जिन कुछ आलोचको ने इस दिशा मे सफल प्रयत्न किये हैं, इनमे नामवर सिह, कमलेश्वर, डॉ० वार्ष्णेय, लक्ष्मीनारायण लाल, इन्द्रनाथ मदान, राजेन्द्र यादव, देवीशकर अवस्थी, परमानन्द श्रीवास्तव, गगाप्रसाद विमल, श्री सुरेन्द्र, महीपसिह आदि नाम गिनाये जा सकते हैं। इनमे भी अनेको की आलोचनात्मक रचनाएँ समय समय पर लिखे गये फुटकर लेखो के सग्रहो से बनी हुई हैं। कुछो ने कहानी-साहित्य के अनुभूति-पक्ष पर ही अधिक जोर दिया है, तो कही उसकी रूप प्रक्रिया पर बल दिया गया है, पर कही भी समग्र रूप से कहानी साहित्य का विश्लेषण शायद ही हुआ है।

इस कमी को ध्यान में रखकर हमने महसूस किया कि हिन्दी कहानी पर उसकी सपूर्ण रचना प्रक्रिया को लेकर सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचना की नितान्त आवश्यकता है। अत हमने प्रस्तुत प्रबन्ध मे हिन्दी-कहानी के सैद्धान्तिक एव प्रायोगिक पक्ष को लेकर उसकी सवेदनशीलता का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।

जहाँ तक साहित्य-कला का प्रश्न है, सवेदना से हमारा अभिप्राय निरी ऐन्द्रिय चेतना से बिल्कुल भिन्न है। सवेदना का सेन्द्रिय एव जैविक स्तर मानव

समेत अन्य सभी जीव-मात्र में पाया जाता है जो सार्वकालिक एवं सार्वजनीन होता है। साहित्य के सम्बन्ध में जिस संवेदना की हम बात करते हैं, वह जैविक नहीं बल्कि मानवीय होती है—इसलिए उसका सम्बन्ध मानव के नैतिक-बोध से होता है। इसका मतलब यह नहीं कि संवेदना नैतिक-बोध का पर्याय है। किन्तु जीवन-दृष्टि में बदल होते ही हमारी संवेदना का रूप भी बदल जाता है और नैतिक-बोध का स्तर बदली हुई जीवन-दृष्टि के अनुसार परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने लगता है। साहित्यिक संवेदना में समय-समय पर जो बदल परिलक्षित होते हैं, वे बदले हुए जीवन मूल्यों का अनिवार्य परिणाम ही होते हैं। इसलिए साहित्य के सम्बन्ध में हम जिस संवेदना की बात कर रहे हैं, उसे "साहित्य-बोध" या व्यापक स्तर पर कला-बोध का नाम दिया जा सकता है।

कलाकार एवं साहित्यकार का विशिष्ट व्यक्तित्व उसकी संवेदन ग्रहण-पद्धति के कारण ही साधारण मनुष्य के व्यक्तित्व से अलग पड़ जाता है। अतः साहित्यकार का जीवन-बोध अर्थात् उसकी संवेदनशीलता (सेंनिसबिलिटी) साहित्य की विशिष्टता का पर्यायवाची तत्त्व बन जाता है। चूंकि साहित्यकार की संवेदनशीलता उसकी अनुभूति-ग्रहण-पद्धति और अभिव्यक्ति पद्धति का संश्लिष्ट रूप है, साहित्य का विश्लेषण अन्ततोगत्वा संवेदनशीलता का ही विश्लेषण होता है। इस अर्थ में साहित्य की एवं कला की संवेदनशीलता कला-सृजन का मूलतत्त्व है, इसमें कोई संदेह नही। यही कारण है कि हमने नई कहानी की मूल संवेदनाओं का विश्लेषण करने के लिए उसकी संवेदनशीलता का ही विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

आशा है, हमारा यह विनम्र प्रयास हिन्दी-कहानी के आलोचना-साहित्य में कहीं-न-कहीं अपनी जगह ढूंढ़ लेगा।

अन्त में एक बात का निर्देश करना आवश्यक है कि मराठवाड़ा जैसे अहिन्दी–भाषी प्रदेश में जहां हिन्दी-साहित्य की गतिविधियों के लिए प्रेरक वातावरण एवं योग्य सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं, वहां शोध प्रबन्ध लिखकर पूरा करने के लिए अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में अंग्रेजी और मराठी समीक्षकों की मान्यताओं का विश्लेषण करना पड़ा है। इस सम्बन्ध में उचित सामग्री उपलब्ध करा देना, परस्पर चर्चाओं एवं वार्तालापों में प्रत्यक्ष हिस्सा लेना आदि सहायता के लिए मैं

मराठवाड़ा विद्यापीठ के मराठी-विभाग के प्राध्यापक डॉ० सुधीर रसाल का *अत्यन्त अभारी हूँ। हमारे हाथों यह काम होता ही नहीं यदि मराठवाडा* विद्यापीठ का हिन्दी-विभाग और उसके अध्यक्ष डॉ० भगतसिंह राजूरकर हमें हर प्रकार की मदद न करते। डॉ० राजूरकर जी का मैं आभारी हूँ कि उन्होंने हमे न केवल पुस्तकें उपलब्ध करा दीं अपितु समय-समय पर विषय से सम्बन्धित चर्चा मे हिस्सा लेकर हमे प्रेरित करते रहे।

विजयादशमी, १९७२ —भगवानदास वर्मा

अनुक्रमणिका

——

कहानी की संवेदनशीलता :
सिद्धान्त और प्रयोग

१. संवेदनशीलता : कला-सृजन का मूलतत्त्व

अ संवेदनशीलता : विश्लेषण का आधार

१. लेखक की साक्ष्य

कलाकृति के सबन्ध में किसी ठास कथन का पुरस्कार करना महान साहसिक कर्म है। पर ऐसा साहस हम सदैव करते रहते हैं। क्योंकि हमारे कथनों को प्रमाणित करने की, तर्कसगत प्रमाण देने की जिम्मेदारी हम पर नही होती। किन्तु जब ऐसी जिम्मेदारी हम पर शायद हो जाती है तब सोच समझ कर ही बयान देने पडते हैं। हम कई बार कहते हैं :

१–कलाकार अपनी अनुभूतियों को कला द्वारा अभिव्यक्ति देता है।

२–कलाकार की सवेदना कला का रूप धारण करके पाठकों तक पहुचती है।

३–कलाकार किसी युग विशेष की उपज होता है, इसलिए वह अपनी कला मे युगबोध को अभिव्यक्त करता है।

४–'साहित्य समाज का दपण है, प्रत्येक साहित्य-कृति तत्कालीन सामाजिक, सास्कृतिक चेतना को मुखरित करती है।

उपर्युक्त चारो कथन वैसे गलत नही हैं, किन्तु प्रत्येक कथन को गम्भीरता से लिया जाय और तर्काधिष्ठित विश्लेषण पेश किया जाय तो कई कठिनाइयाँ सामने आ सकती हैं। पहले और दूसरे कथनो मे कलाकार के किसी विशेष कर्म की सूचना मिलती है, तो अन्तिम दो मे युगीन चेतना को प्राथमिकता दी जाकर कलाकार को दूसरी श्रेणी मे बिठाया गया है। देखना यह है कि उपर्युक्त चारो कथन तार्किक विश्लेषण की कसौटी पर कहाँ तक खरे उतरते हैं। कलाकार अपनी अनुभूतियों को और सम्वेदनाओ को कला द्वारा अभिव्यक्त करता है। क्या यह कथन सम्पूर्ण सत्य है ? क्या यह बयान स्थूल और अधूरा नही है ? इन प्रश्नो के इर्द गिर्द और कई प्रश्न खडे हो जाते हैं। कलाकार की अनुभूतियो का एव सम्वेदनाओ का कौन सा स्तर कलाकृति मे अभिव्यक्त होता है ? क्या कलाकार की अनुभूतियो के कई स्तर नहीं हो सकते ? क्या साहित्य कृति की रचना से पूर्व और रचना के बाद कलाकार की अनुभूतियो का स्वरूप एक ही रह सकता है ? क्या कलाकार सृजन गर्भ अवस्था मे सृजन-पूर्व अनुभवो को ज्यो का त्यो बरकरार रख सकता है ? क्या उसकी लेखन-

पूर्व, लेखन-गर्भ और लेखन-पश्चात् अनुभूतियों में कोई समानता रह सकती है? ऐसे और कई प्रश्न उठाये जा सकते हैं और इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देते समय हमें कुछ झिझक सी महसूस होती है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि कलाकार की रचना-पूर्व अनुभूति सृजन-गर्भ अवस्था में कई बाधाओं का और कला-वाह्य आकर्षणों का सामना करती हुई कलात्मक रूप धारण करती है। इसलिए रचना-पूर्व अनुभवों का स्वरूप सृजन-कर्म से गुजरता हुआ अन्तिम निर्मित-वस्तु (फिनिश्ड प्राडक्ट ;में आकर बहुत कुछ बदल सकता है।चूंकि पाठकों के सम्मुख अन्तिम-रचना ही होती है और इस रचना मे कलाकार की मूल अनुभूति का सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है, तब ऐसा कहना कहाँ तक उचित है कि कलाकार की अनुभूति कला में ज्यों की त्यों अभिव्यक्त होती है। किसी रचना के निर्माण में काफी समय लग सकता है। इस अवधि में कलाकार की बीज-रूप अनुभूति अपना मूल रूप बदल सकती है। जब साहित्यकार लिखने बैठता है तब लेखन-पूर्व स्थिति में काफी परिवर्तन भी हो सकता है। रचना-प्रक्रिया उसके की स्थिति में उसके सम्मुख विविध शिल्प-गत आकर्षण हो सकते हैं, जिनके अधीन वह अपनी मूल अनुभूति को तोड़-मरोड़ भी दे सकता है। अतः कलाकार की अनुभूति का कौन-सा स्तर कलाकृति में अभिव्यक्त होता है, इसे समझना कठिन हो जाता है। इस कठिनाई को सुलझाने की एक तरकीब यह सुझाई जाती है कि लेखक स्वयं अपनी अनुभूतियों के स्वरूप को अलग समझा दे तो पाठकों के लिए कोई कठिनाई नहीं होगी। शायद इसी हल को सामने रख कर हमारे कई कवियों ने और कहानीकारों ने अपनी कृतियों पर लम्बी आलोचनाएँ लिखी हैं। इन लेखक–आलोचकों में छायावादी कवि और नव–कहानीकार सबसे आगे हैं। ऐसी आलोचना प्रस्तुत करते समय साधारणतः तर्क यह दिया जाता है कि उनकी कृतियों पर अध्यापकीय-आलोचना अन्याय करती है और ऐसी आलोचनाएँ उनकी मूल अनुभूतियों पर अपनी राय थोपती हैं, अतः स्वयं रचनाकारों द्वारा अपनी कृतियों की गई आलोचनाएं प्रामाणिक होंगी ही !

हमारी समस्या का यह हल बिल्कुल संतोषजनक नहीं है। लेखक स्वयं जब अपनी कृतियों की अलोचना करते हैं तब उनके सम्मुख भी अन्तिम-निर्मित वस्तु ही होती है। वे अपनी रचना के पाठक बन जाते हैं। ऐसे समय उनकी स्थिति सामान्य विज्ञ पाठकों से बहुत भिन्न नहीं हो सकती। लेखन-पश्चात् स्थिति में लेखक का अपनी कृति से वह नाता नहीं रहता, जो लेखन-पूर्व एवं लेखन-गर्भ स्थितियों में था। सृजन–कर्म समाप्त होते ही रचनाकार का अपनी रचना से नाता टूट जाता है। इसलिए इसके द्वारा की गई अपनी कृतियों की

आलोचनायें अधूरी, पूर्वग्रह-दूषित एव अप्रामाणिक भी हो सकती हैं। और तो *और इस प्रकार आप बीती वार्तायें हर बार उपलब्ध होना मुश्किल भी है।* ऐसा यदि होता रहे तो आलोचनात्मक साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता ही खतरे मे *पड जाएगी। इस खतरे को सी० विंयर्डस्ले ने महसूस किया है।* वह लेखक की साक्ष्य को कम महत्व नहीं देता किन्तु लेखक की साक्ष्य पर सम्पूर्णत भरोसा कर लेना भी गलत क्यो है इसे स्पष्ट करते हुए कहता है कि, "हम इसे मानते हैं कि कई बार लेखक अपनी कविता का योग्य पाठक हो सकता है और वह हमे बहुत सी बातें ऐसी बतायेगा जिन्हे शायद बिना उसकी मदद के हम नही समझ सकेंगे। पर ऐसे समय यह जरूरी नही है कि उसकी कविता का वह स्वय बहुत अच्छा पाठक होगा ही। दरअसल उसका चेतन मन जितना स्वीकार कर रहा हो, उससे कुछ अलग उसका अर्वचेतन मन उसकी कविता को दिशा दे रहा होगा। ऐसे समय उसकी अपनी कविता की आलोचना सही न होने की सम्भावना बनी रहती है। इस स्थिति मे रचना का मूल हेतु रचना की आलोचना मे यदि सुरक्षित रहता दिखायी नहीं देता तब हमे किसी सुयोग्य समालोचक की शरण लेनी पडती है।"[१] अत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रचनाकार की अनुभूति को साध्य मानकर रचना के सम्बन्ध मे अपनी राय देना या उस रचना पर आलोचना करते हुए रचनाकार की अनुभूति एव समवेदना को समझना गलत साबित हो सकता है। इसलिए सवेदनशीलता के विश्लेषण के लिए लेखकीय साक्ष्य अपर्याप्त सिद्ध हुई है। इस सम्बन्ध मे हम दूसरी पद्धतियो का विचार करेंगे।

२ पाठक की साक्ष्य

उपर्युक्त उलझन को सुलझाने के लिए कई अन्य मार्ग सुझाए गये हैं। इस सम्बन्ध मे पाठक की साक्ष्य को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। चूंकि पाठक के सामने प्रत्यक्ष रचना होती है, उसके द्वारा किया गया विश्लेषण अधिक प्रामाणिक हो सकता है। वह प्रत्यक्ष कृति का आस्वाद लेता है अत. उसके विश्लेषण मे गलत निष्कर्षों के लिए गुंजाइश नही रह सकेगी। इस तथ्य को स्वीकृत करते हुए आलोचना की कई पद्धतिया और विभिन्न सप्रदाय चल पडे हैं। हमारी आलोचना का बहुत बडा हिस्सा पाठक की साक्ष्य पर आधृत मूल्यांकन की दिशाए निश्चित करता हुआ दिखाई देता है। भारतीय साहित्य शास्त्र के रसवादी एव आनदवादी सप्रदायों की आधारभूमि यही रही है। सहृदय पाठक के निष्कर्षों पर पूरा भरोसा करना चाहिए, इस पर वैसे

कोई आपत्ति नहीं उठाई जानी चाहिए। किन्तु गौर से सोचने पर इस पद्धति में भी कई त्रुटियां दिखायी देती हैं। इन त्रुटियों का जिक्र करने से पहले पाठक की साक्ष्य को आधार मानने वाली कुछ महत्वपूर्ण मान्यताओं को परखना जरूरी है। ऐसी मान्यताओं में आई० ए० रिचर्ड्स की मान्यता अतीव महत्वपूर्ण मानी जाती है, जिसे समझने का हम प्रयत्न करेंगे। रिचर्ड्स ने अपने सिद्धान्तों में कवि की साक्ष्य को प्रमाण मानने से रचना के विश्लेषण में निर्माण होने वाले खतरों का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है और सिद्ध किया है कि रचनाकार की लेखन-पूर्व अनुभूति बिल्कुल उसी रूप में कृति के द्वारा अभिव्यक्त नही हो सकती। इसलिए सहृदय की प्रतिक्रियाओं पर विश्वास करना जरूरी वन जाता है। वह मानता है कि कलाकृति का पाठकों के मन पर जो प्रभाव पड़ता है, उस प्रभाव के विश्लेषण से ही कृति का स्वरूप-विश्लेषण पूर्ण हो सकता है। उसकी निश्चित धारणा है कि कविता या कला वस्तुपरक अर्थ बोध न कराकर पाठक में संवेग और प्रवृत्तियां उत्पन्न करती है।[२] इससे आगे जाकर वह यह भी मानता है कि किसी श्रेष्ठ कृति के आस्वादन से पाठक के मन में स्थिति परस्पर विरोधी प्रेरणाओं में (इम्पल्स) संतुलन पैदा होता है। त्रासदी का उदाहरण देकर उन्होंने इस मान्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है।[१] यही कारण है कि रिचर्ड्स के आलोचनात्मक सिद्धान्त पाठक के मन का गम्भीर विश्लेषण पेश करते हैं और पाठक की मानसिक प्रेरणाओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं। रिचर्ड्स के अनुसार जो कलाकृति पाठकों के मन की विरोधी प्रेरणाओं में संतुलन पैदा कर सकती है, वह श्रेष्ठ कृति कहलाएगी।

क्या इस मान्यता को संपूर्णतः स्वीकृत कर लिया जाय? मानसिक प्रेरणाओं का संतुलित संगठन क्या कलाकृति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु या घटना द्वारा सम्भव नहीं? सच तो यह है कि किसी भी वस्तु के आकलन में ऐसा संतुलन असंभव नहीं है तो फिर कलाकृति और अन्य वस्तुओं में क्या फर्क है? रिचर्ड्स की मान्यता को यदि स्वीकृत कर लिया जाय तो कलाकृति का अर्थ बड़ा ही सीमित हो जायगा। इस सिद्धान्त के अनुसार कलाकृति की एक ही सीमित व्याख्या की जा सकेगी-कि जो वस्तु पाठकों के मन में भावनाओं का संतुलित संगठन निर्माण कर देगी, उस वस्तु को कलाकृति कहा जाय। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते समय रिचर्ड्स कलावस्तु को अन्य और कई अकलात्मक वस्तुओं के समकक्ष बिठा देते हैं और पाठकों की प्रतिक्रिया को आत्यंतिक महत्व देने लगते हैं। उनके अनुसार विरोधी प्रेरणाओं में

संतुलन निर्माण करने का कार्य केवल त्रासदी ही नहीं करती, अपितु एक घड़ा, कालीन या कोई सुभाषित हमें इस प्रकार का अनुभव दे सकते हैं किन्तु ऐसी अनुभूति का प्रेरक कारण वस्तु की विशेषता में ढूंढना गलत होगा। पाठक की प्रतिक्रिया पर यह निर्भर करता है।

स्पष्ट है, इस सिद्धान्त के अनुसार कलावस्तु पाठक की मनोवृत्तियों में संतुलन पैदा कराने का साधन मात्र बन जाती है। अतः प्रत्यक्ष कलाकृति के विश्लेषण की अपेक्षा पाठक की मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण प्रमुख बन जाता है और सारी आलोचना व्यक्तिनिष्ठ बनकर केवल मनोवैज्ञानिक रूप धारण करने लगती है। एक ओर पाठकों के मानस प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन उपस्थित करने वाली रिचर्ड्स प्रणीत आलोचना दूसरी ओर कला वस्तु के साधन-गत अङ्गों का सूक्ष्म विश्लेषण भी उपस्थित करती है। कला-सम्प्रेषण के सिद्धान्त में भाव सम्बन्धी विचार को उन्होंने बड़ा महत्व दिया है। पर आश्चर्य यह है कि कलावस्तु का विश्लेषण और पाठक के मन का विश्लेषण इन दोनों के बीच अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है। उन्होंने स्वयं अपनी इस असंगति का स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि अनुभूति का मूल्य निर्धारित करने के लिए आलोचना का जो रूप सामने आता है उसे आलोचना का 'समीक्षात्मक हिस्सा' (क्रिटिकल पार्ट) कहना चाहिए और जो रूप कलावस्तु के साधनों का विवेचन उपस्थित करता है उसे 'तंत्रात्मक हिस्सा' (टेक्निकल पार्ट) कहना चाहिए।' इन दोनों हिस्सों के आपसी सम्बन्ध को रिचर्ड्स मान्यता नहीं देते। पाठकों की प्रतिक्रिया से निर्मित भाव-पक्ष और कलावस्तु के विश्लेषण से प्राप्त कला-पक्ष की अलग-अलग चर्चायें उपस्थित की गई हैं। एक ओर पाठकों की प्रतिक्रिया का पूरा भरोसा करना और दूसरी ओर 'कलावस्तु' का पाठक-निरपेक्ष विश्लेषण करना सचमुच संभव भी है ? सही तो यह है कि पाठक की व्यक्तिनिष्ठा में सम्पूर्ण विश्वास करने वाली रिचर्ड्स प्रणीत सैद्धान्तिक आलोचना इतनी हद दर्जे की मनोवैज्ञानिक बन गई है कि 'कलावस्तु' की पृथकात्मकता ही नष्ट होती-सी लगती है।

पाठकों के मानसिक स्तर पर केन्द्रित आलोचना पाठकों का विभाजन-वर्गीकरण करने लगती है और अपनी मान्यता की समाव्य सीमाओं का निराकरण करती हुई सुयोग्य पाठक की व्याख्या निश्चित करती है। रिचर्ड्स एक महत्वपूर्ण सवाल खड़ा करते हैं कि पाठकों का वह कौन सा अनुभव सही अनुभव है, जिसे कलावस्तु में व्यक्त सही अनुभव का पर्याय माना जाय ? वर्ड्स्वर्थ की एक कविता का उदाहरण लेकर पाठक द्वारा ग्राह्य अनुभवों की

विविध श्रेणियां निश्चित की गई है। 'मान लीजिए कि हम किसी कविता की व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते है। उस कविता पर कुछ कहते समय हम विविध अनुभवों का मिला-जुला वर्णन करते है। ऐसे समय मुख्यतः हम चार श्रेणियों के अनुभवों का वर्णन करते हैं। एक तो हम कलाकार के अनुभवों का जिक्र करते है। दूसरे, कुशल पाठक के अनुभवों का जिक्र करते हैं—तीसरे आदर्श एवं अभिरुचि-सम्पन्न सहृदय के अनुभवों का जिक्र करते है और चौथे हमारे निजी अनुभवों का वर्णन करते हैं। इन चारों श्रेणियों का गुणात्मक स्तर भिन्न-भिन्न हो सकता है। सप्रेषण की अपूर्णता के कारण प्रथम और चौथी श्रेणी के गुणात्मक स्तरों में फर्क हो सकता है। दूसरी और तीसरी श्रेणियां परस्पर भिन्न होती हुई शेष श्रेणियों से भी भिन्न हो सकती हैं। तीसरी श्रेणी का अनुभव अच्छे से अच्छे आदर्श-अनुभव के समकक्ष माना जाना चाहिए तो दूसरी श्रेणी का अनुभव अच्छे अनुभव का संभाव्य रूप उपस्थित करता है। इन चारों श्रेणियों में कौन सी श्रेणी कविता की सही व्याख्या दे सकती है ? इसका निर्णय करना आसान नही है। सर्वसाधारण रूप से हम पहली या अंतिम श्रेणी को प्रमाण मानते हैं या कई बार दोनो का मिला-जुला संदिग्ध रूप उपस्थित करते है। यहां बाधा यह उपस्थित होती है कि प्रथम श्रेणी यानी कवि की अनुभूति को प्रमाण माना जाय तो लेखन-पूर्व अनुभूति और लेखन-पश्चात अनुभूति को एक सा मानना पड़ेगा, जो सही नही है। यदि अंतिम श्रेणी को प्रमाण मानें तो इसमें 'व्यक्तिगत निर्णय' (पर्सनल जजमेंट) का आरोप लगाया जा सकता है, और एक ही कविता के जितने पाठक होंगे उतने ही उनके अनुभव होंगे और उतनी ही कविताएं होंगी। यह प्रमाण भी खतरे से खाली नहीं है। इसलिए हमें अनुभवों के एक ऐसे वर्ग (क्लास) को मानना पड़ेगा जो कविता-गत शब्दों से निर्मित सब प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभवों (एक्च्युअल) का समन्वित रूप उपस्थित करता है और जो विशिष्ट सीमा में उस अनुभव से भिन्न नही होता। यह हल वैसे बड़ी उलझन उपस्थित करता है, पर इसके अतिरिक्त कोई दूसरा संभाव्य हल है भी नही। अंततः हमें एक ऐसे स्तरात्मक-अनुभव (स्टैन्डर्ड) को मानना ही पड़ता है जो कवि द्वारा संवेद्य अपनी कृति के सृजन-पश्चात चिंतनगत अनुभव के समकक्ष हो सकता है।'[५]

श्रेष्ठ कलाओं के आस्वादन मे स्तरात्मक अनुभूति की संकल्पना अपने आप में कई उलझनें पैदा करती है। यहां कलावस्तु के आस्वादन में केवल आस्वादक और वस्तु इन दोनों का सम्बन्ध पर्याप्त नही माना जायगा। हर बार आस्वादक को अनुभवों के उस स्तरात्मक वर्ग का ध्यान रखना पड़ेगा

कि उसका आस्वाद जन्य अनुभव स्तरात्मक अनुभव के कितने निकट पड़ता है वरन उसका आस्वादन अधूरा ही रह जायगा। और तो और 'स्तरात्मक अनुभव' का समन्वित रूप उपलब्ध कैसे और कहां से हो सकेगा। कठिनाई यह है कि प्रत्येक साहित्य कृति के आस्वादन की उपर्युक्त चारो श्रेणियां उपलब्ध कैसे हो सकती हैं। प्रत्येक कृति का आस्वादन लेखक, विज्ञ पाठक और सहृदय इन तीनों गुटो द्वारा एक साथ उपलब्ध होना असम्भव-सा लगता है। यदि मान लें कि ऐसे आस्वाद जन्य अनुभवो का ब्योरा उपलब्ध भी है, फिर भी एक सवाल अनुत्तरित ही रह जाता है कि इन ब्योरों की प्रामाणिकता कहां तक निर्दोष है ? सच तो यह है कि रिचर्ड्स मूलत मनोवैज्ञानिक और भाषाशास्त्री हैं और उनकी दिलचस्पी केवल कविता द्वारा पाठक के मन पर होने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभावों तक ही सीमित रही है। इसलिए उनके सिद्धांत कला की प्रकृतवादी (नेच्युरलिस्टिक) और प्रत्यक्षवादी (पाजिटिव्हिज़्मिस्टिक) आलोचनाएँ पेश करते हैं। कभी कभी हमें सदेह होने लगता है *कि पाठक के मन का और तज्जन्य तनावो का इतना गहरा विश्लेषण साहित्य* के स्वरूप को समझने के लिए सचमुच उपयोगी भी सिद्ध हुआ है! उन्होंने तो यहां तक मान लिया है कि अच्छी और बुरी कविता के चाहने न चाहने का प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है, केवल देखना है कि कविता पाठकों के मानसिक तनावों का सतुलित सगठन कैसे पैदा करती है, इसमें उसे सफलता कहां तक मिली है।* अत रिचर्ड्स के सिद्धांत कलावस्तु का प्रत्यक्ष सगठन और पाठक का मन इन दोनों को बिल्कुल अलग-अलग सत्ताएं प्रदान करते हैं जिससे कलाओं की आलोचना आत्यन्तिक रूप से एकांगी और व्यक्तिनिष्ठ बन गयी है।' व्यक्तिनिष्ठता के आत्यन्तिक दुराग्रह के कारण रिचर्ड्स की आलोचना अपने सिद्धांतो को प्रमाणित करने में ही लग गयी है। किन्तु व्यावहारिक आलोचना में उनके सिद्धांत सपूर्णत लागू नहीं हो सकते। इस कठिनाई को *उन्होंने स्वयं महसूस किया है। यही कारण है कि वे स्वयं अपने सिद्धांतो से* हटकर कई बार कृतियों की व्यावहारिक आलोचना करते हुए दिखाई देते हैं। उनकी व्यावहारिक आलोचना (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म) पर लिखी पुस्तक इसका प्रमाण है। सक्षेप मे पाठक की साक्ष्य को कला आस्वाद का एकमेव आधार मानने वाली आलोचना हमारे सम्मुख निम्न निष्कर्ष रखती है —

१–आस्वाद-प्रक्रिया मे पाठक और कलावस्तु मे अनिवार्य सम्बन्धों को अस्वीकृत किया गया है, जिसे ग्रहण करना असंभव है।

२–पाठकों के मन का विश्लेषण ही केवल साहित्यालोचन का प्रमुख कार्य

बन जाने के कारण कलाओं की पृथक् सत्ता समाप्त हो जाती है और आलोचना-शास्त्र मात्र मनोविज्ञान बनकर रह जाता है ।

३–कलावस्तु का मूल्यांकन आत्यंतिक रूप से व्यक्तिनिष्ठ बन जाता है, जिसमें मूल्यांकन की सदोपता सदैव बनी रहती है ।

४–'कलावस्तु' केवल मानसिक असंतुलन को ठीक करने की दवा बन जाती है, जिससे उसका महत्व मात्र साधन बन कर सीमित हो जाता है ।

५–कलाकृति के आस्वादन में लेखक एवं पाठक की साक्ष्य कितनी अधूरी और सदोप हो सकती है इसकी पर्याप्त जानकारी उपर्युक्त मान्यता की चर्चा करते समय हमें प्राप्त होती है । अतः साहित्य कृति की संवेदनशीलता का विश्लेषण करते समय हमें लेखक या पाठक की अनुभूतियों पर संपूर्णतः विश्वास नहीं करना चाहिए ।

इन निष्कर्षों के पश्चात हम इस सम्बन्ध में दूसरी मान्यताओं पर विचार करेंगे ।

३. प्रत्यक्ष कलावस्तु की साक्ष्य

अब तक हमने साहित्य-कृति की संवेदनशीलता का विश्लेषण लेखक और पाठक के अनुभवों के आधार पर करने वाली मान्यताओं का जिक्र किया और पाया कि यह मान्यताएं बहुत कुछ हद तक दोषपूर्ण हैं । अब हमें एक ऐसी मान्यता को समझना है, जो प्रत्यक्ष कलावस्तु का विश्लेषण उपस्थित करती है और कलागत संवेदनशीलता को समझने का प्रयत्न करती है । यह मान्यता लेखक या पाठकों के व्यक्तिनिष्ठ अनुभवों पर विश्वास नहीं करती अपितु पाठक-निरपेक्ष 'कलावस्तु' के संगठन (आर्गनाइजेशन) का विश्लेपण उपस्थित कर 'वस्तु' का आस्वादन करती है । लगभग सभी सौंदर्यशास्त्रियों ने (एस्थेटिशियन) वस्तुनिष्ठ मायन्ताओं का पुरस्कार किया है । ऐसी मान्यताएं सौंदर्य को मूर्त करने वाली वस्तुनिष्ठ कृति को व्याख्येय मानती हैं । इस प्रकार की मान्यताओं ने चित्र, संगीत, शिल्प एवं वास्तु (स्थापत्य) कलाओं का पर्याप्त मात्रा में विश्लेपण किया है । अंग्रेजी में ऐसी आलोचनाएं बहुतायत से मिलती हैं । केवल साहित्यकला पर वस्तुनिष्ठ-मान्यता-प्रणीत विश्लेपण बहुत कम पाया जाता है । हिन्दी मे ऐसे फुटकर प्रयत्न हुए हैं । मराठी साहित्य में बा० सी० मर्ढेकर ने 'वस्तुनिष्ठ' मान्यता का आधार लेकर साहित्यकला का विस्तृत विश्लेपण पेश किया है । उन्होंने साहित्यकला का

लेखक एव पाठक–निरपेक्ष वस्तुगत विश्लेषण उपस्थित करते हुए साहित्यकृति के *आतरिक सौंदर्य की व्याख्या की है । मर्ढेकर प्रणीत मान्यता को हम समझने* का प्रयत्न करेंगे ।

साहित्यकृति का सौंदर्य, कृति की शिल्पगत सुसगति पर निर्धारित है। कृति का अगभूत शिल्प-सगठन उसे सुन्दर बनाता है। साहित्यकृति अपने अग-भूत शिल्प-सगठन के कारण ही कलाकृति का स्तर प्राप्त करती है। अत मर्ढेकर शिल्प-सगठन के विविध साधनो की चर्चा उपस्थित करते हैं। प्रथमत वे साहित्यिक कलाकृति के शिल्प की अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। हम *सामान्यत शिल्प की व्याख्या करते समय कृति के जिन अगो का विवेचन करते* हैं, मर्ढेकर इससे हटकर कृति के आतरिक शिल्प का विश्लेषण करते हैं। काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार कविता के शिल्प का विचार करते समय कविता की भाषा, कविता के अलकार, छन्द आदि काव्य शरीर का ब्यौरा उपस्थित किया जाता है, कहानी उपन्यास की आलोचना करते समय कथावस्तु, घटनाओ का क्रम, भाषा एव शैली आदि अगो की चर्चाएँ उपस्थित की जाती हैं। मर्ढेकर इस चर्चा को सही अर्थ मे शिल्प चर्चा नहीं कहते। क्योकि उनके अनुसार *ये अग कृति को सजाने सवारने का काम* करते हैं। *ये अग कृति* की शैली से सम्बन्ध रखते हैं। इनका महत्त्व साधनरूप है, कृति के अभिन्न अग बनने का श्रेय इन्हे हासिल नहीं है, केवल ऊपरी एव बाह्य पच्चीकारी की हद तक इनका महत्त्व है। बिना इन अगो की चर्चा किये साहित्यकृति की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है। कृति की श्रेष्ठता के मानदड य बाह्य साधन कदापि नहीं हो सकते। वैसे इन साधनों का अपना महत्त्व नकारा भी नहीं जा सकता। साहित्यकृति की रचना प्रक्रिया म इन अगो का महत्त्व जरूर है पर *कृति की श्रेष्ठता आकने के लिए अलग से शिल्पपक्ष की अर्थात भाषा, अलकार,* घटनाक्रम आदि की चर्चा उपस्थित करने की जरूरत नहीं है।[९]

भाषा, अलकार, घटना एव प्रसग आदि कलापक्षीय साधनो की चर्चा से यदि कृति को श्रेष्ठता साबित नही की जा सकती तो कृति म और कौन सा तत्त्व है जिसके आधार पर कृति के आतरिक शिल्प की व्याख्या की जाए। यह तो स्पष्ट है कि केवल अभिव्यक्ति-पद्धति की विविधता मे एव विचित्रता मे रचना का सौंदर्य नही देखा जा सकता। *अत रचना के अन्तर्गत उस सगठन को ढूंढना चाहिए जिसकी चर्चा सौंदर्यशास्त्रियो ने की है। सौंदर्यशास्त्री यह* मानते हैं कि रचना का सौंदर्य उसके सगठन (फार्म) मे होता है। उपर्युक्त कलापक्षीय साधनो की चर्चा सौंदर्यशास्त्र प्रणीत रूप कल्पना (फार्म) को यदि

स्पष्ट नहीं कर सकती, तो रचना के उस 'रूप' को समझना होगा जो शिल्प के वाह्य साधनों में स्पष्ट नहीं हो सकता। मढेंकर इसके आगे साहित्यकृति के आशय-तत्व को स्पष्ट करने लगते हैं। वे मानते हैं प्रत्येक साहित्यिक कलाकृति का अपना आशयगत शिल्प-संगठन होता है, जिससे कृति में सौंदर्य निर्माण होता है। यही आशयगत संगठन साहित्यकृति के आंतरिक सौंदर्य को स्पष्ट करता है। इस संगठन को बिना अभिव्यक्ति-पद्धति की चर्चा किए ही समझा जा सकता है। रचना की अभिव्यक्ति-पद्धति कई वार, शायद हर वार, रचना-गत मूल आशय को वदल देती है और उसे अतिरिक्त अलंकरण से सजाती है। कला को कारीगरी में ढालने का काम अभिव्यक्ति-पद्धति का है, इसलिए कला-संप्रेषण के शिल्प पक्षीय साधनों को रचना के मूल सौंदर्य पक्ष के साथ जोड़ना गलत है। साहित्य के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भले ही आशय और अभिव्यक्ति का समन्वय अपेक्षित है, पर साहित्य कला में इस समन्वय पर जोर देना हानिकारक सावित हुआ है। कुछ उदाहरण देते हुए मढेंकर ने अपनी मान्यता को यों स्पष्ट किया है। सवाल उठाया है कि मोर के पंख क्यों होते हैं या जिराफ की गर्दन लम्बी क्यों होती है? इनका उत्तर शायद प्राणीशास्त्र के अनुसार इन प्राणियों के अन्तर्गत संगठन में मिल सकता है। पर जामे-मस्जिद सुन्दर क्यों है? या शाकुंतल हमें सौंदर्यानुभूति क्यों देता है? इनका उत्तर इन कृतियों की अभिव्यक्ति-पद्धति में खोजना गलत है।[10]

साहित्यकृति का आशयगत शिल्प उस कृति के भाव-संगठन में निहित होता है। प्रत्येक साहित्यिक रचना एक या अनेक अनुभूतियों का समुच्चय (पैटर्न) अभिव्यक्त करती है। इस पैटर्न से कृति का आशय-गत संगठन पैदा होता है। अतः पैटर्न से निर्मित संगठन का विश्लेषण ही कृति के सौंदर्य का विश्लेषण होगा और इसी विश्लेषण से आस्वाद प्रक्रिया सम्पन्न होगी।[11]

अनुभूतियों के पैटर्न की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत कर अरस्तु की रचना के आशय से सम्बन्धित 'आदि-मध्य-अन्त' की संकल्पना पर अपनी आलोचना देते हुए मढेंकर स्पष्ट करते हैं कि साहित्य में निर्मित आशयगत घटनाओं का क्रम यथार्थ व्यावहारिक जीवन की घटनाओं के क्रम से मेल नहीं खाता। साहित्यिक कलाकृति में एक आशयगत लय होती है जिसमें आदि-मध्य-अन्त का तत्व कल्पनानिष्ठ क्रम से आवद्ध होता है। व्यावहारिक घटनाओं के समान नाटक या कहानी की घटनाएँ व्यावहारिक कार्य कारण भाव से संचलित नहीं होतीं। साहित्यिक रचना में, इसलिए घटनाओं की सीधी मालिका नहीं पाई जाती, अपितु उसमें एक आशय-प्रणीत कल्पनानिष्ठ आदि-मध्य-अन्त पूर्ण

गतिशीलता होती है । इस गत्यात्मकता के कारण साहित्यिक रचना में आशयातर्गत लयबद्धता होती है । अत प्रत्येक साहित्यिक कलाकृति भावात्मक लय से निर्मित एक केन्द्राधिष्ठित (सेन्ट्रल) चित्राकृति (पैटर्न) को जन्म देती है । इस भाव-प्रणीत चित्राकृति की प्रतीति पाठकों मे सौंदर्यानुभूति की प्रतीति कराती है । रचना के अन्तर्गत स्थित उपर्युक्त चित्राकृति का विश्लेषण सही अर्थ मे रचना के आन्तरिक शिल्प का विश्लेषण है, और यही साहित्यिक कृति के आस्वादन की आधार भूमि है । अपनी मान्यता को मराठी एव सस्कृत तथा अग्रेजी रचनाओं का आधार देकर सोदाहरण सिद्ध किया गया है ।

उपर्युक्त मान्यता हमारे सम्मुख साहित्यिक कलाकृति के विश्लेषण का वस्तुनिष्ठ आधार रखती है । इसमे कोई शक नही कि मर्ढेकर की मान्यता कृति का पाठक एव लेखक-निरपेक्ष विवेचन उपस्थित करने मे काफी हद तक सफल हुई है । यहाँ व्यक्तिनिष्ठता का आत्यंतिक दोष टल गया है और समीक्षा शास्त्र मनोविज्ञान का हिस्सा न रहकर उसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया गया है । हम उनकी मान्यता के उस पक्ष को भी ग्राह्य मान सकते हैं । जिसमें उन्होंने अभिव्यक्ति-पद्धति के महत्त्व को नकारा है । यह सही है कि कृति की श्रेष्ठता उसके उक्ति वैचित्र्य मे नहीं देखी जानी चाहिए और आलोचना शास्त्र म तन्त्रवाद की उपेक्षा करनी ही चाहिए । किन्तु अपनी मान्यता को गहराई से स्पष्ट करते समय उन्होंने जो आन्तरिक शिल्प की और आशयगत लय की बात उठाई है, उसके बारे मे हमारे मन में कुछ संदेह पैदा होने लगते हैं । मर्ढेकर न बाह्य-शिल्प तन्त्र का निरस्कार तो किया है किन्तु एक दूसरे लय-तन्त्र का पुरस्कार किया है । आशयगत लय से बद्ध चित्राकृति की व्याख्या करते हुए उन्होंने लय के कुछ गुट बनाये हैं और अपनी सौन्दर्य मीमासा को स्पष्ट किया है । सवाल यह उठाया जा सकता है कि आशयगत लय के पैटर्न की सकल्पना को वस्तुनिष्ठ आधार क्या है ? क्या लय सकल्पना अपने आप में एक अलग किस्म के तन्त्रवाद का पुरस्कार नहीं करती ? और तो और मर्ढेकर के अनुसार यदि किसी साहित्यिक कलाकृति का लय-पैटर्न निश्चित हो जाए तो कलाकार का सृजन-कर्म लय पैटर्न की निर्मिति तक ही सीमित होकर रह जायगा । जो कलाकार आशयगत केन्द्राधिष्ठित चित्राकृति पैदा करने मे सफल होगा, उसकी कलाकृति श्रेष्ठ कहलाई जायगी । अभिव्यक्ति-पद्धति को एक ओर नकारने वाले मर्ढेकर, पैटर्न के तन्त्र को स्वीकृत करते हैं जिससे फिर से एक अलग प्रकार की व्यक्तिनिष्ठता के गर्त मे वे स्वय फँसते से दिखाई देते हैं । मर्ढेकर ने कलावस्तु का विश्लेषण ससार की अन्य जड वस्तुओं के समान

व्यक्ति-निरपेक्ष रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, पर अन्ततः लयतत्व का पुरस्कार करने से उनकी मान्यता व्यक्तिगत मूल्यांकन का आश्रय लेने लगती है। इसी कारण शायद उनके लय संकल्पना के स्पष्टीकरण में गत्यात्मकता, चेतनता, अनुभव-प्रतीति इस जैसे व्यक्तिवादी शब्द वार-वार आते दिखाई देते है। अनेक उपलब्धियों के वावजूद यह मान्यता कला के सृजन-तत्व को ही नकारती सी दिखाई देती है, क्योंकि एक वार किसी रचना का निश्चित शिल्पगत आदर्श मान लिया जाय तो रचनाएँ केवल निश्चित सांचे में ढाली जाएँगी, उनका सृजन नही होगा। संक्षेप में यह मान्यता रचना की आशयगत-वस्तुनिष्ठता और प्रत्ययवादी व्यक्तिनिष्ठता इन दोनों के अनिवार्य समन्वय को स्पष्ट नही कर सकी है।[१३] स्पष्ट है कि साहित्यकृति को अन्य भौतिक सौंदर्य-वस्तु (इस्थेटिक आव्जेक्ट) की तुलना में परखना कठिन है। इस कठिनाई को कई सौंदर्यशास्त्रियों ने भी महसूस किया है। जव हम ऐसी कृतियों का, सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेपण पेश करने जाते हैं, जिनका माध्यम शव्द हैं तव हमारे सामने कई कठिनाइयां आ सकती है। चूंकि ऐसी वस्तु कोई ठोस (फिजिकल) चीज नही होती, हमें ऐसा कोई मोह नही होगा कि इस वस्तु को पढ़ते समय किस प्रकार की स्वर लहरें पैदा होती हैं कैसी लय का अनुभव होता है...... अर्थात् पढ़ने की क्रिया इसके विना सम्पन्न होगी ही नहीं, किन्तु जव कोई समालोचक साहित्यकृति के सम्वन्ध में लिखने वैठता है, तो वह स्वर लहरों का या लय का जिक्र नही करता।[१४]

प्रत्यक्ष कला वस्तु की साक्ष्य को महत्त्व देने से इस मान्यता की निश्चित रूप से कुछ विशेपताएँ स्पष्ट हुई हैं जो अपने आप में आलोचना शास्त्र के लिए उपलब्धियां सिद्ध हुई हैं। साथ साथ इस मान्यता की कुछ स्पष्ट सीमाएँ भी हैं। उपलब्धियों और सीमाओं के आधार पर कुछ निष्कर्ष इस प्रकार निकाले जा सकते हैं।

१–कला का वस्तुनिष्ठ विश्लेपण प्रस्तुत करने का प्रामाणिक प्रयत्न हुआ है अतः समीक्षाशास्त्र की स्वतन्त्र इकाई कायम रह सकी है। क्योंकि व्यक्तिनिष्ठ मान्यताओं में समीक्षाशास्त्र मनोविज्ञान का एक हिस्सा वनकर रह जाता है।

२–कलाकृति की पृथगात्मकता मान्य कर ली जाती है। जिससे कलाकृतियों का एक स्वतन्त्र गुट वनाया जा सकता है।

३–कृति की वस्तुनिष्ठ चर्चा अन्ततः प्रत्ययवादी एवं तन्त्रवादी वनकर अलग प्रकार की व्यक्तिनिष्ठता में परिणत हो जाती है।

४-कलाकृति के प्राणभूत सृजनतत्त्व के अस्तित्व को ही नकारा जाता है।
५-श्रेष्ठकृति के आशय-गत पैटर्न की निश्चिति के पश्चात् दो कृतियो के बीच तर-तम को आकना असम्भव हो जाता है और जब ऐसी जरूरत आ पड़ती है तब यह मान्यता कहीं अनुभूतिवाद का या कहीं प्रतीतिवाद का सहारा लेने लगती है और अपने द्वारा प्रतिपादित वस्तुनिष्ठता का स्वय विरोध करने लगती है।

उपर्युक्त दोनो मान्यताएँ एकान्तिक दुराग्रह के कारण साहित्य-कृति से सम्बन्धित समाध्य प्रश्नो का समुचित हल उपस्थित करने मे सम्पूर्णत सफल नही हो सकी हैं। एक ओर 'कलावस्तु' को कलाकार और पाठक से तोडकर 'वस्तु' का वस्तुगत विश्लेषण प्रस्तुत करने का आग्रह है, तो दूसरी ओर केवल पाठक के मस्तिष्क पर पूरा भरोसा किया जाकर व्यक्तिनिष्ठ विश्लेषण पर जोर दिया गया है। फलत ये दोनो मान्यतायें एकान्तिक दुराग्रह से पछाडी-सी लगती हैं। अत- कलावस्तु की सवेदनशीलता के विश्लेषण का आधार न तो पाठक की साक्ष्य म मिल सकता है, न सम्पूर्णत वस्तु की साक्ष्य मे। हमे यह मानकर ही चलना होगा कि कलाकृति का सृजन होता है, इसलिए उसका कोई निर्माता है, उसी प्रकार उसका कोई न कोई पाठक होता है। इन दोनो के बीच कलाकृति का अस्तित्व होना है। कलाकार, कृति और सहृदय ये तीनो कला-व्यापार की मूलभूत वास्तविकतायें हैं। देखना यही है कि कैसे कलाकृति का विश्लेषण अधिक स अधिक निर्वयक्तिक बने। कलाकृति की वस्तुनिष्ठता को जड एव अचल 'वस्तु' की वस्तुनिष्ठता के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, निर्वयक्तिकता की व्याख्या करते समय इसे भी नही भुलाया जा सकता। सक्षेप मे हम व्यक्तिनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के अतिवादी (इक्स्ट्रीम) 'केवल रूप' को टालकर ऐसी मान्यता का आधार ढूँढना पडेगा, जिसम दोनो मान्यताओ का समुचित समन्वय किया जा सकेगा। इस प्रकार के समन्वय को रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन इन लेखक द्वयो ने अपनी पुस्तक साहित्य सिद्धान्त मे स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। इन लेखको ने अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए, एकान्तिक मान्यताओ की स्वीकृति से निर्माण होने वाली उलझनो को सुलझाने का प्रयत्न भी किया है। रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन की मान्यता को सक्षेप मे समझने का हम प्रयत्न करेंगे।

४ पाठक और कलावस्तु की साक्ष्यों का समन्वय

लेखक द्वयो न अपनी समन्वयवादी मान्यता को खण्डन-मण्डन की शैली मे

उपस्थित किया है। व्यक्तिवादी एवं वस्तुवादी सिद्धान्तों के एक-एक पहलू को लेकर संभाव्य सीमाओं का विश्लेपण किया है। पाठक की साक्ष्य को साहित्य-कृति के विश्लेपण का मापदण्ड मानने वाली मान्यताओं का खंडन करते हुए इन लेखकों ने कहा है, 'यह बात सही है कि किसी भी कविता को व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से ही समझा जा सकता है। किन्तु यह बिल्कुल सच नहीं है कि कविता व्यक्तिगत अनुभव से भिन्न नहीं होती। चूंकि प्रत्येक कविता के अनुभव में पाठक विशेष की निजी वैयक्तिकता का आरोपण असंभव नही। उसकी अपनी शिक्षा, व्यक्तित्व, संस्कृति, धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यता या शुद्ध तकनीकी पूर्वाग्रह आदि बातों का रंग उसके अनुभव पर चढ़ सकता है। इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति यदि उसी कविता को एक से अधिक बार पढ़ता है, तो हर बार उसका अनुभव पहले की अपेक्षा भिन्न होना असम्भव नहीं है। इस प्रकार कविता के प्रत्येक पाठ में या तो कुछ बातें छूट जायेंगी या कुछ जुड़ जायेंगी ... इसका दूसरा सिरा यह होगा कि एक ही कविता के जितने पाठक होंगे, उतनी ही कवितायें होंगी, और ऐसे समय में हमें एक भयानक स्थिति का सामना करना पड़ेगा।'[१४] 'लेखक की साक्ष्य' को साहित्य, कृति के विश्लेपण का मापदण्ड मानने वाली मान्यताओं का खण्डन करते हुए इन लेखकों ने कहा है—'लेखक का अनुभव यदि कविता है तो क्या कविता को बिना पढ़े ही वह अपने अनुभव की प्रतीति हमारे लिए प्रस्तुत कर सकेगा ? अर्थात् कवि ऐसे समय कवि न होकर एक पाठक बन जायगा और फिर उन्हीं सारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा जिनका जिक्र हम पहले ही कर चुके है। यह बात बिल्कुल सही है कि किसी कलाकृति का सम्बन्ध कलाकार के चेतन और अवचेतन मन से होता है। परन्तु कलाकार की उस मानसिक स्थिति तक पहुँचने का कोई मार्ग हमारे लिए उपलब्ध नहीं है। .. सच बात तो यह है कि लेखक की हो या पाठक की हो या श्रोता की, किसी भी व्यक्ति की मनः स्थिति के माध्यम से रचना तक पहुँचना फलदायी सिद्ध नही हुआ है। इस तरीके से जितनी समस्यायें हल हो सकी हैं, शायद कही अधिक समस्यायें निर्माण हुई हैं। इसलिए कई बार समष्टिगत गवाहों का आधार लेकर समस्या को हल करने के प्रयत्न होते दिखायी देते हैं।[१५]

हमने इस अध्याय के आरम्भ में युग-बोध एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना की बात उठायी थी और कहा था कि कई बार हम साहित्यकृतियों का विश्लेपण युगबोध की गवाही देकर उपस्थित करते हैं। इस प्रकार विश्लेपण प्रस्तुत करने में हमें किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसकी जान-

कारी उपर्युक्त लेखक द्वयों ने दी है । वे कहते हैं–'यदि यह मान लिया जाय कि कलाकृति सामाजिक एव सामूहिक अनुभवो की अभिव्यक्ति होती है, तो इसके साथ कई और प्रश्न जुड जाते हैं । जैसे–किसी सामाजिक एव सामूहिक अनुभव मे अनगिनत, अप्रासगिक व्यक्तिगत अनुभव शामिल हो जाते होंगे, जिनमे अच्छे बुरे, विकृत एव विशुद्ध अनुभव भी हो सकते हैं । निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि साहित्य-कृति अपने पाठक की मन स्थिति मे एक रूप में नही होती, बल्कि पाठक की मन स्थिति को अनत इकाइयो से जरब देने पर जो कुछ परिणाम निकलेगा, वह साहित्यकृति का सभाव्य अनुभव हो सकेगा । इस मान्यता का एक और पक्ष यह भी हो सकता है कि साहित्य कृति अपने म निहित अनगिनत अनुभवो मे केवल सामान्य अनुभवो की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, इन सामान्य अनुभवो का सार्वहर (डिनामिनेशन) सबसे लघु, सबसे ओछा और सतही हो सकता है। इस प्रकार कलाकृति का समग्र अर्थ क्षीण हो सकता है ।' [११]

इस प्रकार लेखक द्वयो ने साहित्य कृति के स्वरूप को समझने की सभाव्य मान्यताओ की अनिवार्य सीमाओं का जिक्र किया है और सिद्ध किया है कि 'कृति' के स्वरूप का विश्लेषण न तो व्यक्तिगत मनोविज्ञान द्वारा सभव है, न सामाजिक मनोविज्ञान द्वारा । इन लेखको के अनुसार 'कविता एक पृथक अनुभव एव अनेक अनुभवो का कुल योग नही होती, बल्कि अनुभवो का एक क्षत शक्तियुक्त (पोटेन्शियल) कारण होती है ।' [१९] अपनी मान्यता का विस्तृत स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए साहित्य कृति क विश्लेषण का तार्किक आधार उपस्थित किया है । इनकी मान्यता को सक्षेप म यो रखा जा सकता है ।

'·सच्ची कविता अनेक आदर्शो की बनी एक सरचना होती है, अनेक पाठकों के वास्तविक (एक्च्युअल) अनुभवों मे इसका आशिक रूप ही स्पष्ट होता है। प्रत्येक अनुभव इन आदर्शों या मानको तक पहुँचने का कमोवेश सफल एव पूर्ण प्रयास मात्र हुआ करता है ।'[१८]

'-'आदर्श' शब्द का वह अर्थ हमे अभिप्रेत नहीं, जैसे क्लासिकी आदर्श, रोमानी आदर्श, राजनीतिक एव नैतिक आदर्श आदि। 'आदर्श' शब्द यहां उन 'मानकों' का पर्यायवाची शब्द है, जिन्ह किसी कलाकृति के प्रत्येक पृथक अनुभव से ग्रहण करना पडता है और जिनका समन्वित रूप ही किसी कलाकृति को उपस्थित करता है ।'

' इन आदर्शों की समानता और विषमता के आधार पर कलाकृति की विभिन्न विधाओं के स्वरूप को समझा जा सकता है ।'

'...किसी कलाकृति की एक ही आदर्श प्रणाली नही होती, वल्कि अनेक परतों से युक्त मानकों के कई स्तर होते हैं, एवं प्रत्येक स्तर में कई गौण आदर्श समुदाय होते हैं यथा,—ध्वनि का स्तर, अर्थ का स्तर, वाक्य विन्यास का स्तर, कृति की 'वस्तु' का स्तर और अंत में आध्यात्मिक गुणों का स्तर।'[१९]

' मानकों के स्तर को भाषा वैज्ञानिक प्रक्रिया के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। भाषा प्रणाली के दो स्तर होते हैं– १– व्याकरणसम्मत भाषा (लैंग्यू) २– अलग-अलग व्यक्तियों की बोलने की क्रिया (परोल) जिस प्रकार भाषा-प्रणाली रूढ़ियों और आदर्शों का व्याकरणसम्मत एक संग्रह होती है, जिसका स्वरूप व्याख्येय होता है, और उच्चारण-वैचित्र्य के बावजूद इसमें एक आधारभूत संगति और एकरूपता देखी जा सकती है। इसी प्रकार किसी कलाकृति का स्वरूप भाषा-प्रणाली के समान होता है। अनुभव वैचित्र्य के बावजूद भी हम यह नहीं कह सकते कि हम 'कलावस्तु' को नहीं पहचान रहे हैं। प्रत्येक वस्तु में जिस प्रकार एक प्रकार की नियत संरचना (स्ट्रक्चर आफ डिटरमिनेशन) का भाव होता है, जिसके संवेदन में हम केवल व्यक्तिनिष्ठता एवं आत्मनिष्ठता का वोध ग्रहण नहीं करते, बल्कि कुछ ऐसे वस्तुगत आदर्शों एवं मानकों का प्रत्यात्मक अनुभव ग्रहण करते हैं जो बहिगत (वस्तुगत) वास्तविकता का हम पर आरोपण करते हैं। बिल्कुल इसी तरह प्रत्येक कलाकृति की वस्तुगत संरचना का हमें एहसास होता है।'[२०]

' कलाकृति की संरचना और अन्य जड़ वस्तु की संरचना में एक मूलभूत भेद होता है। साहित्यक कलाकृति का प्रत्यय किसी त्रिकोण या संख्या या किसी रंग (लालिमा) के प्रत्ययात्मक अनुभूति से भिन्न प्रकार का होता है। किसी स्थिर 'वस्तु' के प्रत्यय में और साहित्यकृति के प्रत्यय में अन्तर यह है कि प्रथमतः कोई साहित्यिक कलाकृति समय प्रवाह के एक खास बिन्दु पर रची जाती है। दूसरे, इसमें परिवर्तन भी हो सकता है और यह पूरी तरह नष्ट भी हो सकती है। इस प्रकार इसका स्वरूप भाषा–प्रणाली से मेल खाता है।'[२१]

' जैसे संख्याएं या मानक, चाहे हम गढ़ें या नहीं, वे जो कुछ हैं–वही रहते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि गणना हम करते हैं, पढ़ते हम हैं, लेकिन संख्या की गणना या किसी मानक की स्वीकृति संख्या या मानक नहीं है। इसी प्रकार कोई कलाकृति न तो एक आनुभाविक तथ्य होती है या न तो वह किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की मनोदशा है और न वह कोई प्रत्ययात्मक अपरिवर्तनीय वस्तु। हां, कलाकृति अनुभव का विषय बन सकती है, यह सही है कि इसे व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से ही समझा जा सकता

है । किन्तु वह किसी अनुभव से अभिन्न नहीं होती ।'[२२]

' इसमे 'जीवन' जैसा कुछ होता है । इसकी उत्पत्ति समय प्रवाह के एक खास बिन्दु पर होती है । इतिहास के दौरान इसमे परिवर्तन आते रहते हैं और इसकी मृत्यु भी हो सकती है । कोई कलाकृति इस अर्थ म 'कलातीत' होती है कि यदि यह सुरक्षित रहे तो अपने सृजन के समय से ही इसकी सरचना मे कुछ ऐसी मूलभूत बातें होती हैं, जिनस इसका अस्तित्व वही रहता है, लेकिन साथ ही यह ऐतिहासिक' (परिवर्द्धमान) भी होती है। ऐतिहासिक विकास के दौरान आलोचको और पाठको के अनगिनत अनुभवो और मूल्यों को समेटते हुए बनती-बिगडती या तो विकसित होती है या नष्ट हो जाती है ।'

' साहित्य-कृति की 'सरचना' उसका वह वस्तुनिष्ठ बुनियादी रूप है, जो पूरी कालावधि मे अपरिवर्तित रहता है, किन्तु फिर भी यह सरचना गतिशील होती है । सारे कालक्रम में पाठको-आलोचको और अन्य कलाकारो के मानस से गुजरती हुई परिवर्तित होती रहती है ।'[२३]

उपर्युक्त स्पष्टीकरण के आधार पर रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन द्वारा प्रस्तुत मान्यता की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हो सकती हैं ।

१-कलाकृति मानकों की (आदर्शों की) बनी हुई एक सरचना होती है ।

२-इस सरचना के अन्तर्गत मानकों के (नार्म्स) कई स्तर होते हैं, जिनका स्वरूप वस्तुगत होकर भी व्यक्ति-सापेक्ष होता है । व्याकरण सम्मत भाषा और उच्चारण प्रक्रिया में जो भेद होता है, बिल्कुल इसी प्रकार का भेद साहित्यकृति की वस्तुनिष्ठता में और उसकी प्रतीत में होता है ।

३-साहित्यिक कलाकृति की प्रतीति किसी स्थिर वस्तु की प्रतीति से भिन्न प्रकार की होती है । साहित्यिक कृति जिस प्रकार समय प्रवाह के किसी खास बिन्दु पर रची जाती है, जिसमें परिवर्तन होता है और जो नष्ट भी हो सकती है, स्थिर 'वस्तु' इस प्रक्रिया में से नहीं गुजरती ।

४-साहित्यिक कलाकृति न तो आनुभविक तथ्य होती है, न व्यक्ति या व्यक्ति समूह (समाज) की मानसिक घटना, और न कोई प्रत्ययात्मक जड वस्तु ।

५-साहित्यिक कृति को व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से ही समझा जा सकता है, परन्तु वह किसी अनुभव से बिल्कुल भिन्न होती है ।

६-साहित्यिक कलाकृति में 'जीवन' जैसा कुछ होता है । इसलिए इसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन एव समाप्ति जैसे जीवन-सादृश्य तत्व विद्यमान होते हैं ।

७-साहित्यिक कलाकृति की 'संरचना' वस्तुनिष्ठता को सुरक्षित रखते हुए भी गतिशील बनी रहती है।

स्पष्ट है, उपर्युक्त विशेषताएँ हमारे सम्मुख साहित्यिक कला-कृति की वस्तुगत-गत्यात्मकता को प्रस्तुत करती हैं। साहित्यिक परम्परा का विकास इसी वस्तुनिष्ठ गतिशीलता के कारण ही सम्भव है। साहित्य की वस्तुनिष्ठता एक ऐसी व्यवस्था (आर्डर) की वस्तुनिष्ठता होती है जिसमें प्रत्येक नवीनता को समाविष्ट करने की क्षमता होती है। यह वस्तुनिष्ठता जीवन-सादृश्य लचीलेपन को बनाये रखती है। जब किसी युग विशेष की मूल्य-संकल्पनाएँ परिवर्तित होने लगती हैं तब पारस्परिक वस्तुनिष्ठता परिवर्तन को स्वीकृति कर लेती है, किन्तु स्वयं नष्ट नहीं होती। टी० एम० एलियट ने परम्परा और नवीनता के सम्बन्धों को इसी प्रक्रिया में खोजा है।[२४] कला-कृति का वस्तुगत सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण उपस्थित करते समय जब हम साहित्यकृति की ओर मुड़ते हैं तब साहित्यकृति की विशिष्टता और भी उभरने लगती है। कई सौंदर्यशास्त्रियों ने साहित्यिक कलाकृति की विशिष्टता उसकी 'वस्तुगत-व्यक्तिनिष्ठता' में ही देखी है। साहित्य-कृति का विश्लेपण केवल वस्तुवादी भूमिका या केवल व्यक्तिवादी भूमिका के आधार पर सदैव अधूरा और अपूर्ण ही रहता है, इस सत्य का अनुभव हमें होता है। अतः दोनों भूमिकाओं का समन्वय अनिवार्य हो जाता है। 'हम किसी साहित्यिक कला वस्तु का स्वरूप उसे देखकर, पढ़कर या सुनकर आदि संवेदनात्मक प्रक्रियाओं से जानते हैं तो उस 'वस्तु' की निर्मिति का उद्देश्य चरित्रात्मक एवं ऐतिहासिक जानकारी से प्राप्त करते हैं। प्रत्यक्ष पढ़कर या अनुभव लेकर किसी कृति को जानना, यानी कलाकार के उद्देश्य की अप्रत्यक्ष गवाह को जानना है। तो कलाकार के उद्देश्यों को जानना यानी कला-कृति की अप्रत्यक्ष गवाह को जानना है। अतः कलाकृति के संपर्क में हमें उसकी आंतर बाह्य गवाहों से संपर्क स्थापित करना पड़ता है। प्रत्यक्ष 'कृति' का अवलोकन आंतरिक गवाह स्पष्ट करता है, तो सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का अवलोकन बाह्य गवाह स्पष्ट करता है।[२५]

उपर्युक्त समन्वयवादी मान्यताएं हमारे सम्मुख साहित्यिक कला कृति का 'वस्तुनिष्ठ व्यक्तिगत' रूप रखती हैं। वैसे, वस्तुनिष्ठता और व्यक्तिनिष्ठता अपने 'केवल' (अब्सोल्यूट) में परस्पर समन्वय स्थापित नहीं कर सकती, इसीलिए शायद, इस मान्यता में आत्मनिष्ठा और वस्तुनिष्ठा के केवल-रूपी अतिवाद को टाला गया है, और दोनों का संश्लिष्ट रूप उपस्थित किया गया

है, वरन् कलाकृति को वस्तुगत मानको (नार्म्स) की सरचना सिद्ध करना असम्भव हो जाता है। मानक अपने आप मे सवेद्य नही हो सकते, वे केवल *कलावस्तु के विविध अगो का आदर्श-सम्बन्ध (आयडिल) सूचित करते हैं।* 'वस्तु' के विश्लेषण से जो निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं, वे अपने आप मे 'वस्तु' के भग नहीं हो सकते। अत साहित्यकृति स्वय मानको की सरचना नहीं हो सकती, बल्कि कुछ ऐसे अगो की सरचना होती है, जिनके विश्लेषण से कुछ मानक हाथ आ सकते हैं। मानको का अस्तित्व किस हद तक व्यक्तिनिष्ठ है *या वस्तुनिष्ठ है, इसका स्पष्टीकरण समन्वयवादी मान्यताए नहीं देतीं।* रेनेवेलेक-वारेन-प्रणीत मान्यता मे मानको का विश्लेषण कही समष्टिगत *सिद्धान्तों का आधार लेकर हुआ है, तो कहीं व्यष्टिवादी सिद्धान्तो का आधार* लेकर हुआ है। फिर भी समन्वयवादी मान्यता के महत्त्व को कदापि नकारा नहीं जा सकता। इस मान्यता के कारण साहित्यिक कलाकृति के विश्लेषण से सम्बन्धित कई समस्याओ का तर्कसगत हल उपस्थित हो सका है। यह मान्यता निरी व्यक्तिवादी एव निरी वस्तुवादी मान्यता के एकातिक दुराग्रह को स्पष्टतः अस्वीकृत कर देती है, और साहित्यिक-कलाकृति के सम्बन्ध म उभरने वाली अनिवार्य विसगत वास्तविकताओ को स्वीकृत कर लेती है। समन्वयवादियो ने *वस्तुनिष्ठा और व्यक्तिनिष्ठा को टूटने तक नही खीचा है। 'कलावस्तु'* को ससार की अन्य वस्तुओ से अलग करके उसकी पृथक सत्ता को स्वीकृत कर लिया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि, इस मान्यता के अनुसार, साहित्यकृति का प्रत्येक आकलन 'कृति' के प्रत्यक्ष बोध के बिना सभवनीय नहीं—इस तथ्य को स्वीकृत करने पर ही साहित्यकृति ससार की अन्य वस्तुओ से भिन्न मानी जा सकती है। इसी तथ्य के कारण साहित्य-कृति किसी भौतिक वस्तु, अरूप-सकल्पना या प्रत्ययात्मक मनोदशा के समकक्ष नही बिठाई जा सकती, इसलिए तो किसी भी युग मे साहित्य-कृति अपनी वस्तुनिष्ठता (आब्जेक्टिविटी) की सुरक्षा करती हुई गतिशील एव परिवर्तनशील बनी रहती है।

उपर्युक्त तीनो मान्यताओं की चर्चा से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

निष्कर्ष

१—साहित्यिक कलाकृति का व्यक्तिनिष्ठ विश्लेषण अपने आप में अधूरा एव सदोष हो सकता है, इस विश्लेषण के कारण *साहित्य-समीक्षा* मनोविज्ञान का हिस्सा बनकर रह जाती है।

२–साहित्यिक कलाकृति का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण भी अपने आप में अधूरा एवं सदोष हो सकता है, इस विश्लेषण के कारण साहित्यकृति की 'सर्जकता' का अस्तित्व ही लगभग समाप्त होता-सा दिखाई देता है।

३–साहित्यिक कलाकृति का समन्वयवादी विश्लेषण कला-व्यापार से संबंधित परस्पर विसंगत वास्तविकताओं को स्वीकृत कर लेता है।

४–समन्वयवादी मान्यता कला-वस्तु को आस्वादक एवं कलाकार-निरपेक्ष वस्तु के रूप में ग्रहण करती है। कलावस्तु के विश्लेपण से सम्बन्धित मत-भिन्नता पायी जा सकती हैं, अतः प्रत्येक युग एवं व्यक्ति के साथ मूल्य-निर्धारण की संकल्पनायें बदल सकती हैं।

५–कलाकृति को संसार की अन्य वस्तुओं के समकक्ष नही बिठाया जा सकता है। उसकी अपनी स्वतन्त्र एवं पृथक सत्ता होती है। इसीलिए साहित्य-कृति न तो केवल इन्द्रिय-गम्य वस्तु है न मनोदशा का परिणाम और न अपरिवर्तनीय मानकों की संरचना।

६–साहित्य कलाकृति के प्रत्येक आकलन में प्रत्यक्ष अवबोधन की प्रक्रिया आवश्यक है।

समन्वयवादी मान्यता की उपलब्धियां और व्यक्तिवादी मान्यताओं की सीमायें एक साथ रखकर साहित्यकृति के विश्लेपण से संबंधित निष्कर्ष निकाले गए हैं। साहित्यकृति की संवेदनशीलता के विश्लेपण का आधार उपर्युक्त निष्कर्षों से प्राप्त दिशाओं में ढूँढा जा सकता है। इन्ही निष्कर्षों को ध्यान में रखकर साहित्यकृति की संवेदनशीलता को समझने का हम प्रयत्न करेंगे।

अब हमारे सम्मुख प्रश्न यह है कि साहित्य-कृति की वस्तुनिष्ठ-गत्यात्मकता किस प्रक्रिया का फल है ? साहित्यकृति जो अपरिवर्तनीय होकर भी परिवर्तनशील क्योंकर होती है ? संक्षेप में कला-सृजन की प्रक्रिया कैसे सम्पन्न होती है? जब तक हम सृजन-प्रक्रिया को समझ नही पायेंगे तब तक साहित्य-कृति के वस्तुनिष्ठ-गतिशील रूप की विशिष्टता को समझ नहीं सकेंगे। अतः संवेदनशीलता के विश्लेपण का आधार ढूंढ़ने के बाद कला-निर्माण की प्रक्रिया को जानना आवश्यक हो जाता है। कला-सृजन की प्रक्रिया का विश्लेपण मूलतः दो प्रद्धतियों से किया जाता है। १–मनोवैज्ञानिक पद्धति और २–कला-संगठन के वस्तुगत विश्लेपण की पद्धति। पहली पद्धति कला-निर्माता के मानस का विश्लेपण उपस्थित कर सृजन प्रक्रिया को स्पष्ट करती है, तो दूसरी पद्धति कला-संरचना का आंतर वाह्य विश्लेपण उपस्थित कर सृजन-प्रक्रिया को स्पष्ट

करती है । प्रथमत हम मनोवैज्ञानिक पद्धति को समझने की कोशिश करेंगे ।

आ. कला सृजन-प्रक्रिया : मनोवैज्ञानिक आधार

इसमे कोई शक नही कि 'कला' का सीधा सम्बन्ध कलाकार के मानस से होता है । सृजन-कर्म से पूर्व कलाकार के मन म अनेक सवेदनाओं, भावनाओं और विचारों के सघर्षात्मक स्तर निर्माण होते हैं । कलाकार यहीं से कला-निर्माण की सामग्री चुनता है। जिस कलाकार-व्यक्ति के मन मे कला निर्माण की उत्पन्न होती है, उस मन का स्वरूप क्या हो सकता है ? उसके मानस का सगठन अन्य सामान्य मनुष्यो के मानसिक संगठन की अपेक्षा क्योंकर विशिष्ट होता है । क्या कारण है कि विशिष्ट व्यक्ति ही कलाकार का रुतबा हासिल कर सकता है सब नहीं ? इन जैसे कई प्रश्नो के उत्तर कलाकार के मानस का विश्लेषण करने पर ही प्राप्त हो सकते हैं । कला-सृजन प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार ढूढने वाले तत्त्ववेत्ताओ ने इन प्रश्नों के उत्तर दिए हैं । यहाँ हम, पहले ही यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सृजन प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष अपने आप में अधूरे हो सकते हैं । कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति का मानस ऐसी कोई जडवस्तु नही है कि जिसे मनोवैज्ञानिक तजरुबेखाने मे रखकर विश्लेषित किया जा सके । साथ-साथ हम यह भी स्पष्ट देना चाहते हैं कि कलाकार व मानस का विश्लेषण साहित्यिक आलोचना से सीधे सम्बन्ध नही रखता किन्तु ऐसा विश्लेषण सृजन की प्रक्रिया को समझने में एवं कलाकार की सवेदनशीलता को सही रूप मे आकने क लिए सहायक जरूर सिद्ध हो सकता है । अत इस सम्बन्ध म हम कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यताओं का जिक्र करना चाहेंगे, जिनमे फ्रायड-प्रणीत मान्यता को प्राथमिकता दी जानी चाहिए ।

१. डा० सिगमड फ्रायड-प्रणीत सिद्धान्त

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे डा० सिगमड फ्रायड-प्रणीत सिद्धान्तों का प्रसार हुआ और साहित्यालोचन मे एक प्रकार का नया आन्दोलन आरम्भ हुआ । आलोचनाशास्त्र मे अब ऊटपटाग और स्थूल सिद्धांतों का लोप होने लगा । हमारी आलोचना द्वारा प्रस्तुत किए गए कई अर्ध-सत्य सिद्धान्त नए तर्कसगत एव वैज्ञानिक आधार लेकर उपस्थित होने लगे । फ्रायड के सिद्धांतों मे, वैसे, कलाकार के मानस का प्रत्यक्ष विश्लेषण उपस्थित नही हुआ है । फ्रायड ने अपने स्वप्न सिद्धान्त का विश्लेषण करते समय स्वप्न-जगत और साहित्य-जगत की समानताओं को स्पष्ट किया है । दोनो मे पर्याप्त समानता को देखने के पश्चात् अपने व्याख्यानो मे, फ्रायड ने स्वप्न-चर्चा के साथ कवि-

चर्चा भी उपस्थित की है। जिस प्रकार स्वप्न की रचना प्रतीकों द्वारा होती है, और प्रतीको के विश्लेषण से स्वप्न-हेतु जाना जा सकता है, उसी प्रकार काव्य की रचना भी प्रतीकों द्वारा निर्मित रचना होती है, अतः प्रतीकों के विश्लेषण से काव्य-हेतु स्पष्ट किया जा सकता है। स्वप्न और कविता के बीच इस समान धर्मिता की विस्तार से चर्चा की गई है। स्पष्ट है स्वप्न-सिद्धान्त की चर्चा का केन्द्र विन्दु व्यक्ति का मन ही है। मनुष्य का मानसिक विकास जिन स्तरों से होकर गुजरता है उनका विश्लेषण 'स्वप्न-स्वरूप' को समझने के लिए जरूरी हो जाता है। अतः फ्रायड ने मनुष्य की शिशुअवस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक की मनोदशाओं का विश्लेषण उपस्थित किया है और स्वप्न-निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। संक्षेप में फ्रायड का सिद्धान्त इस प्रकार रखा जा सकता है।

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत स्वप्न-सिद्धान्त मूलतः दिवास्वप्नों की चर्चा तक ही सीमित है। दिवास्वप्नों का निर्माण कैसे होता है इसे समझने के लिए उसने मनुष्य की अवस्थाओं का विश्लेषण किया है। वाल्यावस्था में मनुष्य कैसे अपनी 'दुनिया' स्वयं निर्माण करता है और उसमें किस प्रकार खो जाता है इसका ब्यौरा देते हुए फ्रायड ने स्पष्ट किया है कि वालक स्वनिर्मित छोटी सी दुनिया में पूर्णतः खो जाता है। खेलते समय वस्तुओं की पुनर्रचना करता है, नव-रचना को वनाता है, फिर से विगाड़ता है और पुनः नव–निर्माण करता है। वह अपने इस खेल में इस प्रकार विलीन हो जाता है कि यथार्थ जगत् से लगभग, उसका नाता टूट जाता है। प्रत्यक्ष यथार्थ के दुःखों को भुलाने के लिए ही वह अपनी कल्पना की रंगीन दुनिया में स्वयं को धकेल देता है। वह यथार्थ की दुखदायक भावनाओं को कल्पना की दुनिया में नया रूप देता है ताकि प्रत्यक्ष यथार्थ का दुख-वोध आनन्द-वोध में रूपांतरित हो सके। फ्रायड के अनुसार, 'कवि' और शिशु में पर्याप्त समानता होती है। कवि भी यथार्थ जीवन की व्यथाओं को, कल्पनाजनित दुनिया में नया रूप देकर अभिव्यक्त करता है ताकि प्रत्यक्ष जगत् का दुःख उसके लिए सुसह्य हो सके।

शिशु अवस्था को लांघकर मनुष्य जैसे-जैसे वड़ा होने लगता है वैसे यथार्थ जीवन के दुखवोध को खेलों की अपेक्षा दिवा-स्वप्नों में रूपांतरित करके आनन्द-दायक एवं सुखदायक वनाने लगता है; इस प्रकार उसकी वचपन की अतृप्त वासनाएँ दिवास्वप्नों के द्वारा तृप्त होने लगती हैं। प्रमुखतः ये वासनाएँ यौन और अन्य आकांक्षाओं से सम्वन्धित होती हैं। इस प्रकार दिवास्वप्नों में अतीत,

वर्तमान और भविष्य एक साथ जुडे हुए होते हैं। वर्तमान की इच्छाएँ पूर्व स्मृतियों के साथ जुडकर अतीत से नाता जोडती हैं, तो इच्छापूर्ति के लिए भविष्य का निर्माण भी करती हैं। यहाँ भी काव्य और 'दिवास्वप्न' मे पर्याप्त *साम्य देखा गया है। फ्रायड का अनुसार, कवि की विशिष्ट अनुभूति उसकी कई* पूर्वस्मृतियो को जागृत करती है जिनम उसकी अतृप्त लिप्साएँ भी जुडी हुई होती हैं। इन अतृप्त लिप्साओ की पूर्ति के हेतु वह काव्य का सृजन करता है। यहाँ फ्रायड ने एक सवाल उठाया है कि यदि दिवास्वप्नो द्वारा अतृप्त इच्छाएँ तृप्त हो सक्ती हैं तो कविता-निर्मित की जरूरत क्यो महसूस होती है ? उसने इस *प्रश्न का स्वय उत्तर दिया है। उसके अनुसार,* दिवास्वप्न एक ऐसी *निजी* बात होती है जिसे किसी के सम्मुख व्यक्त करना सुनने वालो के द्वेष का भाजन बनना होता है। किन्तु कविता की आड मे व्यक्त दिवास्वप्नो के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही होती। उलटे, कविता को लोग बडे चाव से पढते हैं। लोगो का कविता को चाव से पढ़ने का कारण बताते हुए फ्रायड ने कहा है कि कविता एक ऐसे शिल्प का आश्रय लेती है जिसम दिवास्वप्नो का मूलरूप और उसकी व्यक्तिगत गोपनीयता एक हद तक लुप्त हो जाती है। कविता इसीलिए सार्वजनीन बन जाती है। फ्रायड न जिस प्रकार कविता निर्माण' को कवि की अतृप्त इच्छाओ की पूर्ति का साधन माना है, वैसे ही पाठको का कविता पढना *उनकी (पाठको की) अतृप्त इच्छाओ की पूर्ति का साधन माना है।*[११]

फ्रायड क स्वप्न-सिद्धान्त पर चर्चा उपस्थित करने से पहले इस सम्बन्ध मे दूसरी एक महत्त्वपूर्ण मान्यता का स्पष्टीकरण आवश्यक है। फ्रायड के बाद स्वप्न-विश्लेषण को लेकर बडी गम्भीर चर्चाएँ उपस्थित हुई। फ्रायड ने जहाँ काव्य-व्यापार को केवल दिवास्वप्नो तक ही सीमित कर दिया था, वहाँ उसके बाद के मनोवैज्ञानिको न काव्य व्यापार को 'स्वप्नो' (निद्रा स्वप्न) के साथ जोडा और कला-निर्मित की प्रक्रिया को स्पष्ट किया। इन मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि दिवा स्वाप्नो के विश्लेषण मे केवल उन्हीं कलाओ को शामिल किया जा सकता है जिनका हेतु किसी रोमानियत को प्रकट करना होता है, और जो केवल *मन-रजन के हेतु निर्माण की जाती हैं। गम्भीर कलाओ के लिए* दिवा-स्वप्न-विश्लेषण अधूरा है। चूँकि दिवास्वप्नों की अपेक्षा स्वप्न अधिक सश्लिष्ट और प्रतीकात्मक एव बिम्बात्मक होते हैं, समग्र रूप से कला-निर्मित-प्रक्रिया को स्वप्न-विश्लेषण से समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे एफ० सी० प्रिस्काट की मान्यता महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। प्रिस्काट की मान्यता को हम समझने का प्रयत्न करेंगे।

२. एफ० सी० प्रिस्काट की मान्यता

जिस प्रकार स्वप्न की प्रेरणा-शक्ति व्यक्ति के अवचेतन स्तर पर निर्माण होती है, और प्रतीकों के रूप में 'स्वप्न' में व्यक्त होती है उसी प्रकार कवि-मानस के अवचेतन स्तर पर निर्मित सुप्त इच्छाएँ 'कविता' में प्रतीकात्मक रूप धारण करके अभिव्यक्त होती हैं। अतः स्वप्न और कविता का प्रयोजन व्यक्ति की अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति में खोजा जा सकता है। यथार्थ जीवन की व्यथाओं से छुटकारा पाने के लिए व्यावहारिक जीवन से पलायन करके कल्पना-प्रसूत विश्व में कवि और स्वप्न-दृष्टा प्रत्यक्ष व्यथा-बोध को नये आदर्श-आनन्द बोध (आयडिल) में रूपांतरित करते है।

इस मान्यता के अनुसार, स्वप्न और कविता में एक और महत्वपूर्ण समानता पाई जाती है। जिस प्रकार स्वप्न की भाषा प्रतीकात्मक होती है, कविता की भाषा भी प्रतीकों के आवरण में व्यंजित होती है। मनुष्य के अवचेतन स्तर पर निर्मित इच्छाएँ जब चेतन स्तर पर आना चाहती हैं तब उन्हें चेतन मन की नियंत्रक–शक्ति (संसार) रोक देती है। इस रुकावट को टालने के लिए अव-चेतन-जन्य इच्छाएँ भेष बदल कर (स्वप्न-रूप) प्रकट होती हैं–अर्थात् उनका मूल रूप इस वेशांतरण में नष्ट नहीं होता। इस प्रकार अरूप इच्छाएँ मूर्तरूप धारण कर लेती हैं। कला-सृजन प्रक्रिया में इस बात को यों समझा जा सकता है। कवि की अतृप्त इच्छाएँ उसके अवचेतन में पैठकर प्रेरणाओं का रूप धारण करती हैं। अवचेतन की इन प्रेरणाओं को प्रकट करने के लिए कवि छंद, लय एवं बिम्बों का सहारा लेकर भेष बदलकर–चेतन की नियंत्रक शक्ति को टालता हुआ, 'कविता' द्वारा अभिव्यक्त करता है। अतः कविता और स्वप्न की मूल शक्ति बिम्ब निर्माण की ऐसी कल्पना-जन्य शक्ति है जो बाह्य जगत् की संवेदनाओं को बिम्बों में ढालकर अभिव्यंजित करती है। इसके अतिरिक्त स्वप्न और काव्य मनुष्य जीवन की गतिशीलता एवं सुरक्षा की भावना को बचाये और बनाये रखने का कार्य करते हैं।[२५]

स्वप्न और कला में सहधर्मिता का प्रतिपादन करनेवाली उपर्युक्त मनो-वैज्ञानिक मान्यताएँ कई तरह से अपूर्ण और असंगत लगती हैं। इन मान्यताओं के अनुसार स्वप्न और कविता की प्रेरणाओं को समकक्ष माना गया है, अतः काव्य-हेतु (कला हेतु) कलाकार की इच्छा-तृप्ति तक ही सीमित रह जाता है। यहाँ एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि स्वप्न द्वारा 'इच्छा-पूर्ति' की जा सकती तो फिर कविता-निर्माण की अतिरिक्त गतिविधि का प्रयोजन क्या है ? और क्यों पाठक अपनी इच्छापूर्ति के लिए केवल सपने देखने के बजाय कविता

की ओर आकृष्ट होते हैं ? इन प्रश्नों का कोई सतोषजनक उत्तर ये मान्यताएँ नही देती। और तो और जो व्यक्ति स्वप्न देखता है (लगभग सभी देखते हैं) वह 'कवि' होगा ही ऐसा कहना या मानना कहाँ तक सम्भव है ? सपने देखने वालों की अपेक्षा कलाकारों की सख्या बहुत कम होती है। ससार में सच्चे कलाकार इने गिने होते हैं, सपने सब देखते हैं। इसी प्रकार कविता पढने वाले व्यक्तियो की अपेक्षा स्वप्न देखने वालो की सख्या बहुत अधिक होती है। स्पष्ट है, काव्य निर्मिति तथा काव्यास्वादन सबके बस की बात नही है। सच बात तो यह है कि ये सिद्धान्त, स्वप्न-सिद्धान्त और काव्य-सिद्धान्तों की स्वतन्त्र रूप से चर्चाएँ उपस्थित नहीं करते। कला का सीधा सम्बन्ध स्वप्न प्रक्रिया के साथ जोड देने के कारण कला-सृजन की स्वतन्त्र प्रक्रिया का महत्त्व ही नष्ट हो गया है। फ्रायड के सम्मुख शायद यौन विषयक साहित्य अधिक था, इसलिए उसकी मान्यता सम्पूर्ण साहित्य–प्रक्रिया का विश्लेषण कर नही सकी।

इन सिद्धान्तो के अनुसार साहित्य एव कलाएँ इच्छा तृप्ति का साधन-मात्र बनकर रह जाती हैं। कलाओ का कोई स्वतन्त्र प्रयोजन ही नही रह पाता। और जब कलाओ का हेतु इच्छा तृप्ति तक ही सीमित हो जाता है, तब कलाओ की श्रेष्ठता-कनिष्ठता का मापदण्ड 'तृप्ति' की मात्रा के अनुपात मे घटने बढने लगता है। जो साहित्य अधिकाधिक इच्छाओ की तृप्ति करेगा वह इसी अनुपात मे अधिक श्रेष्ठ होगा। फल यह होगा कि व्यक्ति-व्यक्ति के साथ साहित्य की श्रेष्ठता कनिष्ठता बदलती जाएगी, जिससे कलाओ की पृथगात्मक सत्ता ही नष्ट हो जाएगी।

इन सिद्धान्तो मे, शिल्प–प्रक्रिया के सम्बन्ध मे जो मत दिया गया है वह भी बहुत कुछ बचकाना सा लगता है। इन मनोवैज्ञानिको ने कला के अनुभूति पक्ष को और शिल्प–तन्त्र को पूरी तरह एक दूसरे से अलग कर दिया है। उनके अनुसार, शिल्प का प्रयोग स्वप्नों के अन्तर्गत व्यक्ति के निजी हिस्से को छुपाने के लिए ही किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि शिल्प का प्रयोग केवल आनन्द निर्मिति एव आनन्द प्राप्ति के लिए साधनाभूत बन जाता है। शिल्प, कवि की एक ऐसी तरकीब बन जाती है जिसके कारण वह अपनी अनुभूति का वेशान्तर उपस्थित कर सके। स्पष्ट है, इस मान्यता मे आशय और अभिव्यक्ति का 'अद्वैत' नही माना गया है।

सही तो यह है कि इन मनोवैज्ञानिको ने स्वप्न और कविता के ऊपरी साम्य पर अपना लक्ष्य केन्द्रित किया है और इस समानता को इतना खीचा है कि

जैसे स्वप्न और कविता की सृजन–प्रक्रिया एक ही हो । यह सही है कि स्वप्न और कविता की रचना बिम्बों और प्रतीकों द्वारा होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों की बिम्बात्मकता एवं भावात्मकता में स्वरूप-भिन्नता होती ही नही । अतः ये सिद्धान्त कलाकार के मानस और सामान्य व्यक्ति के मानस में कोई गुणात्मक भेद करते ही नही । इनके मतानुसार काव्य निर्मिति एक स्वयंचलित प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ भी नही होती, जो सही नहीं हो सकती । इसके अलावा ये सिद्धान्त केवल शिल्प को ही साधन-रूप नहीं मानते अपितु सम्पूर्ण 'कविता' को ही साधन रूप मानते है । कविता का निर्माण, जब इच्छापूर्ति के साधन के रूप में किया जायगा तब कविता अपने आप में एक तरकीब एवं ट्रिक बनकर रह जायगी । जब कविता अपने आप में किसी उद्देश्य का मात्र साधन है, तो कवि जीवन से इसका सम्बन्ध नहीं के बराबर ही होगा । यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता ।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की कुछ उपलब्धियाँ जरूर हैं । इनका जिक्र करने से पहले कला-मृजन से सम्बन्धित और एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को हमें समझना है । यह सिद्धान्त कला–प्रक्रिया का सम्बन्ध स्वप्न से न जोड़-कर सामाजिक चेतना से जोड़ता है । फ्रायड-प्रणीत सिद्धान्तों के बाद मनो-वैज्ञानिक सिद्धान्तों को व्यापक आधार देने का महत्त्वपूर्ण कार्य कार्ल गुस्टांव युंग ने किया, और कला-मृजन प्रक्रिया को नए रूप मे उपस्थित किया है । युंग के सिद्धान्त को संक्षेप में समझने का प्रयत्न करेंगे ।

आ. कार्ल गुस्टांव युंग-प्रणीत सिद्धान्त

युंग के अनुसार कलाओं का प्रयोजन केवल अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति तक ही सीमित नही है, अपितु व्यापक सामाजिक चेतना के विकास में कलाओं का अपना महत्त्वपूर्ण योगदान होता है । युंग ने कलाओं के सामाजिक प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिए 'सामूहिक अवचेतन' की संकल्पना (कलेक्टिव्ह अनकांशस) का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है । फ्रायड-प्रणीत सिद्धान्तों में जहाँ कला-कार की बिम्ब निर्माण की कल्पना-शक्ति को संकुचित महत्त्व प्राप्त हुआ है, वहाँ युंग कलाकार के व्यक्तित्व और तज्जन्य कल्पना शक्ति को अतीव महत्त्व देता दिखाई देता है । 'स्वप्न' की अपेक्षा कला में बहुत कुछ अधिक होता है जो उसे व्यापक सामूहिक चेतना के साथ जोड़ देता है । युंग के अनुसार कवि-मानस की प्रेरणाएँ मनुष्य जीवन की उन आदिकालीन प्रेरणाओं के साथ जुड़ी हुई होती हैं जिन्हें मनुष्य का मानस मनुष्य जाति के जन्म से आज तक सुरक्षित

रख सका है। वस्तुत यह आदिम प्रेरणाएँ कभी नष्ट होती ही नहीं। क्योंकि सामाजिक आदर्श, सभ्यता, संस्कृति आदि की शक्ति भी इन्हे नष्ट नही कर सकती। समाज के बनने से पहले मनुष्य-जीवन के सारे कार्यव्यापार प्रवृत्यात्मक थे। आदिम मनुष्य केवल मूल प्रवृत्तियो से संचालित जीवन (पाशविक जीवन) व्यतीत करता था। जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता गया उसकी मूल प्रवृत्तियाँ दमित होती गई, पर नष्ट नही हुई। इस प्रकार की सारी आदिम प्रवृत्तियाँ मनुष्य जीवन के मूल मे, सामाजिक चेतना के निम्नतम तह मे सुरक्षित हैं। इनका रूप समष्टिगत है। आदिम प्रेरणाओ के इस समष्टिगत रूप को युग 'सामूहिक अवचेतन' कहता है। कलाकार की प्रेरणा का स्रोत इसी 'सामूहिक अवचेतन' मे है। यही से कलाकार प्रेरणा प्राप्त करता है। चूंकि 'सामूहिक अवचेतन' मनुष्य-मानस की अतरतम गहराइयों से सम्बन्ध रखता है, कलाकार के अनुभव साधारण सवेद्य अनुभवो की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल एव दुर्बोध होते हैं। मिथको मे इस आदिम भाव बोध को देखा जा सकता है। अत इस प्रकार के जटिल भावबोध को अभिव्यक्त करने के लिए परस्पर असगत बिम्बसृष्टि की आवश्यकता होती है। सक्षेप मे कलाएँ आदिम अवचेतन प्रवाह से प्रेरणा प्राप्त कर जटिल बिम्बो द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। कलाओ के सामाजिक प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए युग ने कहा है कि जब किसी युग-विशेष की चेतना सामाजिक सस्थाओ के दबाव मे सपाट एव क्षीण होने लगती है, तब फिर से एक बार आदिम प्रेरणाओ से स्फूर्ति लेकर कलाएँ निर्माण होती हैं और क्षीण-युगीन चेतना के खोए हुए सतुलन को समतोल बना देती हैं। कलाओ का कार्य युग के मानस का उपचार करना होता है।[२८]

युग का कला-सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित सिद्धान्त काफी उलझा हुआ है। इस सिद्धान्त मे कला को इतने व्यापक सामाजिक धरातल पर खडा किया गया है कि लगता है, कलाओ को अतिरिक्त गौरव प्राप्त हुआ है। सामाजिक अस्थिरता मे सतुलन पैदा करने का कार्य केवल कलाओ पर सौंपा जाने से अन्य सारे दर्शन जैसे महत्त्व विहीन से लगने लगते हैं। क्या सचमुच कलाएँ इतनी बडी जिम्मेदारी को निभा सकती हैं? स्पष्ट है, कलाओं पर इतने महान् एव व्यापक सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं थोपा जा सकता। इसके अतिरिक्त सामूहिक-अवचेतन की बात उठाते हुए युग ने स्पष्ट किया है कि कलाओ का सम्बन्ध मनुष्य की आदिम सामूहिक प्रेरणाओ से है, और इसलिए कला-बिम्ब दुर्बोध एव जटिल होते हैं। यह कथन अपने आप मे विसगत-सा लगता है। जब प्रेरणाएँ सामूहिक होती हैं ऐसा मान लिया जाय तो दुर्बोधता

क्यों कर उत्पन्न होगी ? किन्तु सत्य इसके विपरीत है। कलाओं का अर्थ जानना सर्व-साधारण व्यक्ति के बस की बात नहीं। यु ग ने कला-शिल्प के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से कोई चर्चा उपस्थित नहीं की है। अन्ततः इस सिद्धांत के अनुसार कलाएँ साधन रूप बन जाती हैं, जिससे कलाओं की पृथक सत्ता समाप्त हो जाती है। सच तो यह है कि यु ग के सिद्धान्तों का मुख्य लक्ष्य रहा है व्यक्ति और समाज के मानस का विश्लेपण करना। अतः कला-सृजन से सम्बन्धित उसके सिद्धान्त उस परिप्रेक्ष्य में चर्चा का विषय बने हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सिद्धान्त अपने आप में भले ही रोचक हैं, पर कला सृजन प्रक्रिया का तर्कसंगत रूप उपस्थित करने में अधूरे साबित हुए हैं। इन सिद्धान्तों की सीमाओं का जिक्र हमने पहले ही कर दिया है। इसमें कोई शक नहीं है कि इन सिद्धान्तों के कारण कला-सृजन की प्रक्रिया को समझने में काफी सहायता मिल सकी है। इस दृष्टि से इन सिद्धान्तों की कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

१-कला-सृजन प्रक्रिया का विश्लेपण करने के लिए कुछ दिशाएँ प्राप्त हुई हैं। इन सिद्धान्तों में मन की चेतन, उपचेतन और अवचेतन अवस्थाओं का बड़ा सूक्ष्म विश्लेपण किया गया है, और सिद्ध किया गया है कि कलाओं का निर्माण कलाकार के अवचेतन स्तर पर होता है। इस तथ्य की उपलब्धि के कारण समीक्षा-शास्त्र में ऊटपटांग बातों के लिए कोई गुंजाइश बाकी नहीं रहती।

२-स्वप्न और कला में समानता ढूँढ़ी जाने के कारण साहित्यिक कलाओं की भाषा से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विशेपताएँ सामने आ सकी हैं। कलाओं की भाषा स्वप्नों के समान प्रतीकात्मक एवं बिम्बात्मक होती है। इस तथ्य को पहली बार गम्भीरता से लिया गया और प्रतीकों एवं बिम्बों का विश्लेपण प्रारम्भ हुआ।

३-व्यावहारिक जीवन की अपेक्षा कला-व्यापार का सम्बन्ध भाव जगत् एवं कल्पना जगत् से होता है, अतः कलाओं में जीवन की यथार्थ व्यावहारिकता को नहीं देखा जा सकता। यह भी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

उपर्युक्त उपलब्धियों को ध्यान में रखकर कला-सृजन प्रक्रिया के वस्तुगत (आब्जेक्टिव) सिद्धान्तों को समझने का प्रयत्न करेंगे।

इ. कला-सृजन-प्रक्रिया : वस्तुगत आधार

कला-सृजन-प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक आधार की सीमाओं एवं उपलब्धियों का जिक्र हमने किया ही है। मनोवैज्ञानिक आधार कला वस्तु की अपेक्षा

कलाकार के मानस पर हद से ज्यादा केन्द्रित हुआ सा लगता है जिससे यह सिद्धान्त एकान्तिक लगता है। यहां हम ऐसे सिद्धान्तो की चर्चा करना चाहेंगे जो प्रत्यक्ष 'कला वस्तु' को सम्मुख रखकर सृजन की प्रक्रिया स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इन सिद्धान्तो मे 'कला वस्तु' पर सपूर्ण विश्लेषण केन्द्रित हो जाने के कारण अन्य 'शास्त्रो' पर विलावजह, ध्यान आकृष्ट नही होता। सृजन-प्रक्रिया का 'वस्तुगत' विश्लेषण उपस्थित करने वाले सिद्धान्त कलाकार की कल्पना-शक्ति (पावर आफ इमैजिनेशन) पर प्रमुखतः बल देते हैं। चूंकि *साहित्यिक कलाकृतियो की पृथकात्मकता उनके अन्तर्गत कल्पना-प्रक्रिया* से ही सिद्ध हो सकती है, इसी अग के विश्लेषण पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। इन सिद्धान्तो मे 'कल्पना-शक्ति' को सृजन प्रक्रिया का प्रमुख अग माना है, अतः निर्मित प्रक्रिया को समझने के लिए 'कल्पना-शक्ति' के स्वरूप को समझना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध मे कालरिज प्रणीत सिद्धान्तो पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। कालरिज-प्रणीत 'कल्पना शक्ति' की व्याख्या पर आधृत कई महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ प्रस्तुत की गई हैं। अतः हम इस सम्बन्ध मे कालरिज के सिद्धान्तो को पहले समझने का प्रयत्न करेंगे और तत्पश्चात् अन्य आलोचको के भाष्यो को परखेंगे।

१. कालरिज-प्रणीत कल्पना-प्रक्रिया

ससार के प्रत्येक व्यक्ति मे कल्पना-शक्ति विद्यमान होती है। शास्त्रज्ञो, तत्त्वज्ञो, दार्शनिको एवं कलाकारो मे इस शक्ति का प्रादुर्भाव अधिक स्पष्ट एव तीव्र होता है। मनोविज्ञान मे कल्पना-शक्ति को एक ऐसी शक्ति के रूप में माना है जिसके द्वारा बाह्य वस्तु की अनुपस्थिति मे उसके (वस्तु) अस्तित्व को निर्माण किया जाता है। देखना यह है कि अनस्तित्व कैसे प्रदान किया जाता है? शास्त्रज्ञ और कलाकार अपने अन्तर्गत उद्भूत कल्पना-शक्ति के कारण ही सृजन कर्म मे सफल होते हैं। किन्तु शास्त्रज्ञो की निर्मिति-प्रक्रिया और कलाकारो की निर्मिति-प्रक्रिया एक दूसरो से भिन्न होती है, वरन् शास्त्र और कलाओ मे भेद कैसे किया जाय ! शास्त्रज्ञ प्रत्येक नई खोज के समय पूर्वानुभवो का आधार लेकर अनुभवो का पुनर्व्यवस्थापन करता है। उसकी प्रत्येक निर्मित पूर्वानुभवो की एक ऐसी नई सगठना प्रस्तुत करती है जिसमे नई व्याख्या के अनुसार पूर्वानुभावित वस्तुओ का पुनर्वर्गीकरण (रीग्रुपिंग) उपस्थित किया जाता है। कलाकार की निर्मिति मे भी यही प्रक्रिया कार्यरत होती है। यहाँ भी पुनर्वर्गीकरण और पुनर्व्यवस्थापन (*री-आर्गनाइजेशन*) की क्रियायें आवश्यक हैं। फिर दोनो की निर्माण-प्रक्रिया मे भेद किस बात से है? काल-

रिज ने इस भेद को स्पष्ट करते हुए कलाकार की निर्माण-प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन एवं विश्लेषण पेश किया है । कालरिज के सिद्धान्तों का संक्षेप इस प्रकार किया जा सकता है ।

१. कल्पना-शक्ति के दो प्रकार होते हैं । पहले प्रकार की कल्पना-शक्ति द्वारा वस्तु-दर्शन की प्रक्रिया संचलित होकर वस्तु का 'ज्ञान' होता है । दूसरे प्रकार की कल्पना-शक्ति द्वारा सृजन-प्रक्रिया सिद्ध होती है । इस दूसरे प्रकार से हम सम्बन्धित हैं । वर्डस्वर्थ की एक कविता का अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव का जिक्र करते हुए कालरिज कहता है कि 'उस' कविता में गहरी भावनाओं एवं उत्कट विचारों का समन्वय था जो वर्डस्वर्थ की कल्पना-शक्ति का प्रतिफलन था । वर्डस्वर्थ ने अपनी कल्पना शक्ति के बल पर अवबोधित 'वस्तु' का स्वरूप ही बदल दिया था और 'वस्तु' को कविता-विषय बनाकर श्रेष्ठ कविता लिखी । ·· ···[२९] कल्पना शक्ति के कार्य को स्पष्ट करते हुए कालरिज ने कहा है कि वह कल्पना-शक्ति को दो स्तरों पर विभाजित करता है । एक 'प्राथमिक कल्पना' का स्तर, जो चेतन मन से नीचे है और दूसरा 'अनुषंगी-कल्पना' का स्तर, जो चेतन मन के ऊपर है । प्राथमिक कल्पना मानव की अवबोधन प्रक्रिया का प्रमुख साधन है । इसी साधन के कारण असीम विश्व के शाश्वत सृजनात्मक कार्य की मनुष्य के ससीम मन में पुनरावृत्ति होती है । 'अनुषंगी-कल्पना' प्राथमिक-कल्पना की ही प्रतिध्वनि (इको) है, परन्तु केवल फर्क है दोनों की कार्य-पद्धतियों में । अनुषंगी-कल्पना का सम्बन्ध व्यक्ति की जागृत इच्छा से जुड़ा होता है । अतः इसका कार्य पुनर्सृजन का कार्य है । इस कार्य के लिए पहले यह शक्ति विसर्जित होती है, विकीर्ण होती है एवं छितरा जाती है । यदि मान ले कि विकीर्ण होने की प्रक्रिया में कही रुकावट पैदा हो तब भी यह संघर्ष रुकता नहीं । हर हालत में अनुषंगी कल्पना आदर्शीकरण (आयडियलाइजेशन) और एकत्रीकरण (युनिफिकेशन) की प्रक्रिया को पूर्ण करती है । इसलिए यह शक्ति अपने आप में चैतन्यमय (वाइटल) होती है, जबकि अवबोधित वस्तु अपने आप में जड़ और मृत होती है ।[१०]

२. कलाकार में 'अनुषंगी-कल्पना' को कार्यप्रवण कराने की महान् शक्ति (क्षमता) होती है । यह क्षमता उसमें स्थित आंतरिक अनुभूति (फीलिंग) के कारण पैदा होती है । केवल प्रकृति की अनुकृति (इमिटेशन) सृजन नहीं है, अपितु आंतरिक अनुभूति के कारण 'प्रकृति' में नया अर्थ ढूंढना ही सृजन है । इसका अर्थ यह हुआ कि सृजन की प्रक्रिया समन्वय की प्रक्रिया है जिसमें 'स्व' (सेल्फ) के चेतन और अवचेतन स्तरों का समन्वय, एवं वस्तु और विषय का

समन्वय होता है। कालरिज इस समन्वय को 'सौंदर्य बोधी समन्वय' (इस्थेटिक रिकन्सिलिएशन) और इस समन्वित रूप को कला कहता है।[३१]

३ सौंदर्य बोधी समन्वय के कार्य और स्वरूप का विस्तृत वर्णन करते हुए समन्वय की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। अनुपगी कल्पना के कारण दो परस्पर विरोधी एव विसगत तत्त्वों मे समन्वय एवं सुसगति पैदा होती है। एकरसता का अनेकरसता से, साधारण का ठोस से, विचार का बिम्ब से, व्यक्ति का प्रतिनिधिक से, नव्यता और ताजगी का पुराने और जाने पहचाने वस्तुओ से, भावनिक उत्कटता का विशेष व्यवस्था (आर्डर) से समन्वय होकर सुसगति निर्माण की जाती है इस प्रकार विशिष्ट प्रवृत्ति का (दृष्टिकोण) 'वस्तु' से समन्वय स्थापित होना है जिसका फल यह होता है कि कवि (कलाकार) के प्रति हमारी श्रद्धा (अडमिरेशन) का समन्वय उसकी कला से स्थापित हो जाता है।[३२]

४ उपर्युक्त दो परस्पर विरोधी तत्त्वो के समन्वय को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। एकरसता, साधारणता, विचार, प्रतिनिधिकता, सामान्यपरिचयत्व, व्यवस्था इन तत्वों का सीधा सम्बन्ध 'कला-विषय' से जोडा जा सकता है और अनेकरसता, ठोसपन, बिम्ब, व्यक्ति, ताजगी, एव भावना आदि तत्त्वो का सम्बन्ध 'प्रकृति' से जोडा जा सकता है। कलाकार की कल्पना-शक्ति विषय और प्रकृति (वस्तु) के बीच समन्वय स्थापित करती हुई प्रस्थापित व्यवस्था मे नव्यता का निर्माण करती है। एकस्तरीय सत्य को अनेक स्तरीय बनाकर उसमे अनेक सन्दर्भों का निर्माण करती है, साधारण विचार को बिम्ब मे परिवर्तित करती है।[३३]

उपर्युक्त 'सक्षेप' से कालरिज प्रणीत सृजन प्रक्रिया मे कलाकार और सामान्य व्यक्ति का अतर स्पष्ट हुआ है। सामान्य व्यक्ति अपनी प्राथमिक-कल्पना-शक्ति *को अनुपगी कल्पना मे नही बदल सकता। सामान्य व्यक्ति का* 'वस्तुज्ञान' समन्वय की प्रक्रिया का फल नही होता, जबकि कलाकार का हर *नया अवबोधन समन्वय एव सुसगति की प्रक्रिया से गुजरता है। इसीलिए* कलाकार के पास अनुपगी कल्पना-शक्ति को कार्य प्रवण करने की क्षमता होती है।

अनुपगी कल्पना मे परस्पर विरोधी तत्त्वो के सश्लेषण की क्रिया निहित है। *साथ-साथ यह सश्लेषण विरोधी तत्त्वो मे सुसगति निर्माण करता है। अत* अनुपगी कल्पना शक्ति दो विरोधी तत्त्वो मे लयबद्धता स्थापित करती हुई नए सेन्द्रिय (आरगैनिक) रूप को जन्म देती है। स्पष्ट है कि अनुपगी कल्पना का

'समन्वय-तत्त्व' केवल दो वस्तुओं का योग नहीं या दो वस्तुओं का यांत्रिक रूप से जुड़ना नहीं है। कालरिज ने स्वयं इसकी गवाही दी है। वह कहता है 'यदि हम काव्य-निर्मित प्रक्रिया में बाहरी नियमों को लादकर समन्वय स्थापित करें तो रचना यांत्रिक होगी। इसके विरुद्ध कल्पनाशक्ति के जो स्वयंभु तत्त्व एवं नियम होते हैं, वे स्वयं सृजन-प्रक्रिया की सिद्धि के शक्ति-तत्त्व होते हैं। स्पष्ट है कि कला-सृजन प्रक्रिया में 'सेन्द्रियता' की संकल्पना[१४] को कालरिज ने स्वीकृत किया है। कालरिज-प्रणीत कला-सृजन प्रक्रिया प्रमुखतया तीन स्तरों पर घटित होती हैं। प्रथम स्तर अनुषंगी कल्पना का वह स्तर है, जहाँ पर नए अवबोधन के साथ वह विकीर्ण होती हुई चैतन्यमय बन जाती है, और 'समन्वय' की ओर अग्रसर होती है। द्वितीय स्तर पर इस प्रक्रिया से द्वारा परस्पर विरोधी तत्त्वों में सुसंगति एवं संश्लेषण की क्रिया आरम्भ होती है। तीसरे स्तर पर आकर संश्लेषण एक सेन्द्रिय रूप को लेकर जन्म लेता है। इस प्रकार कलाकार की आंतरिक अनुभूति अवबोधित वस्तु में नये एन्द्रिय संरचना को निर्माण करती है।

कालरिज-प्रणीत सृजन-प्रक्रिया पर कई भाष्य उपलब्ध हैं। प्रत्येक भाष्य में इस प्रक्रिया का बड़ा गहन विश्लेषण उपस्थित किया गया है। इन विश्लेषणों में सृजन प्रक्रिया से सम्बन्धित कई मान्यताएँ सामने आई हैं। अवबोधन, संगठन और संप्रेषण के तत्त्वों का बड़ा गम्भीर विवेचन उपस्थित हुआ है। कुछ प्रमुख मान्यताओं का हम जिक्र करना चाहेंगे जिनमें कालरिज की प्रक्रिया का आधार लिया जाकर नवीन तथ्यों का स्पष्टीकरण हुआ है।

रिचर्ड्स ने 'कालरिज आन इमेजिनेशन' इस पुस्तक, में कालरिज के कल्पना-सिद्धान्त पर लम्बी चर्चा उपस्थित करते हुए अपना मत दिया है कि कल्पना-शक्ति को दो पृथक प्रकारों में विभाजित नहीं किया जा सकता। रिचर्ड्स के मत के अनुसार कलाओं के निर्माण में जिस कल्पना-शक्ति की प्रक्रिया कार्य-प्रवण होती है संसार की सारी मूल्यवान वस्तुओं, सुसंस्कृत जीवन के भावबोधों का निर्माण भी इसी कल्पना-शक्ति के कारण होता है। केवल फर्क इतना ही है कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कला का निर्माण अधिक मूल्यात्मक होता है। क्या शास्त्र, क्या कलाएँ इन सबका निर्माण पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्संगठन की प्रक्रिया से सिद्ध होता है।[१५]

चूँकि रिचर्ड्स कला के वस्तुगत रूप को स्वीकृत नहीं करता, उसका सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित विश्लेषण इसी दिशा में अग्रसर होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। हमारे सम्मुख प्रमुख प्रश्न यह है कि यदि संसार की सारी मूल्या-

त्मक वस्तुएँ एक ही कल्पना प्रक्रिया से निर्मित हैं, तो फिर शास्त्र और कलाओं मे स्पष्ट अन्तर क्यों होता है ? अत रिचर्ड्स की मान्यता हमारे लिए बहुत लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती । देखना यही था कि कैसे रिचर्ड्स ने निर्मित प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त (पुनर्संगठन) को स्वीकृत किया है और कालरिज के सिद्धान्त को एक अलग दिशा मे क्यों न हो, मान्य कर लिया है ।

59334

२ टी० ई० ह्यूम की मान्यता

नव्य-क्लासिकी (निओ-क्लासिसिज्म) सिद्धान्तों के प्रणेताओ में ह्यूम का महत्त्वपूर्ण स्थान है । रोमानी सिद्धान्तो का प्रखर विरोध करके नव्य क्लासिकी आलोचकों ने कला की वस्तु निष्ठता की पुर्नस्थापना की । इन सिद्धातो द्वारा कला-सृजन प्रक्रिया से सबधित महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ उपलब्ध हुई हैं । ह्यूम की मान्यता को सक्षेप म इस प्रकार समझा जा सकता है ।

१ रोमानी सिद्धातो का विरोध करते हुए ह्यूम ने कहा है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार मानव मे किसी असीम (अनाकलनीय) तत्त्व का अस्तित्व माना गया है । इस असीम एव आदर्श तत्त्व को स्पर्श करने के लिए रोमानी-कलाएँ यथार्थ के धरातल से उठकर हवाई दुनिया मे खो जाती हैं । जीवन के प्रत्यक्ष यथार्थ से इन कलाओ का नाता टूट जाता है । यथार्थवादी दृष्टिकोण इसके विपरीत जीवन की ससीमता मे विश्वास करता है । मानव की ऐहिक एव व्यावहारिक सीमाओ के भीतर मानव-कर्तृत्व पर यथार्थवादी कलाओ की नीव खडी हुई होती है । यही कारण है कि यथार्थवादी कलाओ मे यथार्थ जीवन का ईमानदार चित्रण उपस्थित होता है । यथार्थवादी दृष्टिकोण म वस्तुनिष्ठता का तत्त्व निहित होता है ।

२ जीवन का यथार्थ गतिशील होता है । किन्तु इस गतिशील यथार्थ का आकलन साधारण मनुष्यो के लिए कठिन हो जाता है । चूँकि वस्त्वाकलन की हमारी पद्धति परपरा से आबद्ध होती है, जीवन का आकलन इस कदर पारपरिक होता है कि हम पूर्व-परिचित पद्धति से हटकर यथार्थ का बोध कर ही नही सकते । इसलिए गतिशील नव्य-यथार्थ और उसके आकलन के बीच सदैव एक दीवार-सी खडी रहती है । किन्तु कलाकार इस दीवार को लाघ सकता है । कलाकार और साधारण मनुष्य मे यही भेद होता है कि कलाकार का बोध प्रक्रिया पारपरिक-व्यावहारिकता से बद्ध नहीं होती । कलाकार मे साधारण मनुष्यो की अपेक्षा एक ऐसी क्षमता होती है जिसके कारण वह नव्य-यथार्थ की गतिशीलता के साथ-साथ चलता हुआ 'वस्तु' के आतरिक रूप को देख सकता है । ह्यूम के अनुसार कलाकार मे वस्त्वाकलन

की यह क्षमता उसकी (कलाकार की) सहजानुभूति (इनट्यूशन) के कारण ही निर्मित होती है। इसी शक्ति के कारण वह स्वयं को 'वस्तु' में रखकर 'वस्तु' से तदात्म हो जाता है।

३. कला-निर्मिति प्रक्रिया का पहला स्तर वह है जहाँ सहजानुभूति द्वारा गतिशील यथार्थ का बोध होता है। इसके पश्चात् बोधित यथार्थ का हू-ब-हू वर्णन करने से प्रक्रिया का दूसरा स्तर प्राप्त होता है। यहाँ ह्यूम 'कला-भाषा' से सम्बन्धित अपनी मान्यता को स्पष्ट करता है। सहजानुभूति के कारण यथार्थ का बोधन तो सम्भव हो जाता है, पर बोधित को ज्यों का त्यों वर्णन करना इतना आसान नहीं होता। क्योंकि गतिशील तथ्य-यथार्थ के वर्णन के लिए भाषा का व्यावहारिक एवं पारम्परिक रूप अनुपयुक्त साबित होता है। चूँकि भाषा स्थूल और व्यावहारिक होती है, सामाजिक और सार्वजनीन होती है, नवीन यथार्थ को सम्प्रेषित करने में असमर्थ होती है। कलाकार भाषा में एक ऐसा पैनापन खोजना चाहता है जो उसके बोध को हू-ब-हू अभिव्यक्त कर सके। यहाँ कलाकार की अनुभूति और भाषा का प्रचलित रूप इन दोनों के बीच संघर्ष निर्मित होता है। कलाकार का यह संघर्ष केवल प्रचलित भाषा तक ही सीमित नहीं होता अपितु पारम्परिक कलारूपों के साथ भी यही होता है। चूँकि तथ्य-यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन रोमानी-विधाएँ नकारा साबित हो जाती हैं। यथार्थवादी कलाकार वस्तुदर्शन की पारम्परिक पद्धति को नकारता हुआ अभिव्यक्ति के नये रूपों की खोज करता है और अपने भावबोध को सम्प्रेषित करता है। नए बिम्बों और रूपकों के गढ़ने की प्रक्रिया सृजन-प्रक्रिया का अटूट अंग बन जाती है।

४. कालरिज-प्रणीत कल्पना-शक्ति के दोनों प्रकार ह्यूम की मान्यता में भी स्वीकृत हुए हैं। परन्तु जहाँ कालरिज कला-सृजन प्रक्रिया में अनुषंगी कल्पना को महत्त्व देता है और प्राथमिक कल्पना साधारण वस्तुज्ञान तक सीमित करता है, वहाँ ह्यूम कला-निर्माण प्रक्रिया में अनुषंगी कल्पना को अस्वीकृत कर देता है और ललित कल्पना (फैन्सी) की संकल्पना को स्वीकृत करता है। चूँकि ह्यूम जीवन के यथार्थ में विश्वास करता है और भावनिष्ठा (छायावाद) का विरोध करता है, कालरिज प्रणीत अनुषंगी कल्पना को अस्वीकृत करना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं। कालरिज रोमानी दृष्टिकोण का प्रणेता था। कालरिज ने 'ललित-कल्पना' की संकल्पना को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कलाकार जब मनुष्य की ससीमता में विश्वास करने लगता है और यथार्थ जीवन का चित्रण करने लगता है, तब उसमें ललित-कल्पना तत्त्व का उदय होता है। इस-

लिए उसके द्वारा किया गया यथार्थ का चित्रण मात्र चित्रण ही होता है, 'सृजन नहीं । ह्यूम चाहे ललित-कल्पना को स्वीकृत करें, चाहे अनुषंगी कल्पना को अस्वीकृत करें, उसकी मान्यता कालरिज–प्रणीत सिद्धान्तो को मूलत स्वीकृत करती है ।

५. कालरिज प्रणीत सृजन प्रक्रिया के अलावा ह्यूम बर्गसा के दर्शन से काफी प्रभावित-सा लगता है । बर्गसा के अनुसार कलाकार के पास 'सहजानुभूति' की एक ऐसी आतरिक शक्ति होती है जिसके कारण उसम सामान्य मनुष्यो की अपेक्षा 'वस्तु बोध' की प्रक्रिया अधिक तीव्रतर एव विशुद्ध होती है । अत बर्गसा का यह सिद्धान्त कि कलाओ का कार्य सत्य की खोज है, निर्माण नहीं, ह्यूम ने स्वीकृत किया है ।[३१]

ह्यूम द्वारा प्रस्तुत कला सृजन प्रक्रिया एक ओर बर्गसा प्रणीत 'सहजानुभूति एव 'सत्य की खोज इन दो तत्त्वों को स्वीकृत करती है तो दूसरी ओर कालरिज प्रणीत 'सेंद्रिय सश्लेषण' को भी नकारती नहीं । साथ साथ ह्यूम कलाकार की उस शक्ति को मान्यता देता है जिसके द्वारा कलाकार स्वय को 'वस्तु' म रखकर 'एकात्म' हो जाता है । कहना नहो होगा कि 'सश्लेषण' और 'एका्मीकरण' की प्रक्रियायें परस्पर भिन्न हैं । इस प्रकार कही कहीं 'ह्यूम' के सिद्धात विसगत-से लगत हैं । फिर भी कला-सृजन प्रक्रिया म 'भाषा तत्त्व' को ह्यूम ने जो महत्त्व दिया है वह अत्यत महत्त्वपूर्ण है । नव्य–अनुभूति के अभिव्यक्तिकरण के लिए नए भाषा रूप एव नवीन विधाओ की आवश्यकता होती है—यह निष्कर्ष अपन आप मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । भाषा' को सृजन-प्रक्रिया का अटूट अग घोषित करने वाले ह्यूम के सिद्धान्तों का प्रभाव बीसवीं शताब्दी की आलोचना पर बडा स्पष्ट है । टी० एस० एलियट जैसे प्रसिद्ध आलोचक ने 'ह्यूम' का ऋण मान्य किया है । टी० एम० एलियट नव्य-क्लासिकी वाद का पुरस्कार करता है और छायावादी कलाओ का प्रखर विरोध करता है । उसने वर्ड् स्वर्थ प्रणीत काव्य परिभाषा का बडा कडा विरोध किया और सृजन प्रक्रिया में 'कलात्मक निर्वैयक्तिकता' (डिटचमेन्ट एव डी-पर्सनलाइजेशन) की सकल्पना को प्रतिष्ठित किया । एलियट ने अपने निबन्धो म यत्र-तत्र कई सिद्धान्तो का एव मान्यताओ का स्पष्टीकरण किया है । किसी एक निबन्ध मे या निबन्धो मे अपनी मान्यताएँ समग्र रूप से नहीं लिखी हैं । एलियट के विविध निबन्धो को पढ़कर सृजन प्रक्रिया से सम्बन्धित उसकी मान्यता मे सूत्र–बद्धता खोजी जा सकती है । फिर भी उसका एक निबन्ध 'ट्रेडिशन एण्ड इडिव्हिजुअल टैलेन्ट' अत्यत महत्त्वपूर्ण निबन्ध है जिसमे लगभग उसकी सारी मान्यताएँ स्पष्ट

हो सकी है। संक्षेप में एलियट की मान्यता को इस प्रकार समझा जा सकता है।

३. टी० यस० इलियट की मान्यता

१. दो पदार्थों को मिलाकर रासायनिक संमिश्रण तैयार करने के लिए 'प्लटिनम कॅटॅलिस्ट' की जरूरत होती है। इसके बिना रासायनिक-क्रिया सिद्ध ही नही हो सकती। किन्तु इस क्रिया मे 'कॅटलिस्ट' पर कोई परिणाम नही होता। वह इस प्रक्रिया को संचालित करने में आवश्यक हिस्सा तो लेता है, पर स्वयं 'अछूता' ही रह जाता है। कवि-मानस 'कटालिस्ट' के समान होता है। काव्य-निर्मिति को सिद्ध करने के लिए इसका अस्तित्त्व अनिवार्य है, पर यह स्वयं इस 'निर्मिति' का हिस्सा नही बनता। कलाकार जितना अधिक परिपूर्ण होता जायगा उतना ही वह अपने 'भोक्ता मानस' को 'निर्माता मानस' से अलग रखने में सफल होगा।[१७]

२ कलाकार का मानस अनेक भाव-बोधों की (फीलिंग) भावनाओं, (इमोशन) शब्दों, वाक्यांशों एवं बिम्बों का भण्डार होता है। जब तक इस सारी सामग्री का एक संयुक्त रूप तैयार नही होता, तब तक यह सारी सामग्री कलाकार के मानस भण्डार मे पड़ी रहती है।[१८]

३. कवि अपना व्यक्तित्व अभिव्यक्त नही करता, अपितु वह एक माध्यम अभिव्यक्त करता है। उसके इस माध्यम में उसकी अनुभूतियाँ और प्रतिक्रियाएँ एक विशिष्ट तथा अनपेक्षित रूप से सम्मिश्रित हो जाती है। ऐसी अनुभूतियाँ और प्रतिक्रियाएँ जो कवि में स्थित मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण होती है, कविता में शायद उन्हे जगह नही है। और जो अनुभव और प्रतिक्रियाएँ काव्य में महत्त्वपूर्ण होती है उनका व्यक्ति के लिए (कवि-व्यक्तित्व) कोई महत्त्व नही है।[१९]

४. नवीन भावों की खोज करना कवि का कार्य नही है। वह अपने रोजमर्रा के भावों को अभिव्यक्त करता है। कविता में भावनाएँ (इमोशन) अभिव्यक्त नही होती, भावानुभूतियाँ (फीलिंग) अभिव्यक्त होती है। इसके लिए नए भावों की खोज जरूरी नही अपितु परिचित एवं पूर्वानुभावित भावानुभूतियाँ काम आ सकती है। इसलिए 'शांत मनः स्थिति में स्मृतिजन्य भावना' (इमोशन रिकलेक्टेट इन ट्रंकिवलिटी) को कविता कहना गलत समीकरण का पुरस्कार करना है। क्योंकि सृजन की अवस्था में न तो 'भावनाएँ' होती है, न 'स्मरण' और न 'शान्त मनःस्थिति' भी होती है। सचेत व्यावहारिक मनुष्य (प्रैक्टिकल, एक्टिव्ह) के लिए जो भावनाएँ अनुभूति-स्वरूप नही होती,

ऐसी कई भावनाएँ कविता मे केन्द्रित होती हैं । वस्तुतः ऐसी अनुभूतियो का केन्द्रीकरण बडी सजगता से एव पूर्वनियोजित (डिलीवरेट) पद्धति से किया जाता है । ये अनुभूतियाँ स्मृति-जन्य नही हाती। ऐसी अनुभूतियाँ जब किसी क्षण पर केन्द्रित होती हैं उस क्षण की मन स्थिति को चाहें तो 'शात मन.स्थिति' कह लें । वस्तुत इस मन स्थिति को 'निर्लिप्त मन स्थिति' कहना अधिक उचित होगा । यह प्रक्रिया यही खत्म नही होती । कला सृजन-प्रक्रिया का बहुत सारा हिस्सा पूर्व-निश्चित एव सकल्पित होता है । सही तो यह है कि घटिया दर्जे के कवि जहाँ सावधानी वरतनी पडती है वहाँ सावधानी नही बरतते । और जहाँ उन्हे अनभिज्ञ होना चाहिए वहाँ वडे सावधान रहते हैं । इस दोहरी गलती के कारण उनकी कविता बडी व्यक्तिगत (पर्सनल) बन जाती है । *कविता भावनाओ का अनियत्रित बहाव नही होती, बल्कि भावनाओ से 'पलायन' होती है ।* कविता मे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही होती, व्यक्तित्व से पलायन होता है । अर्थात् इस 'पलायन' के रहस्य को वही जान सकेगा, जिसके कोई व्यक्तित्व है और जिसकी कोई भावना है । कविता की परिभाषा प्रस्तुत करते समय हम जिन भावनाओ का जिक्र करते हैं ऐसी भावनाएँ व्यक्तिगत नही होतीं । इस रहस्य को बहुत कम लोग जानते हैं । कवितातर्गत भावनाएँ व्यक्ति निरपेक्ष होती हैं । इस प्रकार की व्यक्ति-निरपेक्षता एव निर्वैयक्तिकता तभी प्राप्त हो सकती है जब सृजन-प्रक्रिया मे कवि मानस का सपूर्ण समर्पण उपस्थित हो सके । जब तक कवि अपन वर्तमान मे ही जीता रहता है, तब तक सृजन का कार्य उसके हाथो असभवनीय है । सृजन कर्म के लिए केवल वर्तमान *का ज्ञान पर्याप्त नही होता अतीत के वर्तमान-क्षण का भी ज्ञान आवश्यक होता* है । इसके लिए सृजन-कर्ता को केवल उनका ही ध्यान रखना नही पडता जो मृत हो चुके हैं अपितु जो जी रहे हैं और जीते आ रहे हैं उनका भी ध्यान रखना पडता है ।[१०]

सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत अनुभूतियो का अभिव्यक्तिकरण कैसे सिद्ध होता है, इस सम्बन्ध मे एलियट की दो प्रसिद्ध मान्यताएँ है ।

१ भावाभिव्यक्ति करने का एकमेव मार्ग है 'वस्तुनिष्ठ सयोजना' की खोज करना (आब्जेक्टिव्ह कोरिलेटिव्ह) जिन भावो की व्यजना अभीष्ट है वस्तुओ, परिस्थितियो और व्यापारो की सयोजना भी उन्हीं के अनुकूल होनी चाहिए । विशिष्ट भावनाओ का योग्य समीकरण स्पष्ट करने वाली घटनाओं, *प्रसगों एव वस्तुओ आदि की ऐसी मालिका ढूँढी जाय जिनके आस्वादन से* हमारा सम्बन्ध कलाकार के अभीष्ट आशय से जुड सके ।[११]

२. काव्य-निर्मिति के लिए जब कवि मानस तैयार हो जाता है तब उस मानस में असंगत एवं असंबद्ध विविध अनुभूतियों का एकात्मीकरण होने लगता है। साधारण मनुष्य के मानस में इस प्रकार असंगत अनुभूतियों का एकात्मीकरण नहीं होता। साधारण मनुष्य की अनुभूतियाँ छितरी-छितरी एवं बिखरी हुई होती हैं। जिस प्रकार सामान्य मनुष्य प्रेम करता है या 'स्पिनोझा' पढ़ता है, किन्तु उसकी इन दो अनुभूतियों का आपसी सम्बन्ध नहीं होता, इसी प्रकार पुस्तक पढ़ते समय टाइपराइटर की आवाज का सुनाई देना या रसोई घर की सुगंध को ग्रहण करना इन अनुभवों का भी कोई आपसी सम्बन्ध नहीं पाया जाता। किन्तु कवि मानस में ऐसी असंगत अनुभूतियों का एकत्रीकरण एवं एकात्मीकरण होकर 'नवीन पूर्णत्त्व' (न्यू होल्स) प्राप्त होता है।[४२]

हमने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि एलियट के बहुत सारे सिद्धान्त रोमानी दृष्टिकोण पर की गई आलोचना से संबद्ध हैं। विशेषरूप से वर्डस्वर्थ-प्रणीत काव्य-परिभाषा पर कटु आलोचना करते हुए सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित अपनी मान्यता को उसने स्पष्ट किया है। परन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो एलियट के सिद्धान्त और कालरिज-प्रणीत सिद्धान्त आपस में मेल खाते दिखाई देते हैं। ऊपरी तौर से देखा जाय तो लगता है कि कालरिज ने कवि-व्यक्तित्व की विशिष्टता पर जोर दिया है तो एलियट ने कवि-व्यक्तित्व को तिरस्कृत किया है। दोनों की 'व्यक्तित्व' संकल्पना भिन्न-भिन्न होने के कारण ऐसा हुआ है वरन् दोनों समान भूमिकाओं को ग्रहण करते दिखाई देते हैं। एलियट के अनुसार 'व्यक्तित्व' की परिभाषा ऐहिक एवं व्यावहारिक जीवन की उपयुक्ततावादी अनुभूतियों तक ही सीमित है। इसलिए उसने 'व्यक्तित्व' से पलायन की बात कही है। वस्तुतः 'व्यक्तित्व' की इतनी सीमित एवं संकुचित परिभाषा नहीं की जा सकती। इसके विपरीत कालरिज ने 'व्यक्तित्व' की विशिष्टता पर बल देते हुये इसके अन्तर्गत परस्पर विरोधी तत्त्वों के संश्लेषण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। दोनों की 'व्यक्तित्व' विषयक संकल्पना के भेद को नजरअन्दाज करके उनकी मान्यताओं को तुलनात्मक दृष्टि से परखा जाय, तो कई समानताएँ स्पष्ट होती हैं। जहाँ कालरिज ने काव्य-अंगों के संश्लेषण की प्रक्रिया को समझाते हुये कला के सेंद्रियत्व का पुरस्कार किया है, तो एलियट ने, भले ही 'सेन्द्रिय' शब्द का प्रयोग न किया हो, असंगत अनुभूतियों का संश्लेषण और तत्पश्चात् 'नये पूर्णत्व' में रूपांतरण की बात को स्वीकृत किया है। अतः दोनों की मान्यताओं में 'व्यक्तित्व' की परिभाषा में भेद है। 'कल्पना-शक्ति' के कार्य की समानता दोनों मान्यताओं में देखी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त कुछ आलोचकों न एलियट की अन्य मान्यताओ मे परस्परविसग-तियो को देखा है। एलियट की वह मान्यता जिसमे उसने कवि मानस को कई असगत अनुभूतियो का भण्डार कहते हुए निर्मिति तक उन अनुभूतियो का मानस के भण्डार म उसी रूप मे पडा रहना माना है तर्कयुक्त नहीं लगती। वस्तुत हमारे मन मे जीवन-यापन के साथ कई भाव-भावनाएँ-अनुभूतियाँ एव प्रतिक्रियायें निर्माण होती हैं, बनती हैं बिगडती हैं। वे एक ही अवस्था म पडी नहीं रह सकतीं। कवि मानस के भण्डार की सामग्री तो सदैव बनने बिगडन की प्रक्रिया से गुजरती रहती है। हाँ, हर नए अवबोधन क साथ स्थित भावनाओ का विकीर्ण होना एव छितरा जाना तर्कसगत है, पर निर्मिति के समय अनुभूति के भिन्न भिन्न रूप उसी हालत मे पडे नही रहते वरन् सश्लिष्ट होकर सेन्द्रित रूप धारण करते हैं। अर्थ यह हुआ कि अन्तत जो अभिव्यक्त होता है वह कवि व्यक्तित्व ही हाता है।

'कविता' की वस्तुनिष्ठता पर बल देते हुए एलियट ने स्पष्ट किया है कि कवि 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति नही करता अपितु केवल माध्यम की अभिव्यक्ति करता है।' यह मान्यता अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी गई है। इस मान्यता के अनुसार कविता एक ऐसा 'माध्यम' सिद्ध होता है जिसम कवि की भावनाएँ अनुभूतियाँ, एव प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट रूप स केन्द्रित होती हैं। स्पष्ट है कि एलियट ने यहाँ 'कविता' को 'साधन' रूप म नही, बल्कि साध्य रूप म स्वीकृत किया है। इस सकल्पना के द्वारा वह आशय और अभिव्यक्ति के अद्वैत को सूचित करता है। किन्तु एलियट की वस्तुनिष्ठ-सयोजना' की सकल्पना 'माध्यम' सकल्पना के कही विरोध म पडती है। 'माध्यम' सकल्पना में आशय और अभिव्यक्ति म अद्वैत सूचित किया गया है तो वस्तुनिष्ठ सयोजना' मे अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष को अलग-अलग किया है और भाव-व्यजना के लिए उचित साधना का ढूढन की बात कही है। दूसरे शब्दों म एलियट ने किसी तत्ववाद का पुरस्कार किया-सा लगता है। 'वस्तुनिष्ठसयोजना का तत्त्व यदि मान लिया जाय तो 'कविता का कार्य केवल पाठक और कवि की समान भावनाओ के बीच का पुल (ब्रिज) बनकर रह जाने की हद तक ही सीमित हो जाता है। ये तीनो अग अलग-अलग हो जात हैं।'[17]

हमने अब तक चार ऐसी मान्यताओ का विवेचन किया जो कला-सृजन प्रक्रिया के विविध स्तरो का तर्कसगत विश्लेषण पेश करती हैं। उपर्युक्त मान्यताओं की विसगतियों पर भी हमने चर्चात्मक टिप्पणियाँ लिखी हैं। ये मान्यताएँ कालरिज के 'सूत्र' को लेकर चलती हैं। इन मान्यताओ म हमम कला-

सृजन प्रक्रिया से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को देखा । विशेषताओं के आधार पर सृजन-प्रक्रिया के प्रमुख निष्कर्ष ये हैं ।

४. निष्कर्ष

१. काव्य तथा कला अपने आप में कोई खोज नहीं होती, वल्कि 'सृजन' होता है । यह 'सृजन' कलाकार के विशिष्ट कल्पना-शक्ति का अनिवार्य फल होता है ।

२. कला-सृजन प्रक्रिया में 'भाषा' एवं अन्य अंग (रूपात्मक अंग) प्रक्रिया के ही अंग होते हैं । भाषा एवं 'शिल्प' की कोई अलग-से सत्ता नहीं होती । 'शिल्प' साधन-रूप नहीं होता ।

३. 'कला' एक 'सेन्द्रिय संरचना' होती है । इसके अभाव में वह यांत्रिक रचना से अधिक कुछ नही होती । इस अर्थ में कला न तो वस्तुनिष्ठ वास्तविकता है, न मानसिक घटना और न अरूप (अब्स्ट्रेक्ट) 'स्थिति' ही है ।

४. ससार की अन्य वस्तुओं से उसकी पृथक सत्ता होती है उसका 'स्वतन्त्र गुट' हो सकता है ।

उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर हिन्दी-आलोचना साहित्य में सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित इनके एक या अनेक पक्षों का जिक्र हुआ । व्यावहारिक आलोचना में इन्ही विशेषताओं को 'कृति' के विश्लेषण में देखा जाता है । फिर भी समग्र रूप में कला सृजन–प्रक्रिया का विश्लेषण हमारे पास अत्यल्प ही दिखाई देता है । इस सम्बंध में फुटकर टिप्पणियां पर्याप्त मात्रा में हैं । उक्त चर्चा के आधार पर सृजन-प्रक्रिया को समग्र रूप मे इस प्रकार समझा जा सकता है । 'अभिव्यक्ति के लिए उत्सुक कलाकार के मन की धुंधली एवं अस्पष्ट अनुभूतियां जब प्राथमिक कल्पना–शक्ति द्वारा अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होने लगती हैं, तब कलाकार की पूर्वानुभूतियां, स्मृतियां, भावनाएँ एवं वस्तुबिम्ब उसके सजग–मानस पर मूर्त रूप धारण करके अवतीर्ण होते हैं । इन विविध शब्दांकित रूप-घटकों के बीच परस्पर आदान–प्रदान की प्रक्रिया आरम्भ होने लगती है और इन घटकों में परस्पर पूरक परिवर्तन होकर 'संश्लेषण' की प्रक्रिया पूर्ण होती है । एक नये व्यवस्थापन एवं संगठन का निर्माण होता है । बिल्कुल इसी समय जब संगठन की प्रक्रिया कार्यरत हो रही होती है, कलाकार द्वारा स्वीकृत कला-रूपों के मानदण्ड उक्त प्रक्रिया में सम्मिलित हो जाते हैं । घटकों की संश्लेषण प्रक्रिया और कला-रूपों के मानदण्ड इनके बीच परस्पर–पोषक परिवर्तन के पश्चात् 'कला–कृति' सिद्ध होती है ।'[५] सिद्ध

कलाकृति और कलाकार की प्राथमिक कल्पना इन दोनो मे स्वरूप-भिन्नता का होना अनिवार्य है। क्योंकि कलाकार की प्राथमिक कल्पना जिस प्रक्रिया से गुजरती है, परिवर्तन अवश्यभावी है वरन संश्लेषण-प्रक्रिया निरर्थक होगी और रचना का रूप यान्त्रिक होगा। कलाकार का शब्दरूप-अवबोधन और कला-रूपो के मानदण्ड इन दोनो के आपसी संस्कारो मे प्राथमिक कल्पना का मूल स्वरूप बदल जाता है। संश्लेषण की प्रक्रिया मे कलाकार के सजग मानस द्वारा चुनिंदा सामग्री ही संश्लिष्ट होती है, शेष को त्याग दिया जाता है।

कलाकार का अवबोधन और उसके (कलकार) द्वारा स्वीकृत विधात्मक (फार्म) तत्त्वों के मानदण्ड (नार्म्स) इन दोनो का संश्लेषित 'ऐन्द्रिक रूप कलाओ मे सिद्ध होता है। अर्थ यह हुआ कि किसी साहित्यिक कलाकृति की विशिष्टता उसके निर्माता के 'व्यक्तित्व' से सम्बद्ध होती है। 'वस्तु' के अनुभव के साथ पूर्वस्मृतियो का, भावनाओ का एवं वस्तुबिम्बों का जागृत होना प्रत्येक कलाकार मे भिन्न-भिन्न रूपो मे एवं विभिन्न स्तरो पर घटित होता है। संश्लेषण की प्रक्रिया मे 'उचित' सामग्री का चुनाव भी प्रत्येक कलाकार के व्यक्तित्व-भिन्नता के अनुसार ही होता है। इसलिए विशिष्ट कलाकार की अनुभव ग्रहण प्रक्रिया और अभिव्यक्ति प्राक्रया दूसरो की अपेक्षा स्वरूप-गत विशेषता के कारण भिन्न होगी। इस आधार पर समान स्वरूप-गत विशेषताओं का गुट बनाया जा सकता है। किसी युग विशेष की साहित्य कृतियो मे इस प्रकार की समानता पाई जा सकती है। इतना ही नही, किसी विशिष्ट काल मे, किसी विधा-विशेष की उक्त स्वरूप विशिष्टता को स्पष्ट किया जा सकता है। अब हम कलाकार के विशिष्ट व्यक्तित्व का विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहेंगे। क्योकि कलाकार के व्यक्तित्व की विशिष्टता उसकी 'कृति' की विशि-ष्टता को सिद्ध करती है। चूँकि हम किसी विधा विशेष की संवेदनशीलता को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं उस विधा को जन्म देने वाले रचनाकारो के व्यक्तित्व की विशिष्टता को परखना आवश्यक है। यह विशिष्टता युग-क्रम के साथ बदलती है, पर व्यक्तित्व गठन के मूलभूत तत्त्वो मे कोई अन्तर नही पड़ सकता। 'संवेदनशीलता' की तर्कसगत परिभाषा प्रस्तुत करने के लिए व्यक्ति-त्व संगठन की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है।

ग कलाकार का व्यक्तित्व : संवेदनशीलता का स्वरूप

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि कला-कार की बिम्ब-सृष्टि से सम्बद्ध बहुत सारी सामग्री उसके बचपन की अनुभूतियों

से संगठित एवं विकसित होती है। कलाकार बचपन में जिस प्रकार का संवेदनात्मक जीवन व्यतीत करता है उसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कलाकार के बिम्ब-जगत् में दृष्टव्य होता है। कलाकार के नाते जब हम बहुत कुछ देखते हैं, बहुत कुछ पढ़ते हैं और विविध अनुभवों को ग्रहण करते हैं पर इस सारे अनुभव जगत् की कुछ विशिष्ट अनुभूतियाँ ही हमारी कला में बिम्ब रूप धारण करती हैं। ऐसा क्यों होता है ? विशिष्ट अनुभूतियों का ग्रहण और शेष का त्याग किस मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है ? साधारण मनुष्य कलाकार नहीं हैं, यह प्रक्रिया कैसे कार्यान्वित होती है ? इन प्रश्नों के उत्तर दिये जाकर साधारण मनुष्य और कलाकार के व्यक्तित्व-संगठन का फर्क स्पष्ट किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यताओं का आधार लेते हुए उपर्युक्त फर्क को समझने की हम कोशिश करेंगे।

१. कलाकार और साधारण व्यक्ति

हमने पिछले कुछ पन्नों में साधारण व्यक्ति और कलाकार में व्यक्तित्व-भिन्नता के कारण उत्पन्न होने वाली विशेषताओं के फर्क को देखा था। यहाँ हम सर्वसाधारण व्यक्ति के मानसिक संगठन का विकासात्मक आलेख खींचकर कलाकार के व्यक्तित्व की विशिष्टता को स्पष्ट करेंगे। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रमाणित किया गया है कि बाल्यावस्था में ग्रहण किये गये विविध अनुभव हमारे मानस की अतल गहराइयों में सुरक्षित होने लगते हैं और हमारे व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन जाते है। बचपन में मनुष्य का विविध वस्तुओं के प्रति भावनिक लगाव होता है। उम्र के विकास के साथ यह लगाव व्यावहारिक एवं बौद्धिक स्तर प्राप्त करने लगता है। प्रौढ़ एवं प्रगल्भ अवस्थाओं में हमारी जीवन-पद्धति एवं जीवन-दृष्टि धीरे-धीरे निश्चितिकरण की ओर बढ़ती हुई नियमित होने लगती है। अतः इस अवस्था में प्रत्येक 'वस्तु' का अवबोधन जीवन की उपयुक्तता एवं अनुकूलता को दृष्टिगत रखकर होता है। यहाँ बाल्यावस्था का वह भावनिक लगाव समाप्त हो जाता है और जीवन-हेतु की व्यावहारिकता प्रत्येक संवेदन पर 'हावी' होने लगती है। इसके विरुद्ध बालकों में जीवन का हेतु न तो स्पष्ट होता है और न निश्चित ही। वह संसार की किसी भी वस्तु या घटना को उपयुक्ततावादी दृष्टिकोण से हटकर अवबोधित करता है। एक अर्थ से बच्चों का प्रत्येक सम्वेदन और अनुभव जीवन-निरपेक्ष होता है। 'वस्तु' का सम्वेदन 'वस्तु' के लिए और 'घटना' का अनुभव घटना के लिए ही होता है। इस प्रकार बचपन की प्रत्येक सम्वेदना स्मृतिकोष में सुर-

क्षित होने लगती है। सुरक्षित स्मृतियो के आधार पर नए अनुभव को वह *स्वीकृत करता है। प्रत्येक 'स्वीकृति' के साथ अनुभवो का पुनर्व्यवस्थापन होने* लगता है। यही कारण है कि बालको म प्रत्येक नवीन समवेदन से उत्कट अनुभव ग्रहण करने की क्षमता होती है।

कवि की वस्तु, घटना या प्रसग से तादात्म्य होकर अनुभूति ग्रहण की प्रक्रिया और तज्जन्य व्यवस्थापन की क्रिया प्रधानत रूपक प्रक्रिया से ही (इमेज मेकिंग) सिद्ध होती है। बालक अपने प्रत्येक सवेदन को मूर्त रूप मे ही ग्रहण करते हैं। वे अनुभूत वस्तु का सजीवीकरण (एनिमिज्म) एव मानवीकरण (पर्सानिफिकेशन) करते रहते हैं। यह उनकी प्रवृत्ति होती है। एक अर्थ से बालक का 'स्व' (सेल्फ) और बाह्य जगत् इन दोनो के बीच का अन्तर ही मिट जाता है। जैसे जैसे बचपन की अवस्था खत्म होकर दूसरी अवस्थायें प्रकट होने लगती हैं मनुष्य का 'स्व' और उसका बाह्य जगत् एक दूसरो से अलग पडने लगते हैं। दोनो की स्वतत्र सत्ताएँ कायम होने लगती हैं। फिर भी बचपन की तादात्मीकरण की प्रवृत्ति सपूर्णतया नष्ट नही होती। शायद यही कारण है कि हमारा बाह्य-जगत् का आकलन पूर्णत वस्तुनिष्ठ नही हो सकता फर्क इतना ही है कि बच्चो म 'स्व' और बाह्य जगत् की लिप्तता कायम रहती है, जबकि व्यावहारिक मनुष्य म अलिप्तता का भाव दिनोदिन विकसित होने लगता है।"

प्रौढ व्यक्तियो का अवबोधन उनके जीवन-व्यवहारो से आबद्ध होता है। प्रौढ़ व्यक्ति के जीवन व्यवहार उपयुक्ततावादी दृष्टिकोण से नियमित एव निश्चित हो जाते हैं। *उसका व्यवसाय, श्रद्धायें, मूल्य, जीवनादर्श, नीतिकल्पनाएँ एव* विश्वास आदि लगभग स्थिरपद बने रहते हैं। इन स्थिरपद तत्वो का निश्चित प्रभाव उसके अवबोधन, सवेदन एव व्यवस्थापन की प्रक्रिया पर पडता रहता है। परिणाम यह होता है कि उसकी सवेदनशीलता नियन्त्रित होकर स्थिर हो जाती है और उसकी गतिशीलता लगभग खत्म हो जाती है। चूंकि प्रौढ व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यावहारिकता के तत्वो से परिचालित होता है वह किसी नए अनुभव का ग्रहण उक्त अनुभव के ताजेपन-समेत नही कर सकता। 'वस्तु' का अनुभव वस्तु के लिए उसके यहाँ असभव सा हो जाता है। कारण स्पष्ट है—उसे इस बात मे कोई रस नही होता। उसका हर वस्तु-दर्शन एव वस्तु-बोध पूर्वनियोजित और पूर्वनिर्धारित होने के कारण उसका व्यक्तित्व निश्चित ढर्रे का बन जाता है। अपनी श्रद्धाएँ, जीवनादर्श, नीतिकल्पनाएँ, सस्कार-कुल मिलाकर 'दृष्टिकोण' से आबद्ध दायरे से बाहर निकलकर किसी सवेदन

के साथ तादात्म्यता प्राप्त करने की क्षमता उसमें होती ही नहीं । उदाहरणार्थ-वड़ी फजर में उदित शुक्र तारका को देखकर किसी गृहस्थ की पहली प्रतिक्रिया होगी कि उसके शौचादि कार्यक्रमों का समय हो गया है, अब उसे अपने रोज-मर्रा के कामों में लग जाना चाहिए ताकि व्यावहारिक जीवन का टाइमटेबुल बेखटके पूरा हो सकेगा । ऐसा व्यक्ति उस तारका के सौंदर्य का अनुभव नहीं ले सकता । किसी सुन्दर फूल को देखकर उसे अपनी पत्नी की याद आ सकती है या अधिक से अधिक देवता का स्मरण हो सकता है । पर इससे आगे जाकर फूल की संवेदनाकृति से उसका तादात्म्य नही हो सकता । दूसरे शब्दों में—इस नए संवेदन के साथ जुड़कर उसकी पुर्वानुभूतियों में व्यवस्थापन एवं पुनर्संगठन की क्रिया संपन्न नहीं होती । वह प्रत्येक संवेदन को निश्चित दृष्टिकोण के प्रकाश में चिह्नांकित करता रहता है, इससे हटकर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती । कभी-कभी ऐसा व्यवहारवादी साधारण व्यक्ति भी तीव्र भावनाओं की उत्कट अभिव्यक्ति करता है, पर अभिव्यक्तिकरण के उसके रूपक व्यावहारिक-जीवन की उपयुक्तता के साथ जुड़े हुए होते हैं । उपयुक्तता के संदर्भ को वह कभी भुला ही नहीं सकता ।

फ्रायड ने मनुष्य जीवन के विकास को व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं के आधार पर विश्लेषित किया है । इस विश्लेषण के आधार पर साधारण व्यक्ति और कलाकार के व्यक्तित्वों का फर्क जाना जा सकता है । फ्रायड ने मानवीय-मन को चेतना के स्तर पर तीन हिस्सों में विभाजित किया है । १. अहं (इगो) २. सुप्राहम् (सुपर इगो) ३. इदम् (इट) । वस्तुत: इन तीन स्तरों के बीच की सीमा रेखाएँ इतनी धुंधली एवं अस्पष्ट हैं कि इन्हें अलग-अलग निश्चित लक्षणों के आधार पर विभाजित करना असंभव है । क्योंकि एक स्तर की विशेषताएँ दूसरे में मिली हुई होती हैं । फिर भी व्यक्तित्व-विकास में इन तीनों स्तरों के बीच एक क्रम निश्चित किया गया है । जैसे—इदम् अहम् और सुप्राहम् ।

'इदम्' मन के सबसे निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व करता है । 'इदम्' को एम प्रवेगवादी धारणा के रूप में देखा गया है जिसमें विवेकहीनता, प्रकृतता और अबोधता पाई जाती है । इसमें सभी प्रकृत एवं अज्ञात इच्छाओं का उद्-भव होता है । यह अज्ञात मन का मूल और मुख्य भाग है । किन्तु 'इदम्' और अज्ञातमन तद्रूप नहीं हैं । इदम् के मूल तथ्यों का हमें ज्ञान नहीं हो सकता । इसकी क्रियाएँ उन्मुक्त और स्वयंचलित होती हैं । भले-बुरे की भावना से निर्धारित नहीं होतीं । यह 'ऐन्द्रिक सुखेप्सा' सिद्धान्त से चलित रहता है । इस

पर समाज के नियम, प्रतिबंध, नैतिकता, सामाजिक दायित्व आदि का प्रभाव नहीं पडता। यह सदैव निर्द्वन्द्व कामवासना की तुष्टि मे सजग रहता है। कारण यह है कि यह दमित काम-इच्छा का एकमात्र संग्रहालय है। इदम् मे पूर्वजो द्वारा प्राप्त जातीय गुण विशेषताएँ भी समाविष्ट हैं। जीवन और *मृत्यु-सम्बन्धी संघर्ष भी इसी मे चलता है। प्रारम्भ मे व्यक्ति इदम्-मात्र अथवा* केवल प्रकृत इच्छाओ का समुच्चय मात्र होता है।" इस अर्थ मे इदम् के अस्तित्व का स्पष्टीकरण करना असभव है। इस सकल्पना को किसी प्रतीकात्मक भाषा मे भी समझना कठिन है। इसे हम स्वचलित, स्वय भू 'प्रोत्साह का उबलता घट' कह सकते हैं जिसमे व्यक्ति की प्रवृत्यात्मक आवश्यकताएँ मानसिक रूप धारण करती हैं। इस प्रक्रिया का कोई तार्किक आधार नही है। 'इदम्' कुछ भी ऐसा नही है जो किसी नकारात्मक सकल्पना से आका जा सकता हो। यहाँ तक कि अवकाश और समय की सकल्पना भी इसे बाँध नही सकती। "दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक तर्क निर्धारण पद्धति से परे रहने वाला यह 'प्रवेग' 'आदिम' होता है और समय के गुजरने पर भी आदिम ही रहता है। स्पष्ट है-सभ्यता एव सस्कृति के विकास मे 'इदम्' के 'केवलरूप' मे कोई फर्क नही पडता। इदम् किसी मूल्य को नही मानता। वैसे यह तत्त्व *प्रत्येक व्यक्ति मे-व्यक्ति मनस की तह मे विद्यमान होता है, किन्तु सवेदनशील* कलाकार के मानसिक व्यक्तित्व को बनाने मे इस तत्त्व का महत्त्वपूर्ण योग होता है।

अब 'सुप्राहम्' की सकल्पना को समझ लिया जाय। व्यक्ति-मन का सबसे निचला स्तर यदि 'इदम्' से परिचालित होता है, तो सबसे ऊँचा स्तर 'सुप्राहम्' से सचलित होता है। इन दोनो के बीच मे अहम्' का अस्तित्व होता है। 'सुप्राहम्' को अन्त करण का पर्याय माना गया है। नैतिकता के *तत्त्वो का निर्धारण 'सुप्राहम्' के कारण ही होता है। नैतिक मन प्रायः बली* होता है और व्यक्तित्व का प्रमुख निर्धारक होता है। इसकी नीति की भावना कठिन और कठोर होती है। इसका प्रभुत्व 'इदम्' और 'अहम्' दोनो पर होता है। 'सुप्राहम्' का विकास 'अहम्' से होता है। यह 'अहम्' की प्रक्रियाओ का प्रतिफल होता है। सुप्राहम्' के ही कारण व्यक्ति के आभ्यतरिक क्षेत्र में अपराध भाव बनता है जिसके कारण व्यक्ति को मातृ-पितृ कामेच्छा के बारे मे ज्ञान नही होता। 'सुप्राहम्' की प्रभुता अधिक होने पर *प्रायः व्यक्तित्व मे विच्छेद हो जाता है और व्यक्ति रोग का आखेट बन जाता* है। क्योकि 'इदम्' की प्रकृत इच्छाएँ मानव की स्वाभाविक मांग होती हैं

और उनकी तुष्टि 'व्यक्तित्व' और व्यवहार में समयोजन के लिए आवश्यक है । जब 'सुप्राहम्' निर्बल रहता है अथवा इसकी प्रभुता 'इदम्' पर नहीं रहती व्यक्ति प्रकृत इच्छाओं का दास बनकर असामाजिक क्रियाएँ करता है । 'सुप्राहम्', 'अहम्' और 'इदम्' का परस्पर समायोजन समझौता सन्तुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है ।[४९] मन की सजग चेतना का पर्याय होने के कारण 'सुप्राहम्' से परिचालित क्रियाएँ इतनी सहज होती हैं कि वह अन्तः चेतना का एक स्वाभाविक हिस्सा बन जाती हैं । किन्तु 'सुप्राहम्' का अस्तित्व हमारे मानस में आरम्भ से ही नहीं होता । यह व्यक्ति-विकास की बाद की सीढ़ी का प्रतिफल होता है । जब तक शिशु अपनी प्रवृत्त्यात्मक चेतना को (इदं को) पूर्ण करने में सफल होता रहता है तब तक उसके मन में 'सुप्राहम्' के निर्माण होने का प्रश्न ही नहीं उठता । शिशु जब अपने वातावरण को स्वीकार करता हुआ अगली अवस्थाओं को प्राप्त करने लगता है, उसके 'इदम्' की शक्ति दबती चली जाती है और व्यक्ति अपने जीवन में एक तरह की सामान्य स्थिति स्वीकृत करता चला जाता है । इस प्रकार 'इदम्' से 'अहम्' की ओर 'अहम्' से 'सुप्राहम्' की ओर विकसित होता हुआ मनुष्य 'सुप्राहम्' के प्रभाव में समष्टि-तत्त्वों के प्रति अपने 'व्यक्तित्व' को समर्पित करने लगता है ।

अब हम 'अहम्' को भी समझ लें । अहम् व्यक्तित्व का वह हिस्सा है, जिसका कार्य 'इदम्' की प्रकृत इच्छाभावना और 'सुप्राहम्' की कठोर नैतिकता इन दोनों के बीच मध्यस्थता करना होता है । 'अहम्' वास्तविकता के सिद्धांत से संचलित होता है । बाह्यस्थिति का ध्यान रहने से सुदूरवर्ती सुख का यह अनुगामी है । यह तात्कालिक प्रकृत सुख नहीं चाहता । इसमें संगठन है, योजना है और यह विचारगम्य होता है । 'इदम्' का सिद्धांत इसके प्रतिकूल होता है । 'अहम्' आंशिक रूप से चेतन और आंशिक रूप से अचेतन होता है । जन्म लेते ही, व्यक्ति में 'अहम्' जैसा कोई हिस्सा नहीं होता । 'अहम्' का प्रादुर्भाव परिवेश के संसर्ग में आने से होता है । वस्तुतः 'अहम्' 'इदम्' का ही परिवर्तित रूप है जिसका कार्य 'इदम्' के कुछ अंग को वास्तविकता की कसौटी पर परिवर्धित,—परिवर्तित कर अपने में अपनाना होता है ।[५०] मनुष्य के मानसिक व्यक्तित्व में संतुलन पैदा करने का कार्य 'अहम्' द्वारा संपन्न होता है । साधारण मनुष्य में 'सुप्राहम्' की शक्ति अधिक बलवती होती है । कलाकार 'अहम्' की शक्ति से प्रेरणा प्राप्त करता है । अतः वह 'इदम्' के आवेग को नकारता नहीं और 'सुप्राहम्' की शक्ति से दबकर नष्ट नहीं होता ।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के आधार पर मनुष्य के मानस की विकासात्मक अवस्थाओं का एक निश्चित सूत्र स्पष्ट किया जा सकता है। इस सूत्र में कलाकार और साधारण व्यक्ति के व्यक्तित्व संगठन का फर्क भी स्पष्ट किया जा सकता है। उक्त फर्क को निम्न निष्कर्षों में देखा जा सकता है।

१ शैशव की अवस्था में व्यक्ति का सम्वेदनात्मक अनुभव जीवन-निरपेक्ष होता है। वह अपनी अवबोधित वस्तु के साथ 'तादात्म्य' हो जाता है। यही गुण कलाकार में पाया जाता है। 'इदम्' और इदम् से परिवर्धित 'अहम्' की 'वास्तविकता' के प्रभाव में उसके अनुभव-व्यापार कार्यान्वित होते हैं। 'अहं' और 'इदम्' की प्रकृत प्रेरणाओं को वह सुरक्षित रखता है। इसलिए उसके अनुभव ग्रहण की प्रक्रिया उपयुक्ततावादी दृष्टिकोण से हटकर होती है। हर नए अनुभव को उसकी (अनुभव की) अंगीभूत नवीनता के साथ वह ग्रहण कर सकता है। उसकी सम्वेदनशीलता पूर्वनियोजित एवं पूर्वाग्रह दूषित नहीं होती। शिशु का व्यक्तित्व और कलाकार का व्यक्तित्व इस अर्थ में समान होता है।

२ शैशव अवस्था को पार करने के बाद मनुष्य की दृष्टि और दृष्टिकोण उसके परिवेश से प्रभावित होने लगते हैं। परम्परा, संस्कृति, नैतिकता आदि की परम्परागत एवं समाज सापेक्ष व्याख्याएँ उसकी अवबोधन प्रक्रिया को बाँध देती हैं। जीवन की प्रत्येक घटना, प्रसंग एवं अनुभूति की सम्वेदनात्मक प्रक्रिया व्यवहारवादी एवं उपयुक्ततावादी समीकरणों का प्रतिफलन होने लगती है। इनसे हटकर अनुभव को अनुभव के रूप में देखने की क्षमता उसमें होती ही नहीं। फ्रायड की भाषा में वह सुपरईगो की शक्ति से आबद्ध होता है। अतः साधारण व्यक्ति की सम्वेदनशीलता पूर्वनियोजित ही होती है। उसका व्यक्तित्व जीवन-सापेक्ष होता है। उसका जीवन सामाजिक-व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित होता है।

कलाकार की शिशुवत् जीवन निरपेक्ष और साधारण व्यक्ति की जीवन-सापेक्ष दृष्टियों का सोदाहरण विवेचन स्पष्ट किया गया है। इस सम्बन्ध में एक बड़ा रोचक उदाहरण दिया जाता है। एक चित्रकार ने किसी प्राणी की तस्वीर खींची। चित्रकार की पत्नी ने जब इस चित्र को देखा तो कहा, प्रिय, यह तो बन्दर नहीं है बन्दर की पूँछ कहीं और लम्बी होती है।' पत्नी की प्रतिक्रिया पर चित्रकार को शायद क्रोध भी हुआ, शायद खुशी भी हुई। खुशी इस बात की कि उसने जो चित्र खींचा था वह बन्दर का ही था और पत्नी ने उसे (चित्र को) बन्दर ही समझा, मोर नहीं। क्रोध इस बात का कि बन्दर का चित्र उसकी अपनी व्यक्तिगत जाँच और अवलोकन का फल था। उसने जैसा

अनुभव ग्रहण किया, चित्र खींचा। केवल पूँछ की लम्बाई को लेकर पत्नी ने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की वह उसे अच्छी नहीं लगती। उसने उत्तर दिया 'प्रिये, यह बन्दर नहीं है, बन्दर को देखने पर मुझे जो अनुभूति हुई उसका यह चित्रण है।' इसके पश्चात् चित्रकार की बच्ची ने जब वह चित्र देखा तो वह नीचे की ओर झुक गई और चित्र को भगवान समझ कर अपना सिर झुका लिया। इसे देखकर चित्रकार ने कहा, 'यह तो जरा ज्यादती हुई।' कलाकार में बैठा हुआ 'आदमी' कुछ घबरा गया पर 'आदमी' में बैठा हुआ 'कलाकार' खुश हुआ। उसने कहा, 'खैर मेरी इच्छा हो न हो पर परिणाम तो निश्चित हुआ कि मेरा चित्र बच्ची के लिए भगवान साबित हुआ।'"[११]

इस उदाहरण में चित्रकार और उसकी बच्ची का अवबोधन एक प्रकार की जीवन-निरपेक्ष तल्लीनता को सूचित करता है। बच्ची का बन्दर के चित्र में 'भगवान' को देखना 'वस्तु' के साथ तादात्म्य होने का उत्कट उदाहरण है। पत्नी का वस्त्वाकलन जीवन-सापेक्ष है। समष्टिगत पारम्परिक सत्यों की व्याख्याओं को वह टाल नहीं सकी। समष्टि के लिए कुछ उपयुक्त, कुछ परिचित, कुछ बना बनाया चाहिए। जो सत्य पूर्व परिचित ज्ञान से मेल खाता हो उसी का स्वीकार समष्टि द्वारा होता है। चित्रकार की पत्नी, चूंकि सर्वसाधारण व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती है, वह 'चित्र' में एक ऐसे प्राणी को देखना चाहती है जिसकी सूरत-शक्ल, यहां तक कि पूँछ की लम्बाई वही हो, जिसे लोग बन्दर कहते हैं।

साधारण मनुष्य और कलाकार इन दोनों के व्यक्तित्व संगठन के फर्क को हमने देखा और इनके अवबोधन प्रक्रिया का अन्तर भी स्पष्ट किया। चूंकि कलाकार एक ही समय साधारण मनुष्य भी होता है और कलाकार भी, उसके अनुभव ग्रहण प्रक्रिया में इन दोनों व्यक्तित्वों के बीच संघर्ष होना अटल है। फिर भी कलाकार इस संघर्ष को पाटकर अपना 'कलाकार-व्यक्तित्व' अबाधित रखता है। संघर्ष को पाटने की प्रक्रिया कैसे घटित होती है ? उसकी अवबोधन प्रक्रिया और व्यक्तित्व के दो स्तरों का आपसी सम्बन्ध क्या होता है ? इन प्रश्नों के उत्तर देकर अवबोधन-प्रक्रिया को समझने का हम प्रयत्न करेंगे।

२. अवबोधन-प्रक्रिया और व्यक्तित्व के दो स्तर :

प्रौढ़ अवस्था में कलाकार भी साधारण व्यक्तियों का सा जीवन व्यतीत करता है। उसकी भी कुछ श्रद्धाएँ, जीवनादर्श एवं मूल्य होते हैं। इन मूल्यों के कारण उसका वस्तुदर्शन एवं अवबोधन कुछ हद तक नियन्त्रित हो जाता है। कहीं–कहीं उसके कलाकार–व्यक्तित्व और साधारण-व्यक्तित्व में समझौता

भी असम्भव नही । किन्तु हर समय वह अपने साधारण-व्यक्तित्व को निभाता हुआ, भी कलाकार-व्यक्तित्व को कभी नहीं भूलता । यानी उसका कलाकार-व्यक्तित्व उसके व्यावहारिक-व्यक्तित्व पर हावी हो जाता है । हर अनुभव को 'अनुभव' के रूप म और हर सवेदन को 'सवेदन' के रूप मे ग्रहण करने की उसकी क्षमता बधी रहती है । यही कारण है कि उसकी कलात्मक-अभिव्यक्ति में लौकिक जीवन की अनुपयुक्त रूपक-प्रक्रिया अपने आप गलने लगती है । और अभिव्यक्त मे 'स्व'-निरपेक्ष व्यवस्था का दर्शन होने लगता है । हमने पिछले कुछ पन्नो म फूल का उदाहरण दिया था जिसे फिर से देखें । किसी सुन्दर फूल को देखकर कलाकार को पत्नी या देवता की याद आना असम्भव नहीं पर उसके साथ-साथ 'फूल' की ओर वह इसलिए खींच जाता है कि फूल का मूलभूत-सौंदर्य, उसकी ताजगी, रग, आकार, गन्ध आदि उसके सम्वेदन को जागृत करते हुए रूपक प्रक्रिया के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं । इसप्रकार ही 'वस्तु' के सम्वेदन में कलाकार के मानस पर दो अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ निर्माण होती हैं । एक प्रतिक्रिया जीवन की उपयुक्तता से सम्बन्धित है तो दूसरी प्रतिक्रिया जीवन-निरपेक्ष होती है । दूसरी प्रतिक्रिया कला के घटको को जन्म देती है ।

टी० एस० एलियट ने कलाकार के व्यावहारिक व्यक्तित्व को अपनी आलोचना का विषय बनाते हुए सामान्य व्यक्ति और कलाकार के अनुभूति-ग्रहण-पद्धति (अवबोधन) का फर्क स्पष्ट किया है । वह कहता है, कवि अपना 'व्यक्तित्व' अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि वह एक 'माध्यम' अभिव्यक्त करता है । उसके इस माध्यम में उसकी अनुभूतियाँ एव प्रतिक्रियाएँ एक विशिष्ट तथा अनपेक्षित रूप मे समिश्रित होती हैं । ऐसी अनुभूतियाँ जो कवि मे उपस्थित मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं, कविता मे शायद इन्हें जगह नही होती, और जो अनुभव काव्य मे महत्त्वपूर्ण होते हैं वे व्यक्ति के लिए शायद महत्त्वपूर्ण नही होते । एलियट ने आगे कहा कि सामान्य व्यक्ति प्रेम करता है या स्पिनोझा पढता है किन्तु उसकी इन दो अनुभूतियो मे परस्पर कोई सम्बन्ध नही होता । पुस्तक पढते समय टाइपराइटर की आवाज सुनाई देना या रसोई घर की सुगंध आना इनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता । किन्तु कविमन मे ऐसी जुदी-जुदी अनुभूतियो का एकत्रीकरण एव एकात्मीकरण होकर ये अनुभूतियाँ 'नवीन-पूर्णत्व' मे रूपातरित होती हैं । इस उदाहरण से कलाकार के मन के दो स्तर स्पष्ट हुए हैं । एक स्तर कलाकार के व्यक्तिगत जीवन मे महत्त्वपूर्ण है तो दूसरा उसके कला-जीवन से सम्बन्धित है । व्यक्ति-जीवन की असगतता शायद कला जीवन में सुसगति प्राप्त करती है, तो कला-जीवन का सुसवादित्व व्यक्ति-

जीवन में असंगत लगता है।

यहां यह मानना भूल होगी कि कलाकार के मानस के दो स्तर एक दूसरों से हटे हुए और स्वतन्त्र होते हैं। कई बार 'व्यक्तिगत' अनुभूतियां कला-जीवन में और व्यक्ति जीवन मे एकसी महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। यानी व्यक्ति-जीवन की अनुभूतियां कला-जीवन में अस्वीकृत होती ही हैं, ऐसा नही। होता यह है कि कलाकार एक ही समय विशिष्ट अनुभवों को दो स्तरों पर दो अर्थों में ग्रहण करता है। इसीलिए कभी-कभी व्यक्ति-जीवन के महत्त्वपूर्ण अनुभव कला-जीवन मे अर्थपूर्ण बने रहने की संभावना बनी रहती है। पर शर्त यह है कि ऐसे अनुभवों का बोध व्यक्ति-निरपेक्ष-स्तर पर हो। ऐसे समय कलाकार का व्यक्ति-सापेक्ष सन्दर्भ अनुभव-विशेष के ग्रहण के साथ गल जाना चाहिए और वह विशिष्ट अनुभव वस्तुनिष्ठ स्तर पर पहुँच जाना चाहिए। व्यक्तिनिरपेक्ष या स्वनिरपेक्ष अनुभव—ग्रहण की प्रक्रिया उस अनुभव विशेष के आंतरिक संगठन को विश्लेषित करके ही सम्पन्न हो सकती है। इस विश्लेषण के समय कलाकार की पूर्वानुभूतियाँ रूपक—प्रक्रिया के द्वारा अनुभव विशेष की अन्तर्गत संवेदना और भावना के साथ तदात्मना प्राप्त करने लगती है। इन दोनों तत्त्वों में पुनर्संगठन होकर सृजन की प्रक्रिया संपन्न होती है। व्यक्ति-निरपेक्ष अनुभव बोध की प्रक्रिया कलाकार के व्यक्तित्व की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यही विशेषता उसे साधारण व्यक्ति से और अपने में स्थित साधारण व्यक्ति से अलग करती है। किन्तु इस विशेषता को प्राप्त करने के लिए उसे हमेशा एक आंतरिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है। लूनडाउनी ने कलाकार के उक्त आंतरिक संघर्ष को यों स्पष्ट किया है। वह कहता है, 'यह दोनों स्तर हमेशा लम्बे संवादों में लगे हुए होते हैं। एक स्वर 'मैं' (मी) का होता है जो स्वयं विचार करने वाला, रचना कार्य में लगा हुआ गम्भीर व्यक्ति होता है। दूसरा 'स्वर' 'उस' आलोचक का होता है जो पहले स्वर की अपेक्षा अधिक ऊँचा एवं अधिक उपहासात्मक होता है। इस 'स्वर' का कार्य होता है पहले स्वर को दखल देना, कुछ सवाल करना और पहले के निर्णयों का मजाक उड़ाना। जब पहला किसी रचना के निर्माण में लगा हुआ होता है उस समय दूसरा उस रचना की सुसंगति को तोड़कर कुछ टिप्पणी करता है। ····· जैसे-जैसे पहला स्वर अधिक सूक्ष्म एवं छोटा होता चला जाता है—-छायारूप हो जाता है, (रचनात्मक अनुभव मे तादात्म्य की स्थिति) तब दूसरा कह उठता है, 'तुम्हें जोर से बोलना चाहिए, अगर तुम मुझे सुनना चाहते हो।' यह रिमार्क बड़ा चुस्त और पैना होता है। क्योंकि पहले स्वर को बिना

सुने दूसरे का कोई अस्तित्व नही।"[12] कहना न होगा कि अवबोधन प्रक्रिया में अतत इस 'दूसरे स्वर की सत्ता खत्म हो जाती है। पहला स्वर अनुभव विशेष को कलात्मक स्तर तक ऊँचा उठाने मे सफल हो जाता है। ऐसे समय वह और उसका अनुभव एकात्म हो जाते हैं, व्यक्तिनिरपेक्ष बन जाते हैं। हार्डी की व्यक्ति निरपेक्षता से प्रभावित होकर चार्ल्स मारगेन ने कहा है, "वह एक ऊँचे टीले पर खडा था। वहाँ से उसने अपने अनुभूति क्षेत्र को नापा। यह टीला उसका अपना था वह किसी दूसरे की राय से पछाडा हुआ नहीं था, किसी सस्था का सदस्य नही था। टीले की ऊँचाई से वह देख रहा था। वह न तो केवल पूरब की तरफ देख रहा था न पश्चिम की ओर और न दक्षिण या उत्तर की ओर, उसकी नजरें किसी पसदीदा दिशा में अटकी हुई नहीं थी। उसका जाविये निगार फिक्स नही था। इसलिए उसने यह नही कहा कि 'मैंने सत्य पाया, यह वही सत्य है, इसके अलावा कोई सत्य नही है।' उसने अनुभूति के समूचे क्षेत्र को नापा और कहा, देखो तुम्हे अपनी दृष्टि से क्या दिखाई देता है? और हमने देखा! यद्यपि हमने वह नही देखा जो उसने देखा था पर हमने वह देखा जिसे हमने पहले नही देखा था। हमने वह देखा जो बिना उसके निर्देश के देख ही नही सकते थे।"[13] उपर्युक्त दोनो *उदाहरणो म कलाकार के व्यक्तित्व के दो स्तर और अवबोधन की प्रक्रिया का* पर्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है।

पिछले कुछ पन्नो म हमन सृजन-प्रक्रिया का विश्लेषण करते समय कहा था कि कला निर्मिति की प्रक्रिया म अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष-अलग-अलग नहीं होते। अनुभूति ग्रहण रूपक प्रक्रिया द्वारा ही सिद्ध होता है। इसलिए सृजन प्रक्रिया 'सेंद्रिय सरचना' को जन्म देती है। इस अर्थ मे कोई भी कलाकृति अपनी शर्तों पर आधारित स्वयपूर्ण वास्तविकता है। एक बार इस स्वयपूर्ण वास्तविकता का जन्म हो जाने पर उसका उस वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नही रहता जिससे वह प्रेरणा प्राप्त कर चुकी है। क्योकि कलाओ के बाहर जो वास्तविक है वह दैनिक क्रिया कलापो का औसत जीवन है। वह अपने मे कितना ही तीव्र क्यों न हो, एक सांस से आगे जाकर वह अनिवायत टूट जाता है। अलग-अलग औसत घटनाओ के बीच उस जिन्दगी को पकडना जो दैनिक जीवन के विकृत समझौतो, उसके ठण्डे होते निर्णयों से बाहर है (उसके बीच होते हुए)। यह वही लेखक कर सकता है जो दैनिक यथार्थ का अतिक्रमण करने का साहस रखता है, वास्तविक यथार्थ के परदे पर

अपनी अनुभूत वास्तविकता को प्रक्षेपित करने की क्षमता रखता है।" उपर्युक्त चर्चा से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

१. अनुभूति-ग्रहण की प्रक्रिया कलाकार के मानसिक स्तर पर दो परस्पर विरोधी तनावों को पैदा करती है।

२. एक तनाव जीवन की उपयुक्तता से संश्लिष्ट होकर पुनर्स्थापित होता है तो दूसरा तनाव जीवन की निरपेक्षता से संलिप्ट होकर पुनर्संगठित होता है, इन दोनों व्यवस्थापनों में सतत आदान-प्रदान की प्रक्रिया जारी रहती है।

३. आदान-प्रदान की प्रक्रिया में कई बार व्यक्तिगत जीवन के लिए उपयुक्त अनुभूतियाँ और इनके सन्दर्भ सृजनक्षम सन्दर्भों में रूपांतरित किए जा सकते हैं। रूपांतरण की यह प्रक्रिया तभी सिद्ध हो सकती है जब कलाकार उस सन्दर्भ-विशेष को उसकी (सन्दर्भ) अंगभूत एवं आंतरिक संवेदना के साथ स्पर्श करता हुआ साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर रूपक-प्रक्रिया द्वारा पुनर्संगठित कर सकता है। सामान्य मनुष्य के लिए रूपांतरण असम्भवनीय है। कलाकार सामान्य मनुष्य से यहीं पृथक हो जाता है।

३. आस्वाद-प्रक्रिया और साधारण व्यक्ति

हमने कलाकार का व्यक्तित्व और साधारण व्यक्ति का व्यक्तित्व इन दोनों के फर्क को देखा। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि कलाकार के स्व-निरपेक्ष रूपक-प्रक्रियात्मक मानसिक सन्दर्भों का आस्वादन सामान्य मनुष्य के द्वारा कैसे सम्भव है ? जबकि सामान्य मनुष्य की अवबोधन प्रक्रिया जीवन-सापेक्ष होती है। इस प्रश्न का उत्तर कई तरह से दिया गया है। आस्वादन-प्रक्रिया से सम्बन्धित कई मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रों में उपलब्ध हैं। इन सिद्धान्तों की जांच करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रत्येक सिद्धान्त में सिद्धांत के अनुकूल कला का रूप फर्ज किया गया है। कहीं कलाओं को लोकोपयोगी माना गया है और आस्वादन का सम्बन्ध उस तत्त्व के साथ जोड़ा है तो कहीं कलाओं को इच्छापूर्ति का साधन माना है और उस तत्त्व के साथ आस्वाद-प्रक्रिया जुड़ी है। हमने ऐसे सिद्धान्तों की सीमाओं का जिक्र पहले ही कर दिया है। शिल्पविषयक प्रयोगों के कारण कला की आस्वाद्य-मान्यता बढ़ जाती है इसमें कोई शक नहीं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साधारण व्यक्ति कलाकार के मानसिक सन्दर्भों का आकलन केवल शिल्प-प्रयोगों के कारण कर सकता है। कलाकार के उद्देश्य को जानने के लिए मूलतः कलाकार के अवबोधन-प्रक्रिया की विशिष्टता से परिचित होना आवश्यक है। कलाकार के विशिष्ट अनुभवों

का साधारणीकरण तभी सभव है जब अनुभवों की विशिष्टता वैश्वयिक्ता मे रूपातरित हो सकेगी । यहां कई प्रश्न निर्माण हो जाते हैं जिनके उत्तर देने के लिए आस्वादक और कलाकार के व्यक्तित्वो का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है । चूँकि साधारण व्यक्ति एक आस्वादक के नाते जब किसी विशिष्ट कृति को समझने का प्रयत्न करता है तब उसको अवबोधन प्रक्रिया की क्षमता के अनुपात से कृति का आकलन कर सकता है ।

पिछली चर्चा मे हमने देखा कि तात्त्विक रूप से किसी भी व्यक्ति की अव-बोधन *प्रक्रिया समान सिद्धान्तों के अनुसार ही घटित होती है ।* चाहे कोई व्यक्ति कलाकार हो या न हो वस्तुदर्शन की प्रक्रिया रूपक-प्रक्रिया द्वारा ही समवनीय हो सकती है । किन्तु फर्क केवल इतना ही है कि सामान्य मनुष्य की रूपक-प्रक्रिया जीवन-सापेक्ष सन्दर्भों से निर्माण होती है विरुद्ध इसके कलाकार की प्रक्रिया के सन्दर्भ 'वस्तु' विशेष के साथ सबद्ध होते हैं । कला-कार अपनी ऐन्द्रिय सवेदनाओं मे निर्वैयक्तिक-वस्तुनिष्ठता को देख सकने की क्षमता रखता है । यह क्षमता उसमे कल्पना शक्ति के कारण पैदा होती है । यहाँ यह मानना भूल होगी कि सामान्य मनुष्य का वस्तु-दर्शन कवल जीवन-सापेक्ष ही होता है । वह भी 'वस्तुगत' सवेदना का अनुभव करता है पर उसकी रुचि इसमे न होने के कारण वह व्यावहारिक-सन्दर्भों की ओर मुडता है । अत. सामान्य व्यक्ति म और कलाकार मे केवल उत्कटता की मात्रा का फर्क है । कलाकार को 'वस्तुगत' सवेदन की तीव्र अनुभूति होती है और व्यवहार-गत सन्दर्भ उसके लिए गौण हाते हैं तो साधारण मनुष्य वस्तुगत सवेदन की तीव्रता का अनुभव कलाकार के समान नहीं करता है । इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य मनुष्य का वस्तुगत अवबोधन कुछ हद तक स्थूल और भद्दा तथा क्षीण होता है । अत यह कहना कि 'वस्तु' का वस्तु-गत अनुभव करने की दृष्टि केवल 'भाग्यवानों' को ही प्राप्त होती है, सम्पूर्ण सत्य नहीं है । रिचर्ड्स ने अरस्तू के 'भाग्यवान' की आलोचना करते हुए कहा है कि 'यह कोई जरूरी नही कि केवल कलाकार ही साधर्म्य दृष्टि को लेकर जीते हैं । हम सब मनुष्यो मे साधर्म्य-दृष्टि की क्षमता होती है । यदि ऐसा न होता तो हम कभी के खतम हो जाते । इतना ही कि यह कुछ लोगों मे दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है । फर्क केवल अनुपात का है ।'[५] रिचर्ड्स का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । साधारण व्यक्ति कलाकार की विशिष्ट अनुभूति का आस्वादन क्योंकर सकते हैं इसका उत्तर उक्त कथन म मिल सकता है । चूँकि सामान्य मनुष्य मे वस्तुगत-रूपक प्रक्रिया को कार्यान्वित करने की कुछ न कुछ क्षमता

होती है, वह कला का कुछ न कुछ आस्वाद तो ले ही सकता है। कलाओं के सम्पर्क में धीरे-धीरे उसकी यह क्षमता वृद्धिगत होने लगती है। उसकी कलाभिरुचि दिनोंदिन विकसित होने लगती है। वैसे कलाओं का रूप अपने आप बड़ा अभिजात (एरिस्टोक्रेटिक) होता है। क्योंकि कला-समष्टि के आकलन-क्षेत्र में बैठना पसन्द नहीं करती। कला के अस्वादक, सदैव अल्पसंख्यक होते हैं। इस सीमित समूह का कलास्वादन उपर्युक्त तत्त्व के आधार पर ही सम्पन्न होता है। सीमित समूह का आकलन अपने से बड़े समूह को प्रभावित करने लगता है। और इस प्रकार प्रभाव के कई स्तर निर्माण होते हुए एक ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ कलाओं की विशिष्ट संवेदनशीलता अगले युग के 'युगबोध' के रूप में प्रकट होने लगती है। 'विशेष' सामान्य बन जाता है, और फिर एक नये 'विशेष' की जरूरत निर्माण होती है। इस प्रकार युगीन कलाभिरुचि विकसित होती है।

४. व्यक्तित्त्व और संवेदनशीलता

ऊपर हमने सामान्य मनुष्य की अनुभव ग्रहण पद्धति को स्पष्ट करते हुए कलाकार के व्यक्तित्त्व के साथ उसकी तुलना उपस्थित की। इस तुलनात्मक जाँच में आस्वादन-प्रक्रिया के स्वरूप का विश्लेपण भी प्रस्तुत किया, और पाया कि कलाकार का विशिष्ट व्यक्तित्त्व उसकी संवेदन ग्रहण-पद्धति के कारण ही साधारण मनुष्य के व्यक्तित्त्व से अलग पड़ जाता है। अतः कलाकार ही संवेदनशीलता की विशिष्टता का पर्यायवाचक तत्त्व बन जाता है। चूँकि कलाकार संवेदनशीलता उसकी अनुभूति ग्रहण पद्धति और अभिव्यक्ति-पद्धति का संश्लिष्ट रूप है, कला का विश्लेपण अन्ततः संवेदनशीलता का ही विश्लेपण होता है। इस अर्थ में कला की 'संवेदनशीलता' कला-सृजन का 'मूलतत्त्व' है, इसमें कोई संदेह नहीं।

साधारणतया समान संवेदनशीलता के कलाकार एवं उनकी कृतियाँ अपनी समकालीन कलाकार पीढ़ी का एवं युग विशेष का प्रतिनिधित्त्व करती हैं। तब भी प्रत्येक कलाकार का व्यक्तित्त्व समकालीनों की तुलना में कुछ हद तक स्वतन्त्र होता है। उदाहरणार्थ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के कहानीकार विशिष्ट संवेदनशीलता का प्रतिनिधित्त्व करने वाले कहानीकार हैं जरूर, पर इनमें प्रत्येक कहानीकार की संवेदनशीलता में अपने समकालीनों से एक अलग 'कोण' पाया जाता है। यानी प्रत्येक कलाकार समान संवेदनशीलता को रखते हुए भी अपनी अनुभव-ग्रहण की प्रक्रिया में एवं अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में दूसरे से अलग होता है। एक की अनुभव-चयन की प्रक्रिया दूसरे से भिन्न होती है। इस चयन का आधार क्या

है ? यदि हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकें तो एक ही समय के विशिष्ट कलाकार की संवेदनशीलता का विश्लेषण किया जा सकता है ।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि सामान्य मनुष्य का भावबोध जीवन की उपयुक्तता के संदर्भ मे होता है । उसकी अनुभव-चयन की प्रक्रिया भी इसी संदर्भ मे कार्यरत होती है । उसकी संवेदनशीलता सुग्राह्म् द्वारा नियन्त्रित होती है । चूंकि सुग्राह्म् पारम्परिक विकास का प्रतिफलन है, उसमे सामूहिकता एव समष्टि का तत्त्व निहित होता है । किंतु सामान्य मनुष्य की सामूहिक चेतना के अन्तर्गत व्यक्तिगत संवेदनशीलता का भी हिस्सा शामिल हुआ रहता है । किसी युग-विशेष की समग्र चेतना उक्त युग की संवेदनशीलता और परम्परा से विकसित सामूहित संवेदनशीलता का संश्लिष्ट रूप उपस्थित करती है । कलाकार भी एक सामान्य व्यक्ति होता है, वह किसी युग विशेष मे जीता है, अतः उसका व्यक्तित्व युगबोध के द्वारा नियन्त्रित रहता ही है । परन्तु कला-सृजन की प्रक्रिया मे वह युगबोध के नियन्त्रण से हटता चला जाता है । जितना अधिक वह इस नियन्त्रण से मुक्त हो सकेगा, अलिप्त हो सकेगा, उतनी उसकी कला निर्मित निस्संग तथा तटस्थ होगी । नहीं तो उसकी कला वही पारम्परिक, यान्त्रिक एव कला-बाह्य मूल्यो को समेटे हुए प्रकट होती रहेगी । स्पष्ट है सामान्य मनुष्य इस प्रकार की पारम्परिक कलाओ मे अधिक रस लेता है । इसीलिए देखा यह गया है कि घटिया दर्जे के कलाकार प्रसिद्धि के परवान बहुत जल्दी चढ जाते हैं । *सच्चे लेखक की संवेदनशीलता और कलाभिव्यक्ति सामान्य* मनुष्य की अपेक्षाओ की पूर्ति नहीं कर सकती । क्योंकि उसकी संवेदनशीलता हर नयी अनुभूति के अन्तरसंगठन का विश्लेषण करती हुई उपयुक्तता–निरपेक्ष बनकर पूर्वानुभूतियों को नयी अनुभूति के साथ संश्लिष्ट करती हुई नव व्यवस्थापन को जन्म देती है । अत: संवेदनशीलता एक ऐसा तत्त्व है जो पूर्वानुभूतियो के व्यवस्थापन से नवीन अनुभूति के साथ संगठित हो जाता है और प्रत्येक लेखक की हद तक विशिष्ट व्यक्तित्व को उभारता रहता है । इस प्रकार किसी लेखक का व्यक्तित्व अर्थात् उसकी संवेदनशीलता पूर्ण विकसित हो जाय तब उस व्यक्तित्व के सम्मुख पड़ने वाला प्रत्येक अनुभव व्यक्तित्व से नियन्त्रित होने लगता है । यही एक कलाकार की संवेदनशीलता दूसरे की तुलना मे अलग हो जाती है ।

ए संवेदनशीलता : गत्यात्मकता और गत्यावरोध

उपर्युक्त चर्चा मे हमने देखा कि युग विशेष की समग्र चेतना के बीच प्रत्येक कलाकार की कुछ अपनी खास संवेदनशीलता होती है, उसका अपना

व्यक्तित्व होता है। जब तक उसकी संवेदनशीलता संपूर्णतया विकसित नहीं हो पाती, उसका भावबोध और अभिव्यक्ति में कुछ कच्चापन, कुछ अनाड़ीपन (अमच्युरिश) रह जाता। जैसे-जैसे वह अधिक निर्वैयाक्तिक एवं तटस्थ बनता जाएगा, वैसे उसकी संवेदनशीलता अधिक समृद्ध होती जाती है। इस प्रकार उसकी संवेदनशीलता गतिशीलता के तत्त्व को लिये समृद्ध बनती जाती है। किन्तु कई बार कलाकार का व्यक्तित्व के विकास के एक बिन्दु पर आकर रुक-सा जाता है। इस अवस्था में उसकी संवेदनशीलता अपनी अंगभूत गत्यात्मकता को खो बैठती है, और नवीनता के विकसनशील अनुभवों को स्वीकृत करना बन्द कर लेती है। यानी उसका प्रत्येक बोध रुकी हुई संवेदनशीलता की जड़ता से प्रभावित होता जाता है। ऐसा कलाकार हर नये संवेदन को अपनी चौखट में कसने की कोशिश करता है। हर नयी अनुभूति के साथ उसकी संवेदन-क्षमता विकसित नहीं होना चाहती। उसका लचीलापन ही समाप्त हो जाता है। तिस पर भी यदि वह कुछ लिखना ही रहे, निश्चित ही उसकी रचनाओं में एकरसता आती रहेगी, उसकी रचना सृजन की अपेक्षा यान्त्रिक निर्मित में लगी रहेगी। संक्षेप में उसकी संवेदनशीलता में गत्यावरोध आने लगेगा। इस गत्यावरोध के क्या कारण हो सकते हैं? यदि इन कारणों की जाँच की जाय तो जीवन्त कलाकृति और मृत-रचना इन दोनों के फर्क को समझा जा सकेगा।

१. युगबोध का आक्रमण

साहित्य इतिहास के विकास में ऐसे कई मोड़ होते हैं जहाँ कलाकार की विशिष्ट संवेदनशीलता को उसकी 'प्रकृति' के अनुसार पनपने ही नहीं दिया जाता, कहीं तो उसपर 'युगबोध' के बन्धन लादे जाते हैं। और कहीं उसे निश्चित मानदण्डों की दिशा में मोड़ दिया जाता है। शायद यही कारण है कि साहित्य-इतिहास को निश्चित कालखण्डों में विभाजित करके परखना पड़ता है। विशिष्ट युग की आलोचना के मान भी कई बार युग की माँगों का मिला जुला रूप उपस्थित करते हैं। इन बन्धनों के कारण संवेदन प्रक्रिया की 'क्षमता' को ही कहीं धक्का पहुँचता है और वह निर्धारित एवं सपाट रास्ते पर ही चलना अपना फर्ज समझने लगती है। यूँ तो प्रत्येक साहित्यकार अपने युग की उपज होता है, किन्तु श्रेष्ठ कलाकार युगीन आकांक्षाओं के सिकंजे में बंधना नहीं चाहता। जो फँस जाते हैं उनकी संवेदनशीलता स्थिर-पद हो जाती है। युगबोध का अतिरिक्त आक्रमण कलाकार के व्यक्तित्व को

खत्म कर देता है। युगबोध का आक्रमण कई तरह का और कई रूपो मे होता है। प्रत्येक कलाकार अपने अनुभवो के प्रति प्रतिबद्ध होता है, अत वह अपनी कला उसी (अनुभूति) के सम्मुख समर्पित करता है। किन्तु दुख इस बात का है कि हमारे यहाँ समर्पण' की प्रक्रिया को धर्म, देश, जाति, सस्कृति आदि शक्तियों मे आबद्ध किया गया है। आधुनिक युग मे युगबोध के आक्रमण को और एक नयी शक्ति शामिल की गई है जिसे बाजार की माँग' कहा जाता है। उपर्युक्त शक्तियाँ कलाकार की सवेदनशीलता पर कुछ ऐसा दबाव डालती हैं कि साधारण कलाकार इन शक्तियो के साथ समझौता कर लेते हैं। इस प्रकार जो कलाकार इन शक्तियो के आधीन हो जाते है, उनकी रचनाएँ मृतवत् हो जाती हैं।

७. शिल्प का आकर्षण

सवेदनशीलता के विकास के प्रत्येक चरण पर शिल्पगत आकर्षणों की कुछ पगडडियाँ होती हैं जिनकी राह से गुजर कर कुछ कलाकार मजिल को प्राप्त कर लेते हैं और प्रसिद्धि का तमगा हासिल कर लेते हैं। कलाओ के क्षेत्र म प्रसिद्धि के पीछे लगने वाले कलाकार इन 'पगडडियो' को श्रेष्ठता की कसौटी मान लेने की गलती कर बैठते हैं, जिससे उनकी रचनाएँ सस्ती अभिरुचि का शिकार बन जाती हैं। सवेदनाओ का सुथरापन श्रेष्ठता की कसौटी हरगिज नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसी रचनाओ मे कला की अपेक्षा कारीगरी को महत्त्व दिया जाता है। 'अब यह सही है कि कारीगरी-युक्त रचनाओ को प्रसिद्धि के परवान चढा दिया जाता है। अभिरुचिहीन कलाप्रेमी और अशिक्षित भीड ऐसी रचनाओं को महत्त्व देते हैं। ये लोग कलाकार के कौशल पर, उसके 'क्लाइ-मैक्स' पर फिदा होने लगते हैं। कुल मिलाकर इनका ध्यान कला के 'सत्याभास' पर केन्द्रित होता है न कि सत्य पर।'[4] कई बार साहित्य-आलोचना भी इस सत्याभास का शिकार बन जाती है और शिल्प पक्ष को अतिरिक्त महत्त्व देती हुई, साहित्यलोचन के कुछ 'तत्त्व' निर्धारित करने लगती है। इन्ही तत्त्वों को कलाओं की कसौटी मानकर कला रचना की परख होने लगती है– शिल्पवादी आलोचना का गुट बन जाता है। जब इस प्रकार के तथाकथित कलारसिको की बहुत बडी सख्या सवेदना के सुथरेपन की प्रशसा मे लग जाती है, तब रचनाकार आपही आप सस्ती कला–निर्मिति के पीछे पड जाते हैं– कई आक-र्षक 'चीजें' बनने लगती हैं। समाज के साधारण से साधारण गुट को भी सतोष दिलाने का झटपट श्रेय पल्ले पड जाता है। सत्य की अपेक्षा सत्याभास

को तरजीह देनेवाली रचनायें 'प्रसिद्ध' (पाप्यूलर) बन जाती हैं और प्रसिद्धि के मोह को टालना रचनाकार के लिए भी कठिन हो जाता है। सस्ती प्रसिद्धि से बचने के लिए पगडंडियों की राह छोड़कर उसी मार्ग को अपनाना पड़ता है जो भीड़ को पसंद नहीं होता। यही कारण है कि श्रेष्ठ कलाकार बहुत सीमित लोगों को प्रभावित कर सकता है।

३. अल्प संतुष्टता

संवेदनशीलता की स्थिरता का यह भी एक कारण है कि कभी-कभी स्वयं कलाकार अपनी संवेदनशीलता के किसी एक विशिष्ट कोण पर निहायत प्रेम करने लगता है। शायद इसलिए कि उसका यह विशिष्ट कोण एक बार आलोचक मान्य एवं रसिकमान्य हो चुका होता है। और तब इनकी संतुष्टि के लिए वह बार-बार उसी विशिष्ट कोण का प्रदर्शन करने लगता है। वह अपनी इस सीमित श्रेष्ठता से बड़ा संतुष्ट रहता है। इस अल्पसंतुष्टता के कारण वह बार–बार उसी सन्दर्भ को अभिव्यक्ति करने लगता है। जिसमें केवल प्रसंग बदलते जाते हैं किन्तु संवेदनशीलता में एकरसता निर्माण होने लगती है। धीरे-धीरे उसकी संवेदनशीलता बूढ़ी होने लगती है। जिस प्रकार सजीव प्राणी निश्चित विकास के पश्चात् बूढ़ा होकर अपनी शारीरिक एवं मानसिक गतियों को कुंठित कर देता है उसी प्रकार ऐसे कलाकार की संवेदनशीलता एक सीमा तक विकसित होकर वृद्ध हो जाती है । उसकी विकासोन्मुख क्षमता ही समाप्त हो जाती है। जैसे–तैसे भी हो जिंदा रहने की अभिलाषा में ऐसे कलाकार या तो किसी श्रेष्ठ कलाकार की संवेदनशीलता की नकल करने लगते हैं या नहीं तो जीने की करुण अकुलाहट का प्रदर्शन करने लगते हैं। चूंकि संवेदनशीलता कला–सृजन का मूलतत्त्व है उसकी चेतनता एवं असाधारणता पर ही साहित्यिक कलाकृति की श्रेष्ठता आधारित होती है।"

चर्चा के दौरान कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यताओं का विवेचन एवं विश्लेपण उपस्थित किया गया और कलासृजन की संपूर्ण प्रक्रिया को उसके महत्त्वपूर्ण स्तरों का विश्लेपण प्रस्तुत करते हुए समझने की चेष्टा की।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त चर्चा में 'कविता' कहानी, कला, कलाकार आदि शब्द विधा-विशेष कला-विशेष के लिए उपयुक्त नहीं हुए हैं अपितु कला-व्यापार की विविध समस्याओं को समझने के लिए

'प्रतीकात्मक' रूप मे उपयुक्त हुए हैं। अत. आलोचकों की कविता-विषयक एव अन्य विधा विषयक मान्यताएँ उस हद तक सीमित नही हैं। हम 'कहानी' का अभ्यास करना चाहते हैं। 'कहानी' एक विधा—विशेष है परन्तु इसकी सम्पूर्ण समस्यायें तत्वत कला-प्रक्रिया की समस्यायें हैं। इस अर्थ में प्रथम अध्याय के सम्पूर्ण निष्कर्ष कहानी-विषयक समस्याओ का हल उपस्थित करने के लिए प्रयुक्त किये जायगे !

सम्पूर्ण अध्याय की चर्चा से निम्न निष्कर्ष हाथ आये हैं जिनके आधार पर हम कहानी की सवेदनशीलता का विश्लेपण करना चाहेगे।

निष्कर्ष

१ साहित्यिक कलाकृति की सवेदनशीलता के विश्लेपण का आधार 'कृति' का वह रूप है जो 'वस्तुनिष्ठ' होकर भी गतिशील होता है। अतः साहित्यिक कलाकृति न केवल इन्द्रिय-गम्य 'वस्तु' होती है न विशिष्ट मनोदशा का परिणाम और न ही अपरिवर्तनीय मानको की सरचना।

२. ससार की किसी भी 'वस्तु' के समकक्ष साहित्यिक कलाकृति को नहीं रखा जा सकता क्योकि उसकी पृथक् सत्ता होती है। अत साहित्य-कृति का प्रत्येक आस्वादन प्रत्यक्ष अवबोधन के बिना असभव है।

३. साहित्यिक कलाकृति की 'वस्तुनिष्ठ गत्यात्मकता' सृजन की उस प्रक्रिया का प्रतिफलन है जो साहित्यकार के मानस के अवचेतन स्तर पर घटित होती है। अत साहित्यिक कलाकृति की भाषा प्रतीकात्मक एव बिम्बात्मक होती है। इसका जगत भावजगत एव 'कल्पना-जगत' से निर्मित जगत् होता है।

४. साहित्यिक कलाकृति अपने आप मे कोई 'खोज' नही होती बल्कि 'सृजन' होता है जो साहित्यकार की विशिष्ट कल्पना-प्रक्रिया का फल होता है।

५. साहित्यिक कलाकृत एक 'सेन्द्रिय सरचना' होती है अत उसका प्रत्येक घटक 'सेन्द्रिय सरचना' का प्राकृतिक अग होता है। इसका अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष अलग-अलग नही होते अपितु एक ही 'सृजन प्रक्रिया' के स्वाभाविक तत्व होते हैं।

६ साहित्यकार का प्रत्येक अनुभव उसके मानस पर दो परस्पर विरोधी

के ये गुण समाप्त हो जाते हैं या क्षीण होने लगते हैं साहित्य कृति मे एक रसता, जडता एव अन्य कलाबाह्य तत्वो का प्रवेश होने लगता है ।

सवेदनशीलता के गत्यावरोध के कारणों म युगबोध का आक्रमण, शिल्प का अतिरिक्त आकर्षण, साहित्यकार की अल्पसतुष्टता एव अन्य कलाबाह्य आकर्षणो की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वीकृति आदि प्रमुख कारण है ।

---

२. कलाकृति की रचना-प्रक्रिया

अकहानी कहने मे अधिक सतोष का अनुभव करती है । समकालीन कहानी का 'रचना'-बोध किसी अतिरिक्त, बाहरी शिल्प-चेतना को ओढ ही नही सकता । इसका कदापि यह अर्थ नही कि बिना 'शिल्पबोध' केकिसी 'रचना' का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है । अर्थ इतना ही है कि हर नया अनुभव अपने साथ अपने अनुरूप शिल्प को लेकर ही मूर्त हो सकता है । हाँ 'अनुरूपता' के लिए सतत सघर्षशील एव प्रयोगशील रहना उसकी मजबूरी है । शिल्प-बोध की अनिवार्यता को नव साहित्य के आलोचको ने और कतिपय सर्जनशील साहित्यकारो ने बडी तीव्रता से महसूस किया है । रचना प्रक्रिया रचनात्मक अनुभूति की प्रक्रिया है । इसे स्पष्ट करते हुए डा० परमानद श्रीवास्तव ने कहा है–'रचनाकार अपनी अनुभूति के चरम उद्वेग-क्षण म उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए ही विविध कला-रूपों की सृष्टि करता है । साहित्य भी ऐसे कलारूपो मे से एक है और रचनात्मक साहित्य की ही एक विधा 'कहानी' है जो प्रवृत्ति की दृष्टि से कितनी ही प्राचीन क्यो न हो, रूपगत एव रचनात्मक विशेषताओं की दृष्टि से नवीन उपलब्धि है रचना प्रक्रिया के अनर्गत रचनाकार का अनुभव विचार, बिम्बविधान सभी कुछ विचार्य होता है ।" रचनाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति दो अलग तत्त्व नही हो सकते । यह भावना भूल होगी कि सवेदन और उसकी अभिव्यक्ति दो क्रियाएँ हैं और दोनो का योग ही किसी 'रचना' को अस्तित्व प्रदान करता है । सच तो यह है कि 'सपूर्ण रूपत्व' रचना का अर्थ होता है और 'अर्थ' 'रूप' को जन्म देता है ।" काव्यात्मक अनुभव जिस प्रकार अपनी 'बिम्बसृष्टि' लेकर रूपायित होता है कथात्मक अनुभव भी अपने बिम्ब जगत् मे ही रूपायित होता है । अत कथा-समीक्षा के लिए रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है । क्योकि 'अनुभव की दुर्निवारता या प्रामाणिकता की टोह के लिए प्रतीको या बिम्बो का नही चरित्र-निर्माण-क्षमता, कथानक सघटन-शक्ति आदि का अस्तित्व कथाकार मे होना आवश्यक है ।" पर दुर्दैव यह कि नई कहानी के कई आलोचको ने कहानी की अनुभूति को एक इकाई के रूप मे देखना छोड दिया । परिणाम यह हुआ कि 'उन्होंने कहानी के सत्य को ही नही, बल्कि कहानी के 'कहानीपन' की समझ भी खो दी ।" अत. कथा साहित्य के 'शिल्प' की अनुभूति पक्ष से अलग हटकर व्याख्या करना 'कथासाहित्य' को कला न मानकर एक यात्रिक रचना मानने के बराबर होगा, जो सही नही है । रमेश बक्शी के इस कथन से हम सहमत हैं कि कथासाहित्य का शिल्प 'इन्द्रिय सचेतना' की प्रक्रिया का बोध है । नई कहानी एक ओर यदि सही-सही अनुभूति को सही ढग से ग्रहण करना है तो

दूसरी ओर सार्थक अभिव्यक्ति को कलात्मक मोड़ देना भी है ।[४] किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि प्राचीन दौर के क्या कथाकार क्या समीक्षक यह मानकर ही चलते रहे कि 'जीवन दृष्टि' की विशिष्टता को किसी आकर्षक एवं संगत माध्यम द्वारा अभिव्यक्त कर देने से उनका उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है। और इधर समकालीन कहानी की सार्थकता का बिगुल बजाने वाले आलोचक और कलाकार आधुनिकता का नारा लगाते हुए 'शिल्प बोध' की अनिवार्य आवश्यकता पर संदेह प्रकट करने लगे हैं। दलील यह दी जाती है कि आधुनिक मानव की आंतरबाह्य बदलाहट किसी भी 'शिल्प' में प्रामाणिकता से अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। इस संबंध में निम्न वक्तव्य द्रष्टव्य है—

'जिन कथाकारों ने 'प्रयोगस्थिति' से हटकर जीवन की वैचारिक भूमिका का आश्रय लिया हो, उनकी भाषा और उनका वाक्य रचना-विधान इतना अग्राह्य है कि अक्सर कथा पढ़ने और निबंध पढ़ने के भ्रम को साथ लिए चलना पड़ता है।'[५] स्पष्ट है, आलोचक ने 'प्रयोग-स्थिति' से हटने की बात पर जोर दिया है, और समकालीन कहानी को 'निबंध' के निकट होना माना है। साथ-साथ इस वक्तव्य में कहीं न कहीं 'कहानी' के 'कहानीपन' को नकारने का भाव छिपा हुआ है। इस वक्तव्य को यदि स्वीकृत कर लिया जाय तो हमें शिल्प की अनिवार्यता को ही नकारना पड़ेगा और रचना की आस्वाद्यमानता ही समाप्त हो जायगी। समकालीन जीवन की अनिवार्य 'गतिशील-जटिलता' को स्वीकृत करके भी हम यह नहीं कह सकते कि 'रूपविहीन' संवेदन अपने आप में कोई चीज है। जहाँ सृजन-प्रक्रिया सिद्ध होती है वहाँ अमूर्त का 'मूर्त' होना प्रक्रिया के साथ ही जुड़ा हुआ होता है। अतः 'प्रयोग-स्थिति' को नकारना सृजन को ही नकारना है। हमारा यह आग्रह नहीं कि किसी विशिष्ट अनुभूति को विशिष्ट परम्परागत ढाँचे में ही अभिव्यक्त होना चाहिए; हमारा आग्रह है रचनात्मक बोध की अनिवार्यता की स्वीकृति। पर जहाँ रचनात्मकता की चुनौती को फैलने की उत्तेजना ही नहीं है वहाँ 'अनुभूति' केवल अमूर्त भावनिक आक्रोश होकर रहेगी। और फिर ऐसी रचना 'अपनी चौंकाने वाली दार्शनिक मुद्रा के बावजूद महज एक अ-रचनात्मक प्रक्रिया हो सकेगी। कहानी को उसकी रचनात्मकता की अरूढ़ और गतिशील विशिष्टता के परिप्रेक्ष्य में देखने से जो जानकारी मिलेगी वह वास्तव में कहानी से संबंधित लेखकीय दुनिया की जानकारी होगी। इससे शायद यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि कहानी से 'संबंधित' हो जाने के बाद लेखक और पाठक के संबंध क्या हो जाते हैं।'[६] इस चर्चा से यह सिद्ध होता है कि 'शिल्प' कोई कृत्रिम प्रक्रिया नहीं वह सहज आंतरिक

प्रक्रिया है। 'शिल्प-बोध' लेखकीय अनुभूति के सामर्थ्य से जन्म लेकर पुष्ट होता है, सतही शिल्प-सयोजन केवल चौंकाने का काम करता है। नवलेखन में विविध साहित्यिक विधाओं का एक दूसरों में अनिवार्य मिश्रण मानकर भी किसी 'विधा' विशेष का 'हुलिया' सुरक्षित रहना आवश्यक है। विधागत प्रयोग-शीलता 'रचना' की जीवतता का लक्षण है, इसमें कोई शक नहीं पर बिना खाल के 'प्राणि' को 'प्राणि' कहना तर्कसगत नहीं है। 'शिल्पबोध' की अनिवा-र्यता रचनाकर्म की अगभूत शर्त है।

आशय और अभिव्यक्ति का अद्वैत

कला की रचना-प्रक्रिया मे 'शिल्पबोध' की अनिवार्यता सिद्ध की जा सकती है। अब प्रश्न यह है कि साहित्यकला का 'आशय' अपनी अभिव्यक्ति अपने साथ लेकर रूपायित कैसे होता है ? वह कौन सी प्रक्रिया है जिसके फल स्वरूप आशय और अभिव्यक्ति का 'अद्वैत' सिद्ध हो सकता है। साहित्यिक कलाकृतियाँ अपने इस अगभूत 'अद्वैत' को कई रूपो म सिद्ध करती हैं। 'अद्वैत' को सिद्ध करने के जितने रूप हो सकेंगे उतनी ही *विधाएँ (फार्म्स)* उभरती रहेंगी। हमने पिछले कुछ पन्नो में विविध साहित्यिक विधाओं के परस्पर समिश्रण की बात उठाई थी। *वहाँ हमने इसप्रकार के समिश्रण को तत्वत मान्य कर लिया* था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य की मूलभूत विधाएँ नष्ट हो जायेंगी और अपना जन्मजात हुलिया बदल देंगी। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि साहित्यिक कलाओं का माध्यम 'शब्द' हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई 'माध्यम' साहित्यिक कलाओं के लिए अनुपयुक्त ही होगा। रग, पत्थर एव स्वर आदि अन्य माध्यमो का प्रत्यक्ष प्रयोग साहित्य में असभव है। हाँ, इन माध्यमों द्वारा प्रेरित सवेदनाओं का प्रभाव साहित्य में सूचित किया जा सकता है। अर्थ यह हुआ कि भाषा अन्य कलाकृति मे भाषा सवेदना के अतिरिक्त अन्य किसी साधन का प्रयोग नही किया जा सकता। अत विधात्मक भेद के बावजूद भाषाजन्य कलाओं की सृजन-प्रक्रिया एक ही होगी। ससार के व्याव-हारिक क्रिया-कलापों को समझने के लिए और समझाने के लिए 'भाषा' का निर्माण एव विकास हुआ है। भाषा अपने आप मे सकेतों का मजमूआ है जिसे मूलत उच्चार-प्रक्रिया से सुना जाता है और सकेतो के आधार पर जिसका अर्थ-ग्रहण किया जाता है। ससार की प्रत्येक गतिविधि *'भाषा'* में व्यक्त की जा सकती है। जहाँ तक साहित्यिक गतिविधि का सबध है इसमें इसी सामा-जिक *'भाषाबोध'* को विशिष्ट स्तर पर अभिव्यक्त किया जाता है। अतः सामा-जिक-व्यावहारिक 'भाषा' और साहित्यिक 'भाषा' में प्रवृत्यात्मक भेद होता है।

साहित्यकला मूलतः हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों का अभिव्यंजित भाषारूप है चाहे वह गद्य में हो या पद्य में। वस्तुतः साहित्यकला में गद्य भाषा और पद्य भाषा ऐसे कृत्रिम भेद नहीं किये जा सकते। केवल छंदबद्ध भाषा लिखने से पद्य नहीं बनता और न इसके बिना 'गद्य' निर्माण होता है। कई बार पद्यात्मक भाषा-प्रयोग सही अर्थ में पद्यात्मक (काव्यात्मक) नहीं होते और ऊपर-ऊपर से गद्य लगने वाला भाषा-प्रयोग अत्यन्त काव्यात्मक हो सकता है। इसलिए 'भाषा' के केवल दो ही रूप हो सकते हैं—

१. व्यावहारिक भाषा २. साहित्यिक कलाओं की भाषा। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने समूचे साहित्य को 'काव्य' कहा है और व्यवहार की भाषा और साहित्य की भाषा में स्पष्ट अन्तर ध्वनित किया है। अब देखना यह है कि साहित्यिक कलायें अपने अंगभूत आशय और अभिव्यक्ति के अद्वैत को कैसे सिद्ध करती हैं। हम कुछ उदाहरण लेते हुए उक्त प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न करेंगे।

१. 'तन ने सम्पर्कों की सारी सीमाओं को पार किया,
पर न हुआ तृप्त हिया
तप्त वासनाओं की भूखी-नंगी कायाएँ देखीं········सब कुछ रसहीन लगा
(नाव के पाव पृ० ९ जगदीश गुप्त)

२. बावजूद इसके मैंने हाथ बढ़ा के सीता को अपनी ओर खींच लिया। वह मुस्काई, अपने नखरे के सफल होने पर-मैंने एकाएक उसे छोड़ दिया। काले पपड़ी, खरिंड को देखा-बंदूक की गोली का निशान। मैंने नजरें हटा लीं। मगर मुझे उसकी गर्दन-जैसे उस दिन कल्पना में देखी थी-याद हो आई। छेद में से निकलता गर्म लाल लहू और ब्लाउज में गुम होता, गर्दन से छाती तक लकीर! मैंने मुड़कर देखा, उसे देखने के लिए! शायद वह वहाँ हो!···नहीं, गर्दन साफ थी। मगर मैं कल्पना में बन्दूक की गोलियों के निशानों को उसकी देह पर देखने लगा छाती में, नाभी में, रानों में······एक कपोल पर-जहाँ देखता था वहाँ बिना आवाज अदृश्य बन्दूक में गोली निकलकर धँस जाती थी··············
उस समय वह न खूबसूरत लगी न बदसूरत। खूबसूरती और बदसूरती के बीच, दोनों से मिली हुई नहीं, दोनों के बीच, निरर्थकता के रंग जैसी। रबर की-सी रबर और मिट्टी की बनी, बेअसर बदसूरती के नमूने लिए हुए। उफ! मैंने तब महसूस,

किया कि असल मे मैं इस चीज को फोडना चाहता था, इसी निरर्थकता को इसी को। और यही ज्यां की त्यो बनी हुई है।
(एक पति के नोट्स, महेन्द्र भल्ला पृ० ९९)

३. 'इस कहानी को पाठक विकृति, अनैतिकता, अश्लीलता, अमानवीयता, बुराई आदि की कहानी कहना चाहेगा, पर यही वह स्तर है जहाँ कहानी यथार्थ को उसके अधिक सच्चे रूप मे उठा लेती है। निश्चय ही कहानी इन दुष्कर्मों की है, पर आधुनिक सदर्भ म बुराई की सिग्नीफिकैन्स ही कहानी का मूल भाव प्रतीत होता है।' (यथार्थ का शिल्प–डा० देवीशकर अवस्थी)

ऊपरी तौर से उपर्युक्त तीनो वाक्य–खडो को देखने से पता चलेगा कि प्रथम खड पद्यात्मक है और शेष दो गद्य-खड हैं। मैंने विश्लेषण की सहूलियत के लिये कुछ शब्दो और वाक्यो को रेखांकित किया है। प्रथम वाक्य-खड का *अन्वयार्थ* इस प्रकार हो सकता है–कि तन ने *सम्पर्कों की सारी सीमाओं* को पार किया, *तप्त वासनाओं की भूखी नगी कायाएँ* देखी, पर सब कुछ रसहीन लगा और *हिया तृप्त नही हुआ*। स्पष्ट है, भाषा का यह प्रयोग व्यावहारिक एव नित्य की बोलचाल का नही है। भाषा तो वही है पर रूप कुछ और है। क्योकि व्यावहारिक भाषा म 'सम्पर्कों की सीमा पार करना', 'हिया तृप्त होना', 'तप्त वासनायें,' 'भूखी-नगी कायाएँ,' सब कुछ रसहीन लगना, इस प्रकार के प्रयोग साधारणत प्रयुक्त नही होते। वासना तप्त कैसे होती है? पानी का तप्त होना समझ मे आ सकता है। भूखी–नगी कायाएँ रसहीन या रसमय कैसे होती है? कोई फल रसहीन या रसमय हो सकता है। इस जैसी और कई शकाएँ निर्माण की जा सकती हैं। हम जानते हैं कि इस प्रकार की शकाएँ उपर्युक्त वाक्य खड के सन्दर्भ मे बडी बचकानी हो सकती हैं। क्यो कि इस वाक्य खड मे जिन शब्दो का या शब्द–समूहों का प्रयोग हुआ है वे व्यावहारिक सदर्भों से परे हैं। इनका अपना एक स्वतत्र अर्थ है जो इनका प्रयोग करने वाले के मानस से, उसकी अनुभूति से सबधित है। *'तप्त-वासना'* को कवि महसूस कर रहा है, *काया का रस ले रहा है* और *रसहीनता का अनुभव करता है*। *अपने अनुभव को व्यक्त करने के लिये कवि व्यावहारिक* भाषा के शब्दो को ही अपने तरीके से जोडकर एक नया अर्थ दे रहा है। वह कुछ ऐसे 'बिम्ब' निर्माण कर रहा है जिनके प्रयोग से उसकी विशिष्ट अनुभूति व्यक्त हो सके। कवि का अनुभव 'व्यावहारिक' नही है, वह 'भावनात्मक' है। भावनात्मक अनुभूति की विशिष्ठता को अभिव्यक्ति देने के लिए दूसरा कोई तरीका

शायद कवि के सम्मुख नहीं है वह न तो अपने अनुभव को फैलाकर स्पष्ट करना चाहता है न उसका व्यावहारिक स्तर पर सरलीकरण (सिम्पलीफिकेशन) करना चाहता है। रसहीन लगने के अनुभव को बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया से अभिव्यंजित करना चाहता है। इन विशिष्ठ 'बिम्बों' के अतिरिक्त दूसरा कोई भाषा-रूप उसके लिए संगतहीन साबित होगा। केवल 'बिम्ब' ही नहीं, उनका क्रम, वाक्य पंक्तियाँ, विराम-चिह्नों का प्रयोग, शब्दलय, अर्थलय आदि उसकी विशिष्ट अनुभूति के साथ इस तरह जुड़े हुए हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता। कवि का आशय और अभिव्यक्ति यह दो इकाइयाँ नहीं हैं अपितु दोनों का 'अद्वैत' उसकी भावानुभूति को सार्थक कर सका है। इन पंक्तियों का न तो विस्तार किया जा सकता है न संक्षेप। यदि किया भी जाय तो जो कुछ प्राप्त होगा वह 'यह' नहीं होगा कुछ और ही होगा।

हमारे सम्मुख संपूर्ण कविता नहीं है फिर भी जो चार पंक्तियाँ हैं इनमें कवि ने अनुभव को चार या पाँच बिम्बों के बुनाव में व्यंजित किया है। रसहीनता का भाव कुछ विशिष्ट प्रक्रिया का फल है। तन के साथ इतने सम्पर्क किये गए हैं कि जिसकी कोई सीमा नही फिर भी हृदय को तृप्ति नहीं मिली। वासना की तीव्रता का अनुभव देने वाली भूखी (कामेच्छा) नंगी कायाओं का भोग किया फिर भी तृप्ति नही मिली। जो कुछ प्राप्त हुआ वह रसहीनता एवं निरर्थकता की अनुभूति दे गया। इस प्रकार की निरर्थकता की अनुभूति का गुजरता हुआ चित्र स्पष्ट होता जा रहा है। इस कविता का प्रत्येक बिम्ब कई आसंगों (एसोशिएशन) को ध्वनित करता हुआ दूसरे बिम्ब में विलीन होकर उसे पुष्ट एवं अर्थपूर्ण करता जाता है जिसके कारण दूसरे का अर्थ सघन होता जाता है और उसी समय पहले की अर्थवत्ता को भी पुष्ट करता जाता है। प्रत्येक बिम्ब एक दूसरे के साथ जुड़ते हुये सम्पूर्ण (टोटल) प्रभाव को सूचित करते हैं। और 'रसहीनता' के बिम्ब को सार्थकता प्रदान करते हैं। इस कविता की अर्थलय अनुभूति का अंगभूत गुण (अंग) बन गई है। ऊपर-ऊपर से गद्य लगने वाली 'कविता' उत्कट काव्यात्मकता को प्रकट करने लगती है। इसमें 'नाट्य' भी है, काव्य भी है, चित्रात्मकता भी है, एक परिवेश भी और एक चरित्र भी। पर यह सब इतना सघन और सम्पीड़ित या सिकुड़ा हुआ है कि कुछ ही बिम्बों में ध्वनित हो सका है। हमारा ध्यान, केवल 'निरर्थकता' की केन्द्रीय अनुभूति और उसके साधनीभूत कारणों पर रुक जाता है। शायद इस अनुभूति का इससे अधिक फैलाव हो ही नहीं सकता। यहाँ हम ऐसे प्रश्न उपस्थित नहीं करते कि भोगने वाला कौन है?

तप्त वासना का अनुभव कैसे होता है ? नंगी भूखी कायाएँ कितनी हैं ? तन के सम्पर्कों की सारी सीमाएँ पार कैसे हुईं ? कितने व्यक्ति संपर्क में आये ? आदि आदि। हम ऐसे प्रश्न उपस्थित इसलिए नहीं करते क्योंकि शायद इसकी जानकारी हमारे लिए कोई आवश्यक नहीं है। कवि 'रसहीनता' के अनुभव को उसकी सम्पूर्णता में व्यक्त करना चाहता है। वह उन संदर्भों को केवल सूचित करना चाहता है जो केन्द्रीय अनुभूति के परिवेश में फैले हुए हैं। कवि उन संदर्भों का प्रत्यक्षीकरण नहीं करना चाहता बल्कि संदर्भों समेत अधिक से अधिक सम्पीडित (कम्प्रेस्ड) होना चाहता है। अपनी अनुभूति को वह पाठकों के सम्मुख गुजरती हुई नहीं दिखाना चाहता अपितु बिम्बात्मक एवं लयात्मक भाषा में ध्वनित एवं व्यंजित करना चाहता है।

दूसरे वाक्य-खंड में कुछ प्रतीक हैं कुछ बिम्ब भी हैं और कुछ वाक्य ऐसे हैं जो पूरे के पूरे व्यावहारिक भाषा प्रयोग जैसे स्पष्ट हैं। पर संपूर्ण परिच्छेद, कथन करने वाले 'मैं' के मानस में सवलित होने से अनुभूति-जन्य एवं भावनात्मक है। इस परिच्छेद में 'मैं' के अतिरिक्त और एक व्यक्ति 'सीता' भी मौजूद है। यहाँ भी 'तप्त वासना' के भोग का वर्णन है और निरर्थकता का अनुभव है। चूँकि यह 'अंश' किसी सम्पूर्ण कहानी का हिस्सा है। जाहिर है कहानी में कई और पात्र, कई प्रसंग, कई घटनाएँ हो सकती हैं। यहाँ कथाकार का अनुभव चित्रित हो रहा है, कहीं ध्वनित हो रहा है तो कहीं व्यंजित हो रहा है किन्तु प्रमुखतया प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। इस अनुभव की अभिव्यक्ति कहीं विस्तार पाने की ओर अधिक झुकी हुई है। जैसे लेखक हमारे सम्मुख अनुभव को उसके तमाम संदर्भों के साथ घटित होता हुआ दिखाना चाहता है। किन्तु फिर भी अपनी अनुभूति को वह व्यावहारिक भाषा में स्पष्ट नहीं कर रहा है। उसका भाषा-प्रयोग उसका है, उसकी शैली उसकी अपनी है, परिवेश उसका अपना है, 'सीता' उसने निर्माण की है। लगता है इस विशिष्ट अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण इसी वातावरण में, इन्हीं पात्रों के कार्यव्यापारों द्वारा ही सम्भव है। संपूर्ण संदर्भ एक ही केन्द्रीय अनुभूति के साथ जुड़ा हुआ है। फिर भी यह विशिष्ट अनुभव सिकुड़ा हुआ या संक्षिप्त नहीं है। इसकी एक 'कहानी' है। यहाँ कुछ घटित होता दिखाई दे रहा है। किन्तु साथ-साथ यह भी लगता है कि यह अनुभव-विशेष इससे अधिक विस्तृत एवं 'प्रत्यक्ष' नहीं हो सकता न इससे इसमें कम संक्षेप भी सम्भव है।

तीसरा परिच्छेद न बिम्बात्मक है न लयात्मक। इस परिच्छेद में व्याकरण-सम्मत व्यावहारिक-भाषा का प्रयोग किया गया है और किसी 'कहानी' के मूल

भाव को समझाया गया है। इस परिच्छेद का पर्याप्त विस्तार हो सकता है और पर्याप्त संक्षेप भी हो सकता है। ऐसा होने पर इस परिच्छेद के 'आशय' में कोई फर्क पड़ने की गुंजाइश नहीं है। भाषा का प्रयोग स्पष्ट रूप से अभिधात्मक है। इन वाक्य खंडों में एक विचार का स्पष्टीकरण हुआ है। इन वाक्यों का संबंध किसी के अवचेतन मानस से न होकर प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में लेखक ने अपनी राय दी है। यह परिच्छेद हमें किसी विशिष्ट विचार की जानकारी देता है। ऊपर के दो परिच्छेदों के समान भावात्मक अनुभव की प्रतीति नहीं कराता। स्पष्ट है यह परिच्छेद 'कलात्मक' नहीं है।

हमने उपर्युक्त तीनों परिच्छेदों का चुनाव विशिष्ट उद्देश्य से किया है। तीनों परिच्छेद लगभग एक ही 'आशय' को स्पष्ट करने के लिए लिखे गए हैं। निरर्थकता का अर्थपूर्ण बोध कहीं अंतर्मुखी है तो कहीं बहिर्मुखी है और कहीं केवल वर्णन के स्तर पर स्पष्ट हुआ है। एक ही अनुभव प्रथम 'खंड' में अभिव्यंजित हुआ है, दूसरे खंड में प्रत्यक्षीकृत हुआ है तो तीसरे खंड में इतिवृत्त के रूप में चर्चित हुआ है। प्रथम उदाहरण कविता का है, दूसरा कहानी का और तीसरा व्यावहारिक, इतिवृत्तात्मक (मैटर आफ फैक्ट) भाषा का। प्रथम दो उदाहरण साहित्यिक कलाओं के हैं तो अन्तिम उदाहरण विचारात्मक गद्य का।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

निष्कर्ष

१—साहित्यिक कला में भाषा का प्रयोग गद्यात्मक या पद्यात्मक हो सकता है पर हर हालत में भाषाजन्य कला-कृति अपने भावांश को लेकर ही प्रकट होती है। इसकी वैचारिक अनुभूति भी भावानुभूति में रूपान्तरित होती है।

२—भाषा-जन्य कलाकृति में आशय और अभिव्यक्ति का 'अद्वैत' सिद्ध होता है। अतः इसके आकलन में 'संक्षेप' या 'विस्तार' की प्रक्रिया घटित नहीं की जा सकती जबकि व्यावहारिक गद्य के आकलन में यह संभव है।

३—साहित्यिक कला-कृति का प्रत्येक घटक ऐन्द्रियपूर्ण (आरगेनिक होल) होता है। कला की सावयवता इसी कारण सिद्ध होती है।

४—'कविता' में नाट्यात्मकता, चित्रात्मकता, बिम्बात्मकता एवं 'कथा-तत्त्व' विद्यमान होता है फिर भी इसकी प्रमुख प्रवृत्ति सम्पीडन की (कम्प्रेशन) होती है, कविता में अंगभूत लय होती है।

५–कहानी में काव्य, नाट्य आदि गुणों का आविर्भाव होकर भी उसकी प्रमुख प्रवृत्ति प्रत्यक्षीकरण की होती है। कहानी में अगभूत 'कहानीपन' होता है।

'नाटक' का उदाहरण हमने इसलिए प्रस्तुत नहीं किया कि नाटक चूंकि दृश्य विधा है रगमच और पात्रों का प्रत्यक्ष अभिनय उसकी इतनी स्पष्ट विशेषताएँ हैं कि उसे अन्य विधाओं से अलग करना कठिन नहीं। नाटक में भी कथात्मकता, काव्यात्मकता होती है पर उसकी प्रमुख प्रवृत्ति व्यापारों के प्रत्यक्षीकरण की होती है। उसे निश्चित कालावधि में विशिष्ट मच पर अभिनीत किया जाता है। अत यह क्षमता उसका प्रमुख विधात्मक-लक्षण है। साहित्यिक विधाओं का परस्पर सम्मिश्रण विशिष्ट विधा की मूल प्रवृत्ति को नहीं बदल सकता। कविता में नाट्य एव कथातत्त्व पाया जा सकता है पर कविता न तो नाटक होती है और न कहानी-उपन्यास। इसी प्रकार कहानी में नाट्यात्मकता आने से वह नाटक नहीं बनती न उसमें काव्य आने से वह कविता ही बनती है। साहित्यिक कलाओं में आशय और अभिव्यक्ति का 'अद्वैत' कृति-विशेष की जिस प्रमुख प्रवृत्ति के कारण सिद्ध होता है उसके अनुसार विधात्मक भेद निश्चित किया जा सकता है। अत यह कहना कि समकालीन कहानी 'विधा' के किसी भी रूप को स्वीकृत नहीं कर सकती, सत्य नहीं है। 'कहानीकार की सार्थकता पर चर्चा करते हुए डा० नामवरसिंह ने कहा है–कहानीकार अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के सदर्भ में अपनी कहानियों की सामग्री चुनता है' ··· ·· ···· कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक छन्दमुक्त हो जाये, लेकिन वह लयमुक्त नहीं हो सकती है। लयमुक्त रचना काव्य होते हुए भी कविता नहीं कहलायेगी। कहानीपन से रहित गद्य रचनाओं के बारे में भी यही बात लागू होती है।[१]

साहित्य-कलाओं की सृजन-प्रक्रिया एक-सी ही होती है। प्रत्येक विधा अपनी प्रवृत्यात्मक आवश्यकता के अनुसार अनुभूति और अभिव्यक्ति के 'अद्वैत' को सिद्ध करती है। कई बार अनुभूति की जटिलता की अभिव्यक्ति अपनी रूप-गत प्रमुख प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कई प्रवृत्तियों का आश्रय लेती है। इसलिए विविध साहित्यिक-विधाओं में परस्पर-पूरक आदान-प्रदान की प्रक्रिया दिखाई देती है किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कहानी 'कहानी' नहीं रही, कविता 'कविता' नहीं रही या नाटक 'नाटक' नहीं रहा। आधुनिक कहानी आधुनिक युग की देन जरूर है पर इसका आदिम कथातत्त्व नष्ट नहीं

हुआ है, न हो सकेगा। यदि कहानी का कहानीपन नष्ट हो जाय तो जो रूप उभरेगा वह कुछ और ही होगा, उसे 'कहानी' नहीं कहा जा सकेगा। 'कहानी' में 'कहानीपन' होना उसकी नियति है। शायद यही कारण है कि अ-कहानी के कई हिमायती अंततः कहानी से 'कहानीपन' को अलग नहीं कर सके हैं। कविता और कहानी के विधात्मक अंतर को स्पष्ट करते हुए डा० गंगाप्रसाद विमल कहते हैं–'इतना सच है कि पूरी कहानी-विधा प्रयोग, शिल्प, कलाचेतना और बोध के लिए कविता की पारिभाषिक शब्दावली पर आधारित है·········कविता उसी पारिभाषिक सीमा में जीवन के यथार्थ भोग का एक और रूप प्रस्तुत करती है। कहानी उसी पारिभाषिक रूप सीमा में पर्याप्त विस्तार का आधार लेकर जीवन के संघर्ष को चित्रित करती है।'[१०] आलोचक महोदय ने कहानी की 'विस्तार-प्रक्रिया' को स्वीकृत किया है। यह विस्तार-प्रक्रिया कहानीपन की रूपगत चेतना का मूल आधार है।

साहित्यिक कलाओं के अनुभूति और अभिव्यक्ति के अद्वैत को सिद्ध करने के पश्चात् यह देखना जरूरी हो जाता है कि विधागत विभिन्न घटक आपसी संबंधों के कारण जिस प्रकार 'अद्वैत' तत्त्व को स्पष्ट करते है। क्योंकि कई बार कला-रूपों में विभिन्न अंगों का असंतुलन कला के संपूर्ण रूपबंध को बिगाड़ देता है और परिणामस्वरूप अनुभूति और अभिव्यक्ति एक दूसरे को छेदती हुई विधागत अनुपात को विरूप बना देती। अच्छी और सच्ची कला-कृति सेन्द्रियपूर्ण होती है। उसका प्रत्येक घटक एवं अवयव परस्पर-पूरक होता है, उनकी स्वतंत्र इकाइयां नही होती। हमने पिछले अध्याय में कलाओं को संसार की अन्य वस्तुओं से पृथक् सत्ता रखने वाली वस्तुनिष्ठ गतिशील वस्तु माना है। अतः साहित्यिक-कला की पृथगात्मकता कैसे उसकी सावयवता एवं सेन्द्रियता में स्पष्ट होती है इसे समझना आवश्यक है। कलाओं के चैतन्य को सिद्ध करने के लिए कई महान् पाश्चात्य आलोचकों द्वारा कला की सेन्द्रियता पर गहन चर्चाएँ की गयी हैं। हम यहां कुछ प्रमुख मान्यताओं का जिक्र करना चाहेंगे क्योंकि हम हमारे प्रतिपाद्य विषय से संबंधित कहानी कला की सेन्द्रियता को प्रमाणित करना चाहते हैं।

कला का सेन्द्रिय बोध

सजीव प्राणियों का अवयव-संस्थान (आरगैनिज्म) जिस प्रकार प्राणियों के प्राण-तत्त्व का अभिन्न अंग होता है, उसी प्रकार कलाओं की संरचना सावयव एवं सेन्द्रियपूर्ण (आरगेनिक होल) होती है। इसका अर्थ यह नहीं कि कलाओं को सजीव प्राणियों के समकक्ष रखा जा सकता है। केवल कलाओं

मे और प्राणियों मे चैतन्य के साधर्म्य को स्पष्ट करने के लिए 'सेन्द्रियत्त्व' इस शब्द का प्रयोग किया गया है। अत इस शब्द का प्रयोग रूपकात्मक है। इस सबध मे कालरिज तथा अन्य आलोचकों का विवेचन हमने समझा है। अब हम कुछ उन तत्त्ववेत्ताओं का जिक्र करेंगे जिन्होंने कलाओं की सावयवता को तर्क सगत आधार देकर प्रमाणित किया है। इनमे एच् आस्बोर्न को प्रमुख माना जाता है। आस्बोर्न ने अपनी पुस्तक 'थ्योरी आफ ब्यूटी' मे कलाओ की सेन्द्रियत्त्व-मीमासा उपस्थित की है। सक्षेप मे आस्बोर्न की मीमासा उपस्थित की है। सक्षेप मे आस्बोर्न की मीमांसा इस प्रकार है।

२. एच० आस्बोर्न की मान्यता

प्रमुखत आस्बोर्न-प्रणीत सिद्धान्त चित्रकला की सेन्द्रियता स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। आस्बोर्न कहता है—'सेन्द्रिय-पूर्ण रचना एक ऐसी रचना होती है जिसका बोध उस रचना के घटकों के बोध के पूर्व ही होता है। वह एक ऐसी सरचना (कान्फ़िगरेशन) है जो अपने विविध अगो के योग से स्पष्ट नही होती, न हम इस अगो के आपसी सबधो की सम्ख्यात्मक पद्धति से स्पष्ट कर सकते हैं। इन अगो की बोधगम्यता, जिस पूर्ण रचना के यह घटक हैं, उस रचना के कारण ही स्पष्ट होती है। जब इस प्रकार की सेन्द्रियपूर्ण रचना सवेद्य होती है तब उसके अवबोधन मे उपर्युक्त अगो के अतिरिक्त एक नवीन अग का बोध होता है। यदि सेन्द्रियपूर्ण सरचना के विविध अगो की अलग अलग चर्चाएँ उपस्थित की जायें तो उक्त नवीन अग का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाता है। अत कलाकार द्वारा अवबोधित सामग्री जब सेन्द्रिय पूर्ण सरचना म रूपातरित होती है और जब एक नवीन अग (गुणधर्म) उसम समाविष्ट हो जाता है तब ही वह रचना कलाकृति कहलाती है।" आस्बोर्न ने पहले ही अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा है कि वह अपने सिद्धान्त को कहाँ तक प्रमाणित कर सकेगा इसका उसे सदेह है किंतु उसे विश्वास है कि उसका सिद्धान्त अतार्किक भी नहीं हो सकता। वह कला की सेन्द्रियता को कला के सौन्दर्य-बोध की शर्त मानता है और 'सौंदर्यबोध' की मात्रा को (डिग्री) नापने के कुछ मानदड भी सुझाता है। जैसे—

(अ) सेन्द्रिय सरचना की सघनता, (रिचनेस) सम्मिश्रता, (काम्प्लैक्सिटी) और सूक्ष्मता (सटल्टी) कलाकृति के सौंदर्य के मानक हैं।

(ब) 'कृति' के अवबोधन मे उसकी सपूर्णता (कम्पलीटनेस) और सघनता (काम्पैक्टनेस) का बोध उसके सौंदर्य-बोध का ही परिचायक है।

आस्वोर्न द्वारा प्रस्तुत 'कलाकृति' की व्याख्या और सौंदर्य के मानदंड मूलतः 'चित्रकला' के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित है। इस व्याख्या की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हो सकती है।

(१) सेन्द्रियपूर्णत्व का बोध प्रथमतया 'पूर्णत्व' का बोध है और पश्चात् विविध अंगों का।

(२) विविध अंगो के योग मे 'पूर्ण' सिद्ध नही होता। 'पूर्ण' के संदर्भ में ही 'अंगो' की सार्थकता प्राप्त होती है।

(३) सेन्द्रियपूर्ण का अनुभव उसके अंगो के अतिरिक्त एक नवीन 'गुणधर्म' का बोध कराता है।

(४) सुन्दर वस्तु की पाँच प्रमुख विशेषताएँ होती है—

अ–सम्पन्नता ब–संमिश्रता क–सूक्ष्मता ड–सपूर्णता इ–सघनता।

उपर्युक्त विशेषताएँ केवल 'चित्रकला' को ध्यान मे रखकर प्रस्तुत की गई है। इसलिए बावजूद इसके कि आस्वोर्न का सिद्धान्त बड़ा तर्कपूर्ण और शास्त्रीय है, अधूरा लगता है। क्योंकि 'कलाकृति' की यह व्याख्या किसी निर्जीव वस्तु पर घटा कर भी प्रमाणित की जा सकती है। लकड़ी की बनी कोई चीज या प्लास्टिक की बनी कोई गुड़िया की संरचना में सभी तत्त्व विद्यमान हो सकते है। तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निर्जीव 'वस्तु' में और सेन्द्रिय कलाकृति में तत्त्वतः क्या भेद है ? आस्वोर्न का सिद्धान्त शायद इसलिए अधूरा लगता है क्योंकि उसने 'चित्र' को सम्मुख रखा है। चूंकि 'चित्र' का प्रथम अवलोकन 'संपूर्ण' का बोध कराता है और तत्पश्चात् विविध अंगों का; लकड़ी की 'वस्तु' का अवबोधन इसमें कुछ अलग 'बोध' नही कराता। परन्तु जब साहित्यिक कलाकृति के संबंध में हम इस सिद्धान्त को घटाने लगते है तब इसका अधूरा-पन खटकने लगता है। 'चित्र' के समान साहित्यकृति का प्रथम अवलोकन उसके 'संपूर्णत्व' का बोध नही करा सकता। साहित्यकृति के प्रथम आकलन के लिए कम से कम उसे एक बार पढना या सुनना आवश्यक है। उसे पढ़ने या सुनने से पहले उसके संपूर्णत्व का बोध ग्रहण करना असम्भव है। उसे पूर्ण पढ़कर ही संपूर्णत्व का बोध हो सकता है। उदाहरण के लिए किसी 'कहानी' की पठन-प्रक्रिया को लिया जा सकता है। किसी-किसी कहानी को पढ़ते समय शब्दों और शब्द-समूहो से बने वाक्य खंडों द्वारा अर्थबोध होने लगता है। ऐसे कई वाक्य खंड किसी 'घटना' का बोध कराते है और एक सम्पूर्ण 'अर्थकृति' निर्मित होती है। जैसे-जैसे हम कहानी को पढ़ते चले जाते है नवीन अर्थकृतियाँ निर्माण होने लगती है और पिछली अर्थकृतियों के संदर्भ में अपनी सार्थकता सिद्ध

करने लगती हैं । इसके साथ-साथ पिछली अर्थकृतियाँ भी अगली अर्थकृतियों के संदर्भ में रूपांतरित सार्थकता को जन्म देती हैं । यही प्रक्रिया सम्पूर्ण कहानी के पढ़ लेने तक जारी रहती है, विविध अर्थकृतियों में परस्पर आदान-प्रदान होता हुआ अर्थनिश्चिति की प्रक्रिया बनती-टूटती कहानी के अंत तक चलती रहती है । और कृति के पूर्णत्व का बोध रूपायित होने लगता है । कहानी की प्रत्येक घटना, घटनाचक्र, एवं अन्य उपादान 'पूर्ण' के संदर्भ में अवबोधित होने लगते हैं । इस प्रकार उसे पढ़ लेने के पश्चात् उसके सारे अंग 'पूर्ण' के संदर्भ में एक नया अर्थ देने लगते हैं और अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं । अब हम कह सकते हैं कि *'साहित्यकृति' विविध अंगों के 'योग' से निर्माण नहीं होती अपितु 'सम्पूर्णत्व' के संदर्भ में प्रत्येक अंग परस्पर संबन्धित होता हुआ 'पूर्ण' का अभिन्न अंग होता है । इसके साथ रचना में सम्मिलित अंगों के अतिरिक्त उस रचना में एक नवीन अंग एवं गुण का बोध होने लगता है । यह नया अंग* रचना में प्रत्यक्षतः उपस्थित नहीं होता पर उसका वहाँ होना अनिवार्य है वरना रचना केवल यांत्रिक एवं निर्जीव वस्तु के समान बनकर रह जायगी । इसी नये गुण के कारण साहित्य-कृति में चेतनता, सप्राणता आदि विशेषताएँ आ पाती हैं ।

इस प्रकार आस्वीर्न का सिद्धान्त साहित्य कृति के सम्बन्ध में भी घटाया जा सकता है ।

३ टी० ई० ह्यूम की मान्यता

ह्यूम की सेन्द्रियत्व मीमांसा प्रमुखतः सेन्द्रिय संरचना और यांत्रिक रचना के भेद को स्पष्ट करती है । वह कहता है–'कृति की यांत्रिकता उसके अंगों के जोड़ से निर्माण होती है । इन अंगों को एक दूसरे के पड़ोस में रख देने से यांत्रिक रचना का निर्माण सम्भवनीय हो जाता है । किन्तु सावयव एवं सेन्द्रिय रचना का निर्माण इस प्रकार के जोड़ से संभवनीय नहीं है । सेन्द्रिय-सजीव-कृति की यांत्रिकता बिल्कुल अलग होती है । सेन्द्रिय रचना के विविध अंगों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता । क्योंकि यहाँ प्रत्येक अवयव दूसरे के कारण परिवर्तित होता रहता है । अतः रचना का सेन्द्रियत्व विविध अवयवों की परिवर्तनशीलता एवं सम्बन्धों की परिवर्धन-क्षमता के कारण सिद्ध होता है ।'[11]

३ ३ व्लादिमीर वाइड्ले की सेन्द्रियत्व मीमांसा

वाइड्ले ने कलाकृति के जीवशास्त्र का बड़ा गहन और तर्कपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है । *सजीव प्राणी और कलाकृति इन दोनों के संगठन-संस्थान का*

तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करने के कारण वाइड्ले की मीमांसा अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ती है। इस मीमांसा का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है।

(१) वैसे कलाकृति लक्ष्यार्थ में सजीव होती है ; प्रत्येक युग में कलाकृति का अर्थ बदल सकता है। अर्थ-परिवर्तन की क्षमता के कारण ही कलाकृति को सजीव कहा जाता है। सेन्द्रिय प्राणि के समान कलाकृति का आत्मनूतनीकरण होता रहता है।

(२) सजीव प्राणि एवं वनस्पति के समान कलाकृति विशिष्ट नियमों द्वारा संचालित होकर भी स्वतंत्र होती है; उसकी स्वतन्त्रता अपने नियमों के पालन से अबाधित रहती है। सजीव प्राणियों के रूप-धारणा विषयक सिद्धान्त बहुत लचीले होते हैं। इन सिद्धान्तों को अंकों में गिनाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार कलाकृति के भी नियम लचीले होते हैं; उनका भी कोई संख्यात्मक रूप नहीं हो सकता। अपने अव्याख्येय नियमों की नियंत्रण-कक्षा में कलाकृति और सजीव वस्तु असंख्य रूपों को धारण करती है। रूपनिर्धारण की इस प्रक्रिया में कभी-कभी इन नियमों को मरोड़ा जाता है, पर उन्हें नष्ट नहीं किया जाता। अतः कलाकृति में एक प्रकार की अनियमित नियमितता होती है।

(३) सजीव प्राणि के समान कलाकृति के निर्माण के लिए जितने अवयवों की आवश्यकता होती है, केवल उतने अवयवों से वह निर्माण नहीं हो सकती। आवश्यकता से अधिक उसमें कुछ होता है। इस कुछ अधिक को हम संपन्नता (रिचनेस) कह सकते हैं।

(४) सजीव प्राणि और कलाकृति अपने परस्परावलंबित अवयवों से बनती है। अवयवों के परस्पर सम्बन्धों में बदल होते ही प्राणि और कलाकृति का रूप भी या तो बदल जाता है और नहीं तो नष्ट हो जाता है। सेन्द्रियपूर्ण वस्तु अपने अवयवों के योग का फल नहीं होती। उसमें एकता का प्रमुख तत्त्व विद्यमान होता है। यहाँ पूर्ण पहले होता है जो अपने अंगों द्वारा निर्मित होता है। अतः 'पूर्ण' का अपने अंगों पर नियंत्रण होता है। इन अंगों को यदि पूर्ण से अलग किया जाय तो वे निरर्थक बन जाते हैं। क्योंकि 'पूर्ण' से कटकर उनका कोई अस्तित्व ही नहीं होता। पूर्ण के अपने अंगों पर नियंत्रण के कारण ही 'वस्तु' में एक बंदिश आ जाती है; सुसंवाद (कोहेरेन्स) स्थापित होता है और उर्वर-क्षमता (फर्टिलिटी) आ जाती है।

(५) प्रत्येक सजीव वस्तु ऊतकों (टिश्यू) की बनी हुई होती है। कलाकृति भी ऊतकों (टिश्यू) के समान प्राण-तत्त्व के आधार पर खड़ी हुई होती है।

सजीव प्राणियो के ऊतको म जो जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) होना है वह ऊतको के मध्य-भाग से अलग किया जा सकता है। मध्य भाग की रचना दो परस्पर-विरोधी तत्वो के आपसी तनाव के कारण पैदा होती है। जीव-शास्त्र म इन्हें यूनिट कहा जाता है। जिस प्रकार सजीव प्राणि का सगठन-सस्थान उक्त *तनावो के प्रकृति पर आधारित होना है उसी प्रकार कला-कृति के ऊतकजन्य यूनिट (अनुभूतिजन्य प्राणतत्त्व) उसका सगठन-सस्थान उपस्थित करते हैं।* कला-कृति मे तनावो के मूलभूत तत्त्व एक ही समय परस्पर विरोधी एव परस्पर पूरक होते हैं। कला-कृति मे ऊतको के स्तर के नीचे अर्थ का या आशय का स्तर होता है। इस स्तर के आपसी सम्वादित्व एव विसम्वादित्व के कारण कला-कृति के ऊतको को सघनता (व्हाल्यूम) प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन मे वाइडले ने सजीव प्राणि और कला-कृति की समानता सिद्ध करने के लिए दोनो के सम्पूर्ण सगठन-सस्थान का विश्लेषण उपस्थित किया है। अत यह विवेचन सम्पूर्णत शास्त्रीय एव तर्कसगत बन गया है, इसमे कोई शक नही। हम इस विवेचन से असहमत नही हो सकते किन्तु *कला-कृति और सजीव प्राणि मे समानता होना और बात है व कला-कृति और सजीव प्राणि को एक दूसरे का पर्याय मानना दूसरी बात है।* वस्तुत दोनों के बीच म साम्य की अपेक्षा भेद को समझना जरूरी है। पर कठिनाई यह है कि दोनों के बीच भेद का एहसास तो होता है परन्तु इसे तर्काविष्ठित आधार देकर प्रमाणित करना लगभग असम्भव है। फिर भी प्रत्यक्ष कला-कृति का तर्कसगत शास्त्रीय विश्लेषण कर उसका सेन्द्रियत्व सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ कविता के शब्द, बिम्ब, लय आदि अगो मे परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होते हैं इनकी शास्त्रीय जाँच की जा सकती है। इसी प्रकार कहानी मे घटना, वस्तु, प्रसग आदि अगों का परस्परावलम्बित्व ढूँढकर कहानी का सेन्द्रियत्व सिद्ध किया जा सकता है। यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि कैसे साहित्य-कृति के विविध अग एक ही समय परस्पर सम्बन्धित होकर भी *'पूर्ण' की नियत्रण-कक्षा मे परिवर्तित एव परिवर्धित होते रहते हैं।*

साहित्य-कृति के सेन्द्रिय-पूर्ण रूप को सिद्ध करने के पश्चात कृति के विविध उपादानो के परस्पर सम्बन्धो का विश्लेषण प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है। चूँकि हमारा प्रतिपाद्य विषय कहानी विधा तक ही सीमित है कहानी के विविध अगोपागो का विश्लेषण उपस्थित कर कहानी की सेन्द्रियता

को हम प्रमाणित करना चाहेंगे । संसार के सभी व्यापार संकेतों के आधार पर अवलोकित एवं अवबोधित होते हैं । कला–व्यापार भी संकेतों का आश्रय लेकर आस्वाद्य बनता है । अत: किसी साहित्य–कृति के विविध अंग अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं रखते । इन्हें सांकेतिक भाषा में अभिव्यक्त करना पड़ता है । यथार्थ की अनुभूति, इस अर्थ में संपूर्ण यथार्थ की अनुभूति नहीं होती अपितु सांकेतिक आधार देकर पूर्ण अनुभूति का आभास कराया जा सकता है । इसलिए साहित्य-कृति की आस्वाद्यमानता किस प्रकार संकेतों के आधार पर खड़ी है इसे जाँचना आवश्यक है ।

२ क कला-चेतना और संकेत-बोध

कई बार हम भूल जाते हैं कि कला की आस्वादप्रक्रिया संकेत पालन के कारण ही सिद्ध होती है । कला के आस्वादन में संकेतों का महत्त्व स्पष्ट है । वस्तुत: हम किसी कलाकृति को पूर्णरूप में न देखकर भी पूर्णत: देखने का आनंद लेते हैं । इसका कारण भी संकेतों के पालन में ही निहित है । दूरी पर खड़े हुए किसी जानवर को 'गाय' कहकर जब हम पहचान लेते हैं तब हम 'गाय' की केवल एक ही बाजू देख सकते हैं जो हमारी दृष्टि के सामने है । पूरी 'गाय' को हम नहीं देख सकते फिर भी उस जानवर को देखकर पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि हमने 'गाय' देखी है किसी चित्र को देखते समय उसका एक ही आयाम हमारे सामने होता है फिर भी पूर्ण चित्र देखने का संतोष प्राप्त कर लेते हैं । जिसे हम यथार्थ कहते हैं वह भी इसी अर्थ में पूर्ण यथार्थ नहीं होता बल्कि यथार्थ का एक ऐसा आयाम होता है जिसे हम देख पाते हैं और संकेतों के आधार पर संपूर्ण यथार्थ को जानने का आनन्द लेते हैं । कलाकृति में निर्मित संसार को जानने का आनंद भी संकेतों के कारण उत्पन्न होता है । क्योंकि संसार का प्रत्येक अनुभव आध्यात्मिक स्तर पर अर्द्ध यथार्थ ही होता है । बिना संकेतों का आधार लिए किसी भी व्यापार को अवबोधित एवं आस्वादित नहीं किया जा सकता । अत: कलाकार और पाठक दोनों को भी इन संकेतों से परिचित होना आवश्यक है । कलाओं के विकास के साथ इन संकेतों में घटबढ़ हो सकती है पर कलाओं का सम्प्रेषण बिना संकेतों के असम्भव है ।

कहानी साहित्य में संकेत-बोध के विषय में प्रसिद्ध कहानी समालोचक सीन-ओ फाउलिन ने बड़ी रोचक चर्चा उपस्थित की है । उन्होंने तो यहाँ तक स्वीकृत कर लिया है कि कहानी की श्रेष्ठता संकेतों की सत्याभास-क्षमता पर निर्धारित होती है । आलोचक के अनुसार प्रत्येक साहित्यिक रचना अपने आप

में संकेत होती है। 'कहानी' भी एक संकेत है, सम्पूर्ण जीवन को चित्रित करने का बहाना है। जीवन भी कई संकेतों से पूर्ण है। किसी 'घटना' को भी सत्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह भी एक संकेत होता है। आदि भी, अन्त भी और मध्य भी एवं चरम सीमा भी अपने आप में संकेत होते हैं। इन संकेतों को स्वीकृत कर मान लेना कि यह सम्पूर्ण है-कहानी की आस्वाद्यमानता का रहस्य है। अतः कहानीकार जीवन की गतिशीलता को सूचित करने के लिए कई संकेतात्मक तरकीबों का निर्माण करता है और एक छोटी-सी घटना में वैश्वयिकता का आभास उत्पन्न करता है।

आधुनिक साहित्यकारों का यह दावा करना कि वह जीवन के विशुद्ध यथार्थ का चित्रण करते हैं अर्धसत्य है। आधुनिक युग के विज्ञान निष्ठ पाठक भले ही स्थूल एवं भद्दे सत्याभास को विश्वसनीय न मानते हों फिर भी कलाओं का यथार्थ पाठकों को किसी न-किसी रूप में विश्वास कर लेने के लिए बाध्य करता ही है। यह सही है कि आधुनिक पाठकों की 'विश्वास-क्षमता' (मेक बिलीफ) धीमी पड़ गयी है। वे पुराने दौर के समान भद्दी चमत्कारप्रियता का का शिकार नहीं हैं किन्तु उनकी विश्वास-क्षमता सम्पूर्णत नष्ट नहीं हुई है, न हो सकेगी। क्योंकि आधुनिक साहित्यकारों ने अपनी तरकीबें भले ही बदल दी है पर पूर्णत बिना उनके यथार्थ का चित्रण असम्भव है। पुराने संकेतों की जगह नये संकेतों ने ले ली है पर सांकेतिकता कतई नष्ट नहीं हुई है। संकेतों के प्रयोग से एक ओर साहित्यकृति आस्वाद्य होती है तो दूसरी ओर संकेतों की आविष्कारक्षमता के अतिरिक्त और कुछ साहित्यकृति में विद्यमान होता है जिसका बोध भी संकेतों के कारण ही होता है। इसीलिए अर्धसत्य का अव लोकन पूर्ण सत्य के अवलोकन का आनन्द प्राप्त करा देता है। जिस प्रकार साहित्यकार संकेतों का प्रयोग करके अपनी जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्त करता है उसी प्रकार पाठक भी इन संकेतों को ग्रहण करने के लिए कहीं अपनी विवेक-शक्ति पर नियन्त्रण रखता है तो कहीं उसे अधिक जागृत करता है। कहीं उसे अविश्वनीय तत्त्व पर विश्वास कर लेना पड़ता है तो कहीं 'विश्वसनीयता' को समझने के लिए अपनी बौद्धिक चेतना को प्रेरित करना पड़ता है। तब ही उसके लिये साहित्य-कृति आस्वाद्य हो सकती है।'[१]

आधुनिक साहित्य जैसे जैसे अधिकाधिक वैज्ञानिक-चेतना के प्रभाव में विकसित होता चला जा रहा है वैसे-वैसे संकेत बोध अधिक वैज्ञानिक, बुद्धिगम्य और यथार्थ रूप ग्रहण करता जा रहा है। अत आधुनिक साहित्य के आकलन में पाठकों की कल्पना-शक्ति पर बहुत अधिक तनाव नहीं पड़ता बजाय इसके

प्राचीन साहित्य में कला-संकेत भद्दे, स्थूल, एवं अवैज्ञानिक होते थे जिसमे पाठकों की आस्वादन-प्रक्रिया विश्वास करने के तत्त्व का बहुत अधिक प्रश्रय लेती थी। वैसे हिन्दी कहानी का आरम्भ आधुनिक वैज्ञानिक युग मे ही हुआ है फिर भी कहानी का प्राचीन दौर पाठकों की कल्पना-शक्ति पर पर्याप्त मात्रा मे निर्भर रहा है। प्रसाद, प्रेमचन्द की कई कहानियाँ कई वर्षो की अवधि को सूचित करने के लिये जिन तरकीबों का प्रयोग करती रही है, उनमे भद्दापन बहुत है। यशपाल की कहानियों मे भी समयतत्त्व बड़ा स्थूल है। इन कहानियों मे घटनाओ का क्रम, उनका समय, स्थान आदि मे यथार्थ का आभास स्पष्टीकरण के स्तर पर व्यक्त हुआ है, व्यंजना का प्रश्रय बहुत कम लिया गया है। इसमें कोई शक नही है कि प्राचीन दौर के कहानीकारों की संवेदनशीलता ही मनुष्य जीवन के बाह्य-यथार्थ का चित्रण करती है इसलिए उनकी कहानियो मे घटनाओ का विवरणात्मक स्वर अपेक्षतया अधिक है। समकालीन एवं नयी कहानी जीवन की आन्तरिकता को व्यंजित करना चाहती है, अतर्यथार्थ के क्षण को केन्द्र बनाकर अभिव्यंजित होना चाहती है। अतः घटनाओं का चित्रण अपेक्षतया व्यंजनात्मक हो गया है। इन कहानियो का पाठक कहानी के साथ-साथ चलता है, वह जो कुछ पढता है उसे प्रत्यक्ष भोगने का अनुभव होता है। यहाँ भी संकेतो का प्रयोग होता है, विश्वास करने का तत्त्व विद्यमान होता है, यथार्थ का चित्रण अधूरा ही होता है, पर कहानीकारो द्वारा ऐसी कुछ तांत्रिक तरकीबें प्रयुक्त की जाती है कि पाठक अर्धसत्य को देखकर भी सम्पूर्ण सत्य को देखने का आनन्द लेते है। सत्याभास सत्य बन जाता है।

वस्तुतः प्रत्येक साहित्यिक कलाकार अपनी संवेदनशीलता को एवं व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है पर उस अभिव्यक्ति के लिए वह किसी न किसी 'रूपबंध' का चुनाव करता है। या यूँ कहे कि उसकी विशिष्ट संवेदनशीलता अपना अभिव्यक्ति-रूप चुनती है, अधिक समुचित होगा। चूँकि प्रत्येक अभिव्यक्ति-रूप अनुभूति को प्रकट करने का संकेत होता है अभिव्यक्ति के सभी उपादान सांकेतिक ही होते है। कविता मे बिम्ब, प्रतीक आदि तत्त्व यथार्थ को व्यंजित करने के विश्वसनीय माध्यम होते है। कहानी मे चरित्र, वातावरण, कथावस्तु, भाषा आदि अंग अपने आप मे यथार्थ चित्रण के प्रामाणिक संकेत होते हैं। प्रत्येक साहित्यकार अपनी संवेदनशीलता के अनुसार कथ्य का चुनाव करता है, भाषा का प्रयोग करता है, शिल्प का उपयोग करता है और अपने व्यक्तित्व को इस तरह अभिव्यक्त करता है कि हमे उसकी अभिव्यक्ति प्रामाणिक लगे। आधुनिक साहित्य मे संकेत-बोध अनुभूति-तत्त्व के साथ इतना एकरूप हो गया

है कि सकेतो को अलग कर सकना असम्भव हो जाता है । अनुभूति और अभिव्यक्ति क अद्वैत इतना स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति के सकेतो पर स्वतन्त्र रूप से चर्चा करने की वैसे आवश्यकता ही नही रहती । सही देखा जाय तो कलाओ मे केवल दसवां हिस्सा सकेतो की कारीगरी का है और शेष सब कुछ 'व्यक्तित्व' है ।[1]' सकेत-बोध की चर्चा का निष्कर्ष इतना ही है कि प्रत्येक कलाकार चू कि यथार्थ के एक ही हिस्से को देख सकता है, सकेतो के बेमालूम एव विश्वसनीय प्रयोग से अपनी अनुमति को यथार्थ के चारो आयामो (फोर डायमेशन्स) समेत व्यक्त कर सकता है और अपनी सीमित क्षमता के अभाव की पर्ति करता है । इस अर्थ मे कला के सकेत' कला के अन्तर्बाह्य कलेवर के अटूट अग होते हैं ।

हमने पिछले कुछ पन्नो मे स्पष्ट किया ही है कि कहानी विधा अपनी प्रवृत्ति से ही अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण करने की ओर अग्रसर होती है अत कहानी की मूलभूत अनुभूति मनुष्य जीवन की घटनात्मक भाषा मे अभिव्यक्त होना चाहती है । जहाँ घटना का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ चरित्र, वातावरण, प्रसग आदि तत्त्व आप ही आप उभरने लगते है । इन सब अगो का कार्य किसी केन्द्रीय तत्त्व को प्रकट करना होता है अत ये विविध अग परस्पर सम्बन्धो मे परिवर्तन परिवर्धन करते हुए विकसित होते हैं और कृति का रूप उभरने लगता है । चू कि हमारी चर्चा कहानी विधा तक ही सीमित है हम कहानी के विविध अगो की चर्चा उपस्थित करना चाहेगे और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि कहानी के विविध अग किस प्रकार आपस मे जुड़े हुए होते हैं, कि इनके द्वारा 'सेन्द्रियपूर्ण' कैसे निर्माण होता है, कि इन अगो का कोई स्वतन्त्र महत्त्व नही है, कि कहानी के प्राचीन साकेतिक तत्त्व आधुनिक कहानी के लिए क्यो नाकारा प्रमाणित होते हैं । हम एक बात पहले ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जिन विविध अगो से सम्बन्धित चर्चा उपस्थित होगी उन्हे कहानी-कला के 'आदर्श' के रूप मे हम स्वीकृत नही करते । क्योकि कहानी का कोई आदर्श तन्त्र नही हो सकता इतना ही कि कई कहानियो को पढकर हमे लगता है कि कुछ अग ऐसे हैं जो बार-बार किसी न किसी रूप मे कहानी-कला को विकसित करते जा रहे हैं । कुछ प्राचीन सकेत अनुपयुक्त हो गये हैं, कुछ नवीन पैदा हुए हैं, तो कुछ प्राचीन होकर भी नवीनता के वाहक हैं । अत एक अच्छी कहानी मे विविध अगो का स्वरूप क्या हो सकता है इसकी तात्त्विक चर्चा उपस्थित की जा सकती है और कुछ निष्कर्ष हाथ आ सकते हैं । यह नही कि इन अगो का प्रयोग करके अच्छी कहानी लिखी जा सकेगी बल्कि अच्छी कहानी मे

संकेतों के परस्पर संबंध कैसे हो सकते हैं इसका विश्लेपण हो सकता है।

कथात्मक साहित्य के तन्त्र-पक्ष की चर्चाएँ अंग्रेजी आलोचना में हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक तात्त्विक स्तर पर पायी जाती हैं। हिन्दी में ऐसे भी प्रयत्न हुए हैं पर आधुनिक कहानी के सन्दर्भ में शिल्प-पक्ष की चर्चा को निहायत ही गौण स्थान प्राप्त हुआ है। कारण शायद यह हो कि कहानी की शक्ति को आलोचकों ने उसकी वैचारिक-क्रांति में पाया है, उसका शिल्प-पक्ष तो अनुभूति पक्ष के पीछे-पीछे चलता है। यह सही भी है पर शिल्प-पक्ष नकारना भी तो असम्भव है। हमने अन्य आलोचकों की मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए क्लीन्थ ब्रुक्स की मान्यता को केन्द्रीय महत्त्व दिया है। ब्रुक्स ने अपनी पुस्तक 'अंडरस्टैंडिंग फिक्शन' में प्रत्यक्ष कहानियों के पाठ दिये हैं और तान्त्रिक सिद्धांतों पर चर्चा उपस्थित की है अतः उनकी पुस्तक कहनी पाठ और प्रक्रिया की व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत करती है।

ख. कहानी की रूप-प्रक्रिया और तन्त्र की खोज

अच्छा कहानीकार इस बात को जानता है कि कहानी का कोई आदर्श एवं अंतिम रूप' नहीं होता। वह जब लिखने बैठता है तब 'रूप' की खोज करता हुआ आगे बढ़ता है, रूपगत प्रक्रिया से गुजरते हुए अपने पात्रों के स्वभावों की खोज करता है, उनके मनोव्यापारों की तलाश कर और स्वयं उन पात्रों के प्रति अपनी भावनाओं की खोज करता है। वह यह भी जानता है कि उसकी कहानी में संगठन-संयोजन की जरा-सी भी त्रुटि कहानी की मूल भावना को तोड़ मरोड़ सकती है। शिल्प सामग्री का अनुरूप चुनाव और प्रयोग उसकी कहानी को अर्थपूर्ण बना सकता है। जब कहानीकार अपनी अभिव्यक्ति सामग्री से पूर्णतः परिचित हो जाता है तब उसके संमुख पहला प्रश्न हो सकता है-कहानी कहाँ से आरम्भ करें? अपनी सामग्री को कैसे उद्घाटित (एक्सपोजिशन) करें? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक कहानीकार के लिए प्रत्येक कहानी के सम्बन्ध में अलग-अलग हो सकता है। कहानी का आरम्भ आकर्षक हो या न हो इससे हमारा कोई मतलब नहीं। हम आरम्भ की बात की तात्त्विक चर्चा उपस्थित करना चाहते हैं और सिद्ध करना चाहते हैं कि कैसे कहानी का आरम्भ पाठकों के लिए कहानी की विशिष्टता को जानने का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

१. कहानी का आरम्भ

कहानीकार मनुष्य जीवन की किसी एक घटना को अपनी कहानी के कथ्य से रूप में ढालता है। घटना के अन्तर्गत कुछ चरित्र उभरते हैं जिनका सम्बन्ध केवल उक्त घटना-विशेष से ही नहीं होता अपितु उस सम्पूर्ण जीवन-प्रक्रिया से

होता है जिसकी यह घटना एक सार्थक अग होती है। इसलिए कहानी के अन्तर्गत पात्रों का कुछ इतिहास होता है, जीवन की प्रक्रिया से गुजरने के कारण उनका एक व्यक्तित्व बना हुआ होता है। कहानीकार के सम्मुख प्रश्न यह होता है कि वह अपने पात्रों के पूर्व इतिहास को किस हद तक प्रस्तुत करे ताकि वे पात्र घटना-विशेष से कटे हुए न लगें, और न प्रमुख घटना का अनुचित विस्तार भी हो। वह अपनी कहानी का आरम्भ ऐसे बिन्दु मे करना चाहता है जहाँ से वह बडी गति के साथ और सर्वपूर्ण सगति को लिए कहानी के निर्णयात्मक अग तक पहुँच सके। एक ओर चरित्रों के पूर्व इतिहास की अनिवार्य आवश्यकता और दूसरी ओर अनुचित विस्तार का खतरा इन दोनों के बीच कहानी की रूप प्रक्रिया उद्घाटन-तत्त्व की खोज करती है। देखना यह है कि चरित्रों के एव प्रमुख घटना के पूर्व-सन्दर्भों के चुनाव की सीमा क्या है? कथात्मक साहित्य म प्राय इसी 'सीमा' के कारण उपन्यास और कहानी में विधात्मक फर्क स्पष्ट होने लगता है। पूर्व सन्दर्भ का अपने आप मे कोई महत्त्व नही इनके स्वतन्त्र विवरण की आवश्यकता भी नही होती किन्तु इनके बिना कहानी की प्रमुख घटना निरर्थक होगी, एक चमत्कार से अधिक उसका कोई महत्त्व नही होगा। हिन्दी कहानी के प्राचीन दौर म कई बार हमारे कहानीकार पूर्व-सन्दर्भों के विवरण मे इतने मशगूल हो जाते थ कि प्रत्यक्ष प्रमुख घटना तक आते-आते कहानी समाप्त हो जाती थी और ऐसे समय कहानीकार किसी सयोग का सहारा लेकर कृत्रिम चरम बिन्दु को जन्म दता था ऐसी कहानियाँ प्राय एक नुस्खे से अधिक कुछ नहीं होती थी।

कही कही पूर्व-सन्दर्भों का विस्तृत वर्णन भी आवश्यक हो जाता है। विशेषत जब कहानी मे किसी प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व को चित्रित करना होता है ऐसे विस्तृत विवरण आवश्यक हो जाते हैं किन्तु शर्त यह है कि ऐसे विवरण कहानी के सम्पूर्ण बुनाव म फैल जाने चाहिए वरन् कहानी 'किस्से' का रूप धारण कर लेगी। सक्षेप मे अच्छी कहानी का केन्द्रीय क्षण अपने 'वर्तमान' के साथ अतीत को लेकर चलता है पर सम्पूर्ण केन्द्र बिन्दु 'वर्तमान' ही होता है। कहानी म पूर्व सन्दर्भों की सीमा का उल्लघन करने से कहानी का सतुलन ढल जाता है और उसकी रूप-निर्धारण-प्रक्रिया अस्वाभाविक एव असगत प्रतीत होती है। कुछ उदाहरण हमारी बात को प्रमाणित कर सकते है।

इलाचन्द्र जोशी की 'दुष्कर्मी' कहानी का आरम्भ इस प्रकार है—

(अ) हम लोग टडन जी के यहाँ बैठे थे। इतवार का दिन था। दोपहर से ताश खेलते-खेलते रात हो चली थी। एक मझले कद के दुबले पतले व्यक्ति पर

मैं बहुत देर से गौर कर रहा था। उसकी आयु ३०-३५ वर्ष के बीच होगी। · ···यहाँ पर पूर्वोक्त अपरिचित व्यक्ति ने अपना सुदीर्घ मौन अकस्मात भंग किया।

दुष्कर्मी (इलाचन्द्र जोशी)

(आ) शहर के एक ओर एक तिरस्कृत मकान। दूसरा तल्ला वहाँ चौके में एक स्त्री अँगीठी लिए बैठी है। अँगीठी की आग राख हुई जा रही है। वह जाने क्या सोच रही है। उसकी अवस्था बीस-बाईस के लगभग होगी। देह से कुछ दुबली है और सम्भ्रान्त कुल की मालूम होती है ··· '

'पत्नी' (जैनेन्द्रकुमार)

(इ) 'वह उस कमरे में बेहोश पड़ा है। आज मैंने उसकी शराब में कोई चीज मिला दी थी कि खाली शराब वह शरबत की तरह गट-गट पी जाता है, और उस पर कोई खास असर नहीं पड़ता। ···· लेकिन मैं जानता हूँ कि वह मूजी किसी भी क्षण उछलकर खड़ा हो सकता है। होश संभालने पर वह कुछ कहेगा नहीं। उसकी ताकत उसकी खमोशी में है। बातें वह उस जमाने में भी बहुत कम किया करता था, लेकिन अब तो जैसे बिल्कुल गूंगा हो गया हो।'

'मेरा दुश्मन' (कृष्ण बलदेव वैद)

(अ) उपर्युक्त तीनों कहानियों के आरम्भ कहानियों के प्रमुख चरित्र के पूर्व-संदर्भों को चित्रित करते हुए घटनाओं का उद्घाटन करते हैं। (अ) कहानी का आरम्भ प्रमुख चरित्र और प्रमुख घटना तक पहुँचने के लिए काफी समय लेता है। हम सम्पूर्ण कहानी यदि पढ़ें तो पता चलेगा कि कहानीकार जिस प्रमुख चरित्र के द्वारा 'दुष्कर्म' की प्रामाणिकता एवं स्वाभाविकता को चित्रित करना चाहते हैं उस व्यक्ति तक पहुँचने में उन्हीं पूरे दो पन्ने खर्च करने पड़े हैं। इसलिए कहानी के प्रथम दो परिच्छेद कहानी की मूल समस्या से बिल्कुल कटे हुए लगते हैं। 'हम टंडन जी के यहाँ बैठे थे, इतवार का दिन था' आदि-आदि विवरण कहानी से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की सूचना नहीं देते। केवल किसी इतवार का वर्णन किया गया है, और प्रमुख पात्र को वहाँ लाया गया है। मित्रों के ताश के खेल के बाद इधर-उधर की चर्चाएँ छिड़ती है और तब प्रमुख पात्र अपनी राय देता हुआ, अपनी 'कहानी' सुनाना शुरू करता है। यहाँ से हम 'कहानी' की समस्या से परिचित होने लगते है। इस प्रकार यह कहानी आरम्भ में कई फालतू विवरण देते हुए प्रमुख समस्या पर केन्द्रित होती है। केन्द्रीय घटना का पूर्व-सन्दर्भ बिना किसी कारण के लम्बा हो गया

है । लगता है, जैसे कहानीकार अपनी मूल समस्या को झट से पकड़ ही नहीं पा रहा हो । यही कारण है कि यह कहानी हमें अतिरिक्त विवरणात्मक सन्दर्भों की ओर मोड़ लेती है और अंत तक फैली-फैली लगती है । अतः 'दुष्कर्मी' का 'रूप-बन्ध' चुस्त नहीं बन पाया, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

(आ) कहानी का आरम्भ प्रथम दो पंक्तियों में प्रमुख पात्र को हमारे सम्मुख खड़ा कर देता है । मकान के विवरण को महत्त्व नहीं दिया गया है । 'स्त्री कुछ सोच रही है इसीलिए अंगीठी की आग राख हुई जा रही है ।' एक साथ कहानीकार अपने प्रमुख पात्र की उम्र उसका आर्थिक स्तर और मानसिक संघर्ष आदि का जानकारी कहीं स्पष्टीकरण के स्तर पर तो कहीं सूचनात्मक पद्धति से दे देते हैं । और हम प्रथम दो तीन पंक्तियों में पढ़ते ही कहानी की मूल समस्या की ओर खीचे जाते हैं । यही कारण है कि 'पत्नी' कहानी गठी हुई लगती है । 'दुष्कर्मी' और 'पत्नी' इन दोनों कहानियों का रूप बंध तत्व की दृष्टि से कहीं भी उलझा हुआ नहीं है । कहानी की घटनाओं का क्रम वही रखा गया है जैसे प्रत्यक्ष व्यवहार में देखा जाता है । इसलिए 'दुष्कर्मी' की अपेक्षा 'पत्नी' की रचना अधिक चुस्त होकर भी दोनों कहानियाँ विवरणात्मक बन गई हैं । हम धीरे-धीरे कहानी की समस्या की ओर बढ़ने लगते हैं कुछ घटनाएँ उपस्थित होती हैं जिनके द्वारा प्रमुख पात्रों का चारित्रिक विकास सूचित किया जाता है और अन्त की घटना में प्रमुख समस्या पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है । इन कहानियों को पढ़ते हुए हम महसूस करते हैं कि ये कहानियाँ जैसे-किसी जादूगर के रहस्योद्घाटन कर्म के समान लगती हैं । जैसे जादूगर एक-एक चीज दिखाता है चला जाता है और प्रेक्षकों की उत्सुकता बढ़ाता हुआ अंत में अपनी खास ट्रिक का प्रदर्शन करके कुशलता का परिचय देता है । कुछ ऐसी ही हैं ये कहानियाँ । कारण यही है कि कहानीकार अपनी समस्या पर हावी नहीं हो सके हैं । केन्द्रीय घटना के पूर्व-सन्दर्भों के चुनाव में ही अटक गए हैं और केन्द्र बिन्दु पर पहुँचते-पहुँचते मूल समस्या से हट-से गए हैं ।

(इ) कहानी का आरम्भ ऊपर की दोनों कहानियों की अपेक्षा अधिक गतिशील और प्रमुख पात्र पर बिना किसी विवरण के केन्द्रित हो गया है । हम एकदम घटना के 'मध्य' में आ खड़े हो जाते हैं । इस घटना का भी पूर्व-इतिहास है, चरित्र का कुछ पूर्व-सन्दर्भ भी है, पर वह सब वर्तमान का हिस्सा बन गए हैं । इस परिच्छेद में एक वाक्य ऐसा है-'बातें वह उस जमाने में भी बहुत कम किया करता था, लेकिन अब तो जैसे बिलकुल गूँगा हो गया है ।' इस एक ही वाक्य में 'पात्र विशेष' का अतीत और वर्तमान एक झटके के साथ एक ही अवस्था के अंग बन गये हैं । कहानीकार ने समस्या के केन्द्रबिन्दु पर

ही सारा ध्यान केन्द्रित किया है। मूल समस्या के चित्रण के साथ आप ही आप चरित्र-विषयक एवं घटना विषयक पूर्व-संदर्भ चित्रित होते चले जाते हैं। अतः इस कहानी में घटनाओं का कोई क्रमवार ब्योरा नहीं मिलता। कहानी चुस्त, गतिशील और संगठित लगती है। तीनों कहानियों में समय-तत्त्व का निर्वाह अलग-अलग पद्धतियों से हुआ है। 'दुष्कर्मी' कहानी का नायक अपनी बाल्यावस्था से लेकर युवा अवस्था के मानसिक-विकास की कहानी प्रस्तुत करता है। किसी व्यक्ति का संपूर्ण जीवन और कई घटनाएँ कहानी का हिस्सा बन गई है जिनका निचोड़ किसी तत्त्व-निर्धारण के रूप में हमारे सम्मुख रखा जाता है। यह कहानी कुछ वैज्ञानिक सूत्र-पद्धति के समान फार्मूला पढ़ने का बोध देती है। मूल समस्या को यहाँ 'केन्द्र' बनाया गया है बल्कि कहानी खत्म होने पर ही हम समस्या को समझ पाते हैं। पाठक शीघ्र गति से 'समस्या' का अनुभव नहीं करता अतः कहानी सपाट लगती है।

'पत्नी' कहानी में मूल समस्या को एक ही घटना पर केन्द्रित किया गया है। भारतीय मध्यवर्गीय, कुछ शिक्षित नारी की मूक व्यथा का चित्रण इस कहानी की प्रमुख समस्या है। कहानीकार 'पत्नी' की विवशता को एक घटना द्वारा प्रकट करना चाहता है। यहाँ घटना का चित्रण पत्नी की विवशता को प्रमाणित करने का साधन बन गया है। कहानीकार साधन और साध्य को एक ही प्रक्रिया के अंग नहीं बना पाये हैं। अतः किसी एक मध्यवर्ती घटना पर केन्द्रित की जाकर भी यह कहानी सूचनात्मक लगती है।

'मेरा दुश्मन' यह कहानी 'समयतत्त्व' के निर्वाह में बड़ी सफल साबित हुई है। यहाँ नायक के दो 'स्व' (सेल्फ) का चित्रण उपस्थित हुआ है। उसे अपने ही पूर्व-परिचित भोगे हुए जीवन की याद आती है और यह याद ही उसके वर्तमान सुखी (?) जीवन में बाधा बनकर आई है। यह उसी का दूसरा 'स्व' (सेकंड-सेल्फ) है जो अब उसका 'दुश्मन' है। कहानीकार ने अपने कथा-नायक के सम्पूर्ण जीवन को और उसके अंतर्गत संघर्ष को एक ही घटना पर केन्द्रित किया है। अतः वर्तमान और अतीत एक ही प्रक्रिया के अंग बन गए हैं। पूर्व-सन्दर्भों का चित्रण केन्द्रीय घटना से हटकर नहीं हुआ है फलतः कहानी गतिमान, चुस्त एवं प्रभावी बन पड़ी है। जयशंकर 'प्रसाद' की 'ममता' और राजेन्द्र यादव की 'टूटना' ये दोनों कहानियाँ इस सम्बन्ध में देखी जा सकती हैं। 'ममता' कहानी के 'समय' को प्रसाद किसी एक केन्द्रीय घटना में समेट नहीं सके हैं 'ममता' नायिका के जीवन के अस्सी वर्ष कैसे-कैसे बीते इसका विवरण तीन या चार घटनाओं द्वारा दिया गया है और अंत में 'ममता' के चरित्र को

विशिष्ट 'आदर्श' मे परिणीत किया गया है। किन्तु 'टूटना' मे यादव ने कथ-नायक 'किशोर' के मानसिक सघर्ष को वर्तमान घटना पर केन्द्रित किया है और फ्लैशबैक पद्धति का प्रयोग करके नायक के अतीत को प्रकट किया है। यही कारण है कि यह कहानी हमारा ध्यान केन्द्रीय घटना से हटने नहीं देती।

कहानी के आरम्भ के सम्बन्ध मे अब हम कह सकते हैं कि प्रत्येक कहानी मे घटना एव चरित्र के कुछ पूर्व सन्दर्भ होते हैं– उनका चित्रण भी आवश्यक होता है पर यह चित्रण केन्द्रीय समस्या का हिस्सा बन जाना चाहिए वरना 'कहानी' सपाट बन जाती है।

२. वातावरण और दृश्यबध

जिस प्रकार केन्द्रीय घटना को चित्रित करने के लिए कहानीकार पूर्व-सन्दर्भों का विवरण करता है, और चुनाव एव समुचित सयोजन की कुशलता से अपनी रचना को प्रभावपूर्ण बनाता है, उसी प्रकार कहानी की सफलता के लिए 'दृश्यबन्ध' (सैटिंग) की सार्थकता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। किसी अच्छी कहानी मे दृश्यबन्ध की कई इकाइयो का सगुफन किया जाकर सम्पूर्ण कहानी के वातावरण (एटमास्फीयर) को अर्थपूर्ण बनाया जाता है। दृश्यबन्ध का चुनाव और चयन से कहानी के चरित्रो और उनके व्यापारो मे विश्वस-नीयता का बोध पैदा किया जाता है। पाठक इस नाते हम किसी दृश्यबन्ध को कहानी के तथ्य के रूप म जब ग्रहण कर लेते हैं तब उस दृश्यबन्ध के साथ, सम्बन्धित चरित्रो के व्यापारो पर विश्वास करने लगते हैं। किन्तु यदि कहानी कार 'दृश्यबन्ध' को ही कहानी की रचनाप्रक्रिया का अग न बना पाया तो उस दृश्यबन्ध के अतर्गत चरित्रो के व्यापार असगत एव अविश्वसनीय लगते हैं। अत उचित दृश्यबन्ध का चुनाव आवश्यक है, वरन् कई कहानियो मे चरित्रगत व्यापारो (एक्शन) और उनका परिपार्श्व बिल्कुल परस्पर कटे हुए लगते हैं। जहाँ पात्रो के व्यापार और सैटिंग परस्पर प्रतिक्रियात्मक होते हैं, ऐसे दृश्य पाठको की सवेदनशीलता को प्रेरित करने मे सफल साबित होते है। कभी कभी कुछ कहानियाँ केवल दृश्यबन्ध के आकर्षक चित्रण से पाठको को आकृष्ट करने का प्रयत्न करती हैं, किन्तु सूज्ञ और रसज्ञ पाठक कहानीकार के इस लटके को पहचान लेता है, क्योंकि अतत हम पात्रो के व्यापारो मे कलात्मक सगति ढूँढना चाहते हैं, दृश्यबन्ध इन व्यापारो को सार्थकता प्रदान करते हैं। यदि दृश्यबन्ध का चित्रण व्यापारों से हटकर अपने आप भले ही आकर्षक या सुन्दर हो, कहानी का सेंद्रिय घटक नही बन सकता।

इसके अतिरिक्त दृश्यबन्ध का प्रयोग कहानी के सामान्य अर्थ को प्रकट करने में सहायक होता है—किसी कहानी का जन्म स्थान विशेष की विशिष्टता के कारण होता है, तब दृश्यबन्ध विशिष्ट एवं अर्थपूर्ण होता है। मोपासां और चेखव की कई कहानियाँ अपने दृश्यबन्ध के सूचक चित्रण के कारण प्रभावपूर्ण हुई हैं। कभी—कभी दृश्यबन्ध का प्रयोग सोद्देश्य होता है। जब किसी चरित्र की संवेदना को चित्रित करने के लिए कहानीकार कहानी के परिपार्श्व का चित्रण करता है तो दृश्य बड़े अर्थपूर्ण बनते हैं—बिना किसी प्रत्यक्ष व्यापार (एक्शन) के चरित्रगत मानसिक अवस्था को प्रकट किया जा सकता है।

अनेक दृश्यबन्धों का समुचित प्रयोग, पात्रों के व्यापार, घटनाओं की इकाइयाँ इन सब की अर्थपूर्ण संगति का सम्पूर्ण प्रभाव कहानी के 'वातावरण' (एटमास्फीयर) की निर्मित करता है। कई बार हम वातावरण इस शब्द का प्रयोग बड़े संकुचित अर्थ में करते हैं। जिस कहानी में वर्णनात्मकता अधिक पायी जाती है उसे हम वातावरण प्रधान कहानी कहते हैं, और इस अर्थ में उस कहानी का एक स्वतन्त्र गुट बना लेते हैं। वस्तुतः प्रत्येक कहानी में वातावरण होता ही है, बिना वातावरण के कोई कहानी होती ही नहीं। वातावरण हमें सम्पूर्ण कहानी के भाव का बोध कराता है न कि किसी एक अंग का। वातावरण कहानी का परिणाम है न कि कारण। अतः कहानी के विविध तत्वों की सावयवता वातावरण की इकाई को जन्म देती है।

हम कुछ उदाहरण लेकर दृश्यबन्ध के सफल और असफल प्रयोगों को दिखाना चाहेंगे और वातावरण से उनका सुसम्वादित्य एवं विसम्वादित्य प्रमाणित करना चाहेंगे।

(अ) 'सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में विस्तृत जल देश में, नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्ध गुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का।' (आकाश दीप जयशंकर प्रसाद)

(आ) 'ऊपर आकाश में मोर-पूँछ के आकार में दूर-दूर तक सिंदूर फैल रहा था। उस गहरे अर्गवनी रंग के पर्दे पर ऊँची, काली चोटियाँ निश्चल, शांत और गम्भीर खड़ी थीं। संध्या के झीने अन्धेरे में पहाड़ियों के पार्श्व के वनों से पक्षियों का कलरव तुमुल परिमाण में उठ रहा था। वायु

मे चीड की तीखी गन्ध भर रही थी । सभी ओर उत्साह, उमग और चहल पहल थी ।' (मनोज यशपाल)

(इ) निगाह दूर आसमान पर अटक गयी । चीलें उड रही हैं और मोजे की शक्ल म कटा हुआ आसमान दिखाई द रहा है उसके माजे कुछ गन्दे हो रहे हैं और आसमान भी मोजे का तल्ली की तरह गदला पडता जा रहा है । हल्की वदबू-सी आने लगी और मन भारी हो गया उस गदले आसमान के नीचे जामा मस्जिद का गुम्बद और मीनार दिखाई पड रही है उनकी नोकें बडी अजीब सी लग रही हैं पीछे वाली दुकान क बाहर चोलियो का विज्ञापन है । रीगल बस स्टाप क नीम क पडों से धीरे धीरे पत्तियाँ झड रही हैं । बसें जूँ जूँ करती आती हैं एक क्षण ठिठकती है, एक ओर सवारियो को उगलती है दूसरी ओर स निगलकर आग बढ जाती है । चौराहे पर बत्तिया लगी है ।' (खोई हुई दिशाएँ कमलेश्वर)

(अ) कहानी का दृश्यबन्ध सध्या समय क प्रकृति-चित्रण का उपस्थित करता ह । दृश्य को पात्रों क मनोव्यापार का प्रेरक कारण बनाया गया है । 'सौरभ म पागल 'चम्पा न बुद्धगुप्त के हाथ पकड लिए' इस व्यापार का सम्बन्ध प्रकृति क प्रतीकात्मक वणन के साथ जुड हुआ है । प्रसाद की कई कहानियाँ इस प्रकार के दृश्यों म भरी पडी हैं जहाँ चरित्रों क मानसिक व्यापार और प्रकृति क व्यापार इन दोनो म जैसे कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध हो । कई बार प्रकृति चरित्रगत व्यापारो की प्रेरणा क रूप म चित्रित की जाती है और कई बार व्यापारो के परिणाम की सूचना देन के लिए चित्रित की जाती है पर हर बार दृश्यबंध और चरित्रगत व्यापार एक ही प्रक्रिया क अग नहीं बन पाते । अत एस वर्णनों पर कहानी की मूल समस्या का नियत्रण ढीला पडन लगता है और कहानीकार अपने अतिरिक्त प्रकृति-मोह को कहानी पर थोपने का प्रयत्न करता है । इसम शक नही कि प्रसाद के प्रकृति वर्णन अपने आप मे रोमानी दृष्टिकोण के अनूठे उदाहरण प्रस्तुत करत हैं पर य कहानी के सम्पूर्ण वातावरण का अटूट भाग नहीं बन सकते । प्रत्यक घटना एव व्यापार इसी क्रम स प्रकृति और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धो का चित्रण करत हुए कहानी के इष्ट तक बढते रहते हैं, और कहानी प्रकृति-वर्णन तथा घटनात्मक-चित्रण की समानान्तर रेखाएँ अकित करती हुई अन्त तक फटी-फटी सी प्रतीत होने लगती है ।

(आ) कहानी का दृश्यबन्ध 'आकाशदीप' के प्रकृति-चित्रण से मूलत भिन्न

है। यहाँ प्रकृति और चरित्रगत मनोव्यापार इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है। परम्परा से प्रकृति की शोभा का वर्णन साहित्य में होता रहा है। प्रकृति के विविध चित्रणों के द्वारा मानवीय भावों की सूचनाएँ अंकित करने के उदाहरण यत्र-तत्र मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ग्राम-प्रान्तर की शोभा का चित्रण प्रकृति के माध्यम से ही किया जाता रहा है। यशपाल की 'मक्रील' कहानी का यह 'दृश्यबन्ध' विशुद्ध प्रकृति का स्थिर चित्रण है, जिससे एक ओर स्थान-विशेष का व्यक्तित्व उभरता है तो दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से कहानी की भविष्यत की घटनाओं की सूचनाएँ मिलती हैं। किन्तु ऐसे चित्रणों में दोष यह उत्पन्न होता है कि इनमें हेरफेर की काफी गुंजाइश रहती है। हम इन दृश्यबन्धों को 'कहानी' से हटाकर किसी और जगह रख सकते हैं क्योंकि ऐसा चित्रण किसी भी दिन की संध्या का या चाँदनी का हो सकता है। यह चित्रण दूरान्वय से कहानी से सम्बद्ध होता है, कभी-कभी इसके बिना भी काम चल सकता है। इसमें बदल कर देने से कहानी के सामान्य अर्थ की कोई हानि नहीं हो सकती। अतः कहानी पढ़ते समय हम स्वभावतः ऐसे चित्रणों को नजरअंदाज करते, उतने हिस्से को छोड़कर आगे बढ़ते रहते हैं। संक्षेप में ऐसा दृश्यबन्ध रचना का अवयव नहीं बन सकता।

(इ) कहानी का दृश्यबन्ध पूर्णतः ऊपर के दोनों चित्रणों से बिल्कुल निराला ही है। प्रथमतः यह चित्रण स्थिर नहीं है। दूसरे यह चित्रण चरित्रगत मनोव्यापारों से प्रत्यक्ष सम्बद्ध है। चरित्रगत मनोव्यापारों की प्रतिक्रियात्मक सम्वेदना इस प्रकार चित्रण में व्यक्त हुई है। आसमान की शकल और मोजे की शकल एक जैसी लगना इसका परिचायक है। यह वर्णन किसी शहर की स्थायी गतिविधि को प्रस्तुत करता है। यहाँ कोई किसी का परिचित नहीं है। प्रत्येक जानदार एवं बेजान वस्तु अपना काम बिना किसी रुकावट के अंजाम दे रही है। सारी चेतनता जैसे अचेतन है, जैसे सारा जीवन यान्त्रिकता से ग्रसित है। कथानायक इस यन्त्रवत् गतिविधि का स्वयं एक अंग बन गया है, फिर भी अपरिचित अकेला। यह दृश्यबन्ध हम में अकेलेपन का बोध कराता है। इस चित्रण का चैतन्य अपने आप में कुछ भी नहीं है अपितु जिन्दगी के सैलाब का भाग बनकर अचेतन बन गया है। सम्पूर्ण कहानी के 'मूड' को इस दृश्यबन्ध के रेशों में देखा जा सकता है। यहाँ न तो 'दृश्य' को किसी बोध का माध्यम बनाया गया है, और न कारण, बल्कि 'दृश्य' और कहानी दो इकाइयाँ न रहकर एक बन गए हैं। अतः यह दृश्यबन्ध कहानी के 'सेन्द्रियपूर्ण' का घटक बन गया है। यह दृश्यबन्ध कोई 'बाह्य–यथार्थ' नहीं है, कहानी के अंतरंग को प्रस्फुटित

करते हुए सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त हो गया है। यही कारण है कि हम प्रायः 'अ' और 'आ' के चित्रणों की अर्थपूर्णता पर सन्देह प्रकट करने लगते हैं, किन्तु 'इ' को विश्वसनीय सगत और रचना की सावयवता का हिस्सा मानने लगते हैं।

३ समय-तत्त्व, केन्द्रीय बिन्दु और चरमोत्कर्ष

हमने पिछले पन्नो मे कहानी के उद्घाटन-तत्त्व पर चर्चा करते हुए कहा था कि कहानीकार चरित्र एव घटना के पूर्व-सन्दर्भों का चुनाव करके वर्तमान घटना को अर्थपूर्ण बनाता है और समय तत्त्व की समस्या का हल खोज लेता है। जिस प्रकार कहानीकार चरित्र एव घटना के सम्पूर्ण अतीत को स्पष्ट नही कर सकता उसी प्रकार चरित्र एव घटना के सम्पूर्ण वर्तमान को भी चित्रित नही कर सकता। यहाँ भी चुनाव और चयन की प्रक्रिया कार्यरत होती है। किसी घटना के विविध पहलुओ म से कुछ 'कोण' कहानी का हिस्सा बनते हैं। इस प्रकार कई इकाइयाँ प्रस्तुत की जाकर सम्पूर्ण कहानी का 'सगु'-पन' किया जाता है। अत कहानी की वस्तु' भी अपने आप मे जीवन के अतीत, वर्तमान एव भविष्य की कुछ सार्थक इकाइयों के 'चुनाव' से उत्पन्न होती है। कहानी म चित्रत पात्रो के जीवन स सम्बधित जितनी अवधि का चुनाव किया जाता है उस सम्पूर्ण अवधि का कहानी म प्रस्तुत नही किया जा सकता। अच्छा कहानीकार यथार्थ-अवधि (रियल टाइम) को कुछ चुनिंदा घटनात्मक इकाइयो के द्वारा सूचित कर देता है और रचना को अतिरिक्त विवरण से बचाकर 'अवधि की समस्या का हल खोज लेता है। कभी कभी चुनी हुई घटनाओ की कुछेक इकाइयो पर कहानी केन्द्रित की जाकर रचना मे अधिक सुच्यात्मकता निर्माण की जाती है। हिन्दी कहानी के प्राचीन दौर मे यथार्थ अवधि (रियल टाइम) और मूल्य-अवधि (ह्वैल्यू टाइम) इनका सतुलन खो-सा गया है जिससे कई कहानियाँ बिना किसी कारण के लम्बी हो गई हैं और उनमे विवरणात्मक तत्त्व की ही प्रधानता दिखाई देती है। जयशकर 'प्रसाद' की कई कहानियाँ अपने कथानायको के जीवन के कई वर्षों का चित्रण एक साथ प्रस्तुत करती हैं। समय-तत्त्व का समुचित निर्वाह न होने के कारण उनकी कहानियो मे घटना-बाहुल्य आ गया है। 'ममता' और 'पुरस्कार' इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। प्रेमचन्द की बहुत सारी कहानियाँ कथा नायकों के पीढ़ियों का वर्णन प्रस्तुत करती हैं। परन्तु 'प्रसाद' की अपेक्षा इन कहानियो मे यथार्थ-अवधि को मूल्य अवधि मे सफलतापूर्वक रूपान्तरित किया गया है। प्रेमचन्द सीधे आलोचनात्मक भाषा मे एव किस्सागोई के स्वर मे पीढ़ियों का अन्तर

लांघ जाते हैं। चूंकि प्रेमचन्द की कहानियों का उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों का चित्रण करना होता है उनके कथानायक समष्टिगत चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाले टाइप होते हैं। इसलिए उनकी कहानियाँ सामाजिक एवं युगीन चेतना को लपेटकर चलती हैं। उदाहरणार्थ 'सवा सेर गेहूँ' इस कहानी में शंकर किसान की दो पीढ़ियों का चित्रण है। प्रेमचन्द का उद्देश्य केवल शंकर की अन्धश्रद्धा का चित्रण करना नहीं है अपितु शंकर के रूप में भारतीय किसान की शोकान्तिका को चित्रित करना है। यही कारण है कि प्रेमचन्द की कहानियों में यथार्थ अवधि अधिक होते हुए भी घटनाओं की संख्या 'प्रसाद' की अपेक्षा कम है।

आधुनिक कहानीकार प्रथमतः जीवन की आदि, मध्य, अन्तवाली पारम्परिक प्रक्रिया में विश्वास नहीं करते। मनुष्य जीवन के किसी एक बिन्दु की अर्थपूर्णता को कहानी का विषय बनाया जाता है, जिससे स्वभावतः घटनाओं की संख्या एकदम कम हो जाती है। साथ-साथ आधुनिक कहानी में कुछ ऐसी तान्त्रिक तरकीबें ढूंढ़ी गई हैं जिससे चुनिंदा घटना से सम्बन्ध यथार्थ-अवधि को मूल्य-अवधि में सफलता से रूपांतरित किया जा सका है। इन तरकीबों में फ्लैशबैक चित्रण पद्धति और चेतना-प्रवाह-पद्धति (स्ट्रीम आफ कान्शसनेस) प्रमुख हैं। राजेन्द्र यादव की 'टूटना' मन्नू भण्डारी की 'तीसरा आदमी' शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' कहानियाँ उपर्युक्त पद्धतियों के सफल प्रयोग हो सकती हैं।

हमने ऊपर कहा है कि कहानीकार रचना में चित्रित घटना एवं चरित्र के सम्पूर्ण वर्तमान को चित्रित नही कर सकता, वह अपनी रचना में किसी घटनात्मक केन्द्रीय इकाई को निश्चित करता है और सम्पूर्ण कहानी का रुख उस ईकाई पर केन्द्रित करता है। जब तक रचना के केन्द्र-बिन्दु का समुचित चुनाव नही कर पाता तब तक उसकी रचना ढीली एवं संदिग्ध बनी रहती है। क्योंकि केन्द्र बिन्दु रचना का एक ऐसा स्थान है, जहाँ पहुँचते ही रचना की सारी पूर्व-घटनाएँ पुनर्विश्लेषित होने लगती हैं। यह केन्द्र-बिन्दु सम्पूर्ण कहानी का प्राण होता है। इसी में कहानी का सम्पूर्ण अर्थ समेटा हुआ होता है। कई बार हम 'केन्द्र-बिन्दु' और 'चरमोत्कर्ष' इन्हें एक ही मानते हैं। किन्तु यह सही नही है। क्योंकि बहुत सी कहानियाँ केन्द्र-बिन्दु से आगे बढ़ती हैं और चरम सीमा पर आकर अकस्मात नए एवं अप्रत्याशित मोड़ को जन्म देती हैं। जहाँ केन्द्र-बिन्दु और चरमोत्कर्ष एक ही होते हैं वहाँ दोनों तत्त्वों की सार्थकता संपूर्ण रचना की महत्त्वपूर्ण इकाई बन जाती है। किन्तु जहाँ ऐसा नहीं हो पाता

वहाँ चरमोत्कर्ष केन्द्र बिन्दु से हटकर रचना में अतिरिक्त अकलात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है। यदि चरमोत्कर्ष के कारण रचना की घटनाओं का पुनर्विश्लेषण नहीं हो सकता तो चरमोत्कर्ष निरर्थक साबित होता है। केन्द्र बिन्दु और चरमोत्कर्ष में एक फर्क यह भी हो सकता है कि रचना का केन्द्र बिन्दु पाठ प्रक्रिया के किसी भी बिन्दु पर स्थिर किया जा सकता है किन्तु चरमोत्कर्ष का स्थान प्रायः रचना के अंत में ही होता है अतः किसी सफल रचना में केन्द्र-बिन्दु और चरमोत्कर्ष दोनों भी हो सकते हैं। बिना चरमोत्कर्ष के सफल रचना निर्माण की जा सकती है। किन्तु प्रत्येक कहानी में केन्द्र बिन्दु होता ही है। जहाँ चरमोत्कर्ष रचना की घटनात्मक स्वाभाविक गति का परिणाम होता है। वहाँ वह अर्थपूर्ण होता है। ऐसी जगह उसमें और केन्द्र बिन्दु में तत्वतः कोई फर्क नहीं होता बल्कि इसके कारण रचना की आंतरिक प्रक्रिया सार्थक ऊँचाई तक पहुँच जाती है। कुछ उदाहरणों से इसे प्रमाणित किया जा सकता है। भगवतीचरण वर्मा की 'प्रायश्चित' कहानी के चरमोत्कर्ष को देखिए। जिस कबरी बिल्ली को लेकर रामू की बहू पर पापकर्म का इल्जाम लगाया गया है और पण्डित परमसुख को दान का लाभ होने जा रहा है वह बिल्ली मरी ही नहीं, एकदम उठकर भाग गई। मृत बिल्ली के उठकर भाग जाने की घटना अप्रत्याशित है। यहाँ हम चौंक जाते हैं और विस्मय-बोध के कारण क्षणभर के लिए प्रभावित भी हो जाते हैं। सम्पूर्ण कहानी एक हल्के व्यंग से व्याप्त है जिसमें कर्मकाण्ड की असारता पर प्रहार किया गया है। किन्तु बिल्ली का उठकर भाग जाना हमारे मन में वही कहानी से हटकर विस्मयकारिता का बोध कराता है। हम प्रभावित होते हैं घटना की अप्रत्याशितता से न कि कहानी की मूलभूत समस्या से। लगता है स्वयं कहानीकार अपनी रचना द्वारा किसी आकस्मिक मोड़ से, रहस्योद्घाटन से पाठकों को चौंकाना चाहते हैं और जैसे ही यह उद्देश्य सफल हुआ, कहानी उनके लिए सार्थक हो गई। चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कासे कहूँ' या 'ककड़ी की कीमत' कुछ ऐसे ही नुस्खेबाज अंत के साथ समाप्त होती हैं। दुखवा में कासे कहूँ' में लड़की का लड़का साबित होना या 'ककड़ी की कीमत' में नवाब साहब का जहर खा लेना दोनों घटनाएँ इन कहानियों में किसी अस्वाभाविक तत्त्व को उत्पन्न करती हैं। हम दिग्मूढ़ हो जाते हैं, चौंक जाते हैं किन्तु कहानी से सम्बन्धित समस्या पर पुनर्विचार नहीं करते। यशपाल की 'जर्जा इसद नहीं' यह कहानी भी कथानायिका सआदत के अपने पड़ोसी 'हबीब' से प्रेम की परिणति पति द्वारा खून में कराती है और पुलिस के पूछने पर नायिका अपने 'पति' का नाम नहीं लेती। यह कहानी, नायिका

की अतिरिक्त भावुकता को चित्रित करती है और अप्रत्याशित मोड़ में समाप्त हो जाती है। राजेन्द्र यादव की 'सम्बन्ध' कहानी भी कुछ ऐसा ही चौंकाने वाला भाव पैदा करती है। लाशों के बदलाव के कारण शोक-प्रलाप के फर्क को सूचित करने के लिए यह कहानी लिखी गई है। यहाँ भी जोर दिया गया है अप्रत्याशितता के तत्त्व पर और बावजूद अन्य समस्यागत-प्रभाव के कहानी केवल एक ट्रिक बनकर रह जाती है। उपर्युक्त कहानियों की प्रभावोत्पादकता कितनी कृत्रिम होती है इसका अनुभव तभी होता है जब हम ऐसी कहानियों को 'एक से अधिक बार पढ़ते हैं। जब तक हम अनपेक्षित शाक से अपरिचित रहते हैं तब तक तो ठीक है पर एक बार उस रहस्य को जानते ही चरमोत्कर्ष-जन्य सौंदर्य फीका पड़ने लगता है। चूंकि ऐसी कहानियों की सारी मदार उनके जादुई चरमोत्कर्ष पर होती है जिसके राज़ का फाश होते ही कहानियाँ कम-जोर पड़ जाती है। किन्तु जिन कहानियों का चरमोत्कर्ष रचनागत प्रक्रिया का स्वाभाविक परिपाक है वहाँ चरमोत्कर्ष के कारण कहानी की कलात्मक ऊँचाई बढ़ जाती है। जैसे प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी में बाप बेटे 'कफन' के पैसे से नशा करते हैं और घर में पड़ी हुई 'लाश' को भूल जाते हैं। यह घटना भी वैसे बड़ी अप्रत्याशित है, 'पर' माधव और घीसू की करुण दरिद्रता का यही एक स्वाभाविक अंत हो सकता है। यहाँ हम कहानी के 'अंत' को पढ़कर चौंक तो जाते हैं किन्तु उसके साथ हमारे मन में समाज की भयंकर एवं डरावनी दरि-द्रता की दूसरी कहानी निर्माण होती है। प्रेमचंद ने 'कफन' में मनुष्य के आंतरिक यथार्थ को बड़ी निर्दयता से पकड़ा है इसीलिए उस कहानी का अंत कहानी की सारी घटनाओं को अर्थपूर्ण ऊँचाई प्रदान करता है। सारी कहानी घूमने लगती है, घटनाओं का पुनर्विश्लेषण होता है और 'अंत' का विस्मयबोध जीवन-बोध में परिणत होता है। 'कफन' का केन्द्र-बिन्दु और चरमोत्कर्ष एक ही हो जाते हैं। इसी प्रकार अमरकान्त की 'चीफ की दावत' और यशपाल की 'परदा' इन कहानियों के 'चरमोत्कर्ष' बाह्यतः अप्रत्याशित लगने वाले अंत को अपेक्षित अंत में बदल देते हैं। 'चीफ की दावत में माँ को फालतू वस्तु के रूप में देखना यह घटना, या 'परदा' में परदा उठते ही झूठे ऐश्वर्य का नंगा प्रदर्शन होना, ये दोनों घटनाएँ कहानियों के नए विश्लेषण को प्रस्तुत करती हैं। इन कहानियों में केन्द्र-बिन्दु और चरमोत्कर्ष एक ही स्थान पर हैं।

४. संघर्ष-तत्त्व और जटिलता

कहानी के केन्द्र-बिन्दु तक पहुँचने के लिए कहानीकार किसी विशिष्ट प्रक्रिया से गुजरता है। स्पष्ट है, उसका मार्ग सरल नहीं होता। यदि किसी

रचना मे घटनाओ का क्रमवार ब्यौरा रचना की कलात्मकता को सिद्ध नही कर सकता तब तक प्रत्येक घटना परस्पर पूरक एव प्रेरक न होकर रचना की सेन्द्रियता सिद्ध नही हो सकती। कहानी की रचना-प्रक्रिया अपने आप म परस्पर विरोधी तत्त्वो के सघष से गुजरती हुई अपने रूप बन्ध को जन्म देती है। समस्याएँ और उनके हल, सघर्ष और सुझाव, तनाव और निश्चयात्मकता, प्रश्न और उत्तर आदि परस्पर-विरोधी तत्त्वों के सघर्षो मे कहानी की रूप-प्रक्रिया गुजरती हुई पूर्णत्व को प्राप्त करती है। सक्षेप मे कहानी एक ऐसी घटना है जो उलझन से गुजरती हुई एकता को स्थापित करती है, सदेह से गुजरती हुई एक व्यवस्था को स्थापित करती है। कहानी के अन्तर्गत अनिवार्य सघर्ष-तत्त्व के कई रूप हो सकते हैं। व्यक्ति व्यक्ति का सघर्ष व्यक्ति समष्टि का सघर्ष, एक ही व्यक्ति के मानस के दो स्तरो का सघर्ष आदि कई रूप गिनाये जा सकते हैं। जिस कथात्मकता रचना म केवल विशुद्ध भौतिक सघर्ष चित्रित किया जाता है उसे साहित्यिक कहानी का दर्जा हासिल नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे सघर्ष मे पात्रो के मनो-व्यापार निरुद्देश्य होते है। दूसरे शब्दो म यहाँ पात्र 'चरित्र' नही बनते। जहाँ पात्रो मे चरित्रात्मकता आ जाती है वहाँ कहानीकार की समस्या व्याख्येय हो जाती है। अर्थात् जिस रचना म केवल कहानीकार के पूर्व-निश्चित निष्कर्षों को चरित्रो व व्यापारो द्वारा प्रकट करना होता है वहाँ स्वभावत चरित्रो म प्रतिनिधिकता आने लगती है। नायक खलनायक, सत्प्रवृत्ति-असत्प्रवृत्ति ऐसी स्थूल जातियाँ बनने लगती हैं और ऐसी रचनाएँ सपाट नजर लगती हैं। सफल रचना म सघर्ष-तत्त्व का स्वरूप भौतिक नही होता। और न पात्रो मे यही प्रतिनिधिकता होती है। सफल कहानी मनुष्य जीवन की ऊपरी सतह पर सचरण नही होती अपितु व्यक्ति मानस के अन्तरतम गहराइयों को चित्रित करती हुई जीवन की कठोर अनिश्चयात्मकता का बोध कराती है। यहाँ रचनाकार पूर्वनियोजित तत्त्व को प्रमाणित नहीं करना चाहता बल्कि मानवीय जीवन के किसी ऐसे रहस्य को उद्घाटित करना चाहता है जिसके सम्बन्ध मे हम किसी निश्चित निर्णय पर पहुँच नही सकते। सफल कहानी म हम किसी एक पक्ष का पुरस्कार या तिरस्कार नही कर सकते, बल्कि केवल नाट्यात्मक प्रक्रिया का अनुभव करते रहते हैं। अत सफल कहानी मे जटिलता का बोध एक स्वाभाविक विधान है। जैसे जैसे कथा-वस्तु रूप-प्रक्रिया के निर्णायक क्षण की ओर बढती जाती है वैसे जटिलता मे तीव्रता की वृद्धि होती है।

हिन्दी कहानी के प्राचीन दौर मे कहानी का सघर्ष-तत्त्व कही विशुद्ध

भौतिक है या कहीं लेखक के पूर्वनिश्चित उद्देश्यों का प्रतिनिधिक फल है। प्रेमचन्द की लगभग सारी कहानियां समाज की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का चित्रण उपस्थित करती हैं। इसलिए उनकी कहानियों के पात्र एक अर्थ से व्यक्तित्वहीन होते हैं, वे किसी न किसी सामूहिक प्रवृत्तियों के प्रतिनिधिक रूप होते हैं। स्पष्ट है, प्रेमचन्द की कहानी सत्प्रवृत्ति एवं असत्प्रवृत्तियों के संघर्ष को चित्रित करती हुई किसी निर्णयात्मक तत्त्व-निर्धारण में समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि प्रेमचन्द की कहानियां निष्कर्षवादी कहानियां हैं। 'प्रसाद' की कहानियां भी एक हद तक निष्कर्षवादी हैं। चूँकि 'प्रसाद' जीवन के रोमानी-आदर्श में श्रद्धा रखते थे, उनके कथानायक या नायिकायें इन आदर्शों को प्राप्त करने वाले व्यक्ति लगते हैं। 'आकाश दीप' की चम्पा, 'पुरस्कार' की मधूलिका और 'ममता' की ममता अपने आप में स्वतन्त्र नारियां नहीं हैं। चम्पा किसी पिता की पुत्री तो मधूलिका महान प्रेम की साहसी शक्ति है तो ममता भारतीय धर्म की त्यागमयी मूर्ति ! ये नायिकायें अपने सामूहिक आदर्शों के प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत प्रेरणाओं पर विजय प्राप्त करती है और अन्त में उसी निर्णय पर पहुँचती है जिस पर कहानीकार उन्हें पहुँचाना चाहते थे। यशपाल जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की कहानियों में पात्रों का व्यक्तिगत महत्त्व जरूर बढ़ा हुआ। पात्रों में चारित्रगत विशेषताएँ भी आयीं। इन कहानीकारों ने व्यक्ति-मानस एवं समाज-मानस की अन्तर्धारा को चित्रित करने का सफल प्रयास भी किया है। इनकी रचनाएँ मानसिक संघर्षों के कारण जटिल भी बन गई हैं। किन्तु इनकी कहानियाँ कहीं न कहीं लेखक के पूर्वाग्रहों को प्रमाणित करना चाहती है। कहीं यह पूर्वाग्रह सामाजिक एवं राजकीय सिद्धान्तों का है तो कहीं मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का। इसलिये इन कहानियों का संघर्ष-तत्त्व मानवीय जीवन की स्वाभाविक अन्तश्चेतना का परिणाम नहीं किन्तु लेखक के मानवीय जीवन से सम्बन्धित निश्चित दृष्टिकोण का फल है। यही कारण है कि इन लेखकों की कहानियां कहीं न कहीं जीवन की समस्याओं का निर्णायक हल प्रस्तुत करती है। और किसी एक पक्ष का पुरस्कार करती है। आधुनिक कहानी का संघर्ष-तत्त्व जीवन के उस यथार्थबोध का परिणाम है जो बोध किसी भी पूर्वाग्रह से प्रेरित नहीं, बल्कि अनुभूत है। इसलिए आधुनिक कहानी की जटिलता उसके सच्चाई की लक्षणीय विशिष्टता बन गई है।

५. पैटर्न या चित्राकृति

कथात्मक साहित्य में घटनाओं के विशिष्ट क्रम से रूपगत पैटर्न निर्माण

होते हैं। मूलत: पैटर्न के निर्माण में पुनरावृत्ति का तत्त्व निहित होता है। प्रत्येक रचना मे घटनाओं का विशिष्ट क्रम होता है– और इस क्रम मे घटनात्मक इकाइयों की पुनरावृत्ति होती है। पुनरावृत्ति का यह अर्थ नही कि सारी घटनात्मक इकाइयां एक जैसी ही होनी हैं। कहानी मे प्रत्यक्ष घटना की पुनरावृत्ति नहीं होती, बल्कि प्रत्येक घटना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कहानी की मूलगत समस्या को ध्वनित करती रहती है। प्रत्येक घटना मे कहानी की समस्या प्रतिध्वनित होती है। पाठ प्रक्रिया से गुजरते समय घटनाओं की बहिर्गत परस्पर स्वरूप भिन्नता मूल समस्या से जुडकर आन्तरिक समानता को चित्रित करती है। प्रत्येक घटना एक दूसरे से अलग होकर भी मूल समस्या की पुनरावृत्ति करती है। इस प्रकार कथात्मक साहित्य में पैटर्न के कारण रचना का विशिष्ट सौन्दर्य स्पष्ट होता है। यहां एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साहित्य-कृति का पैटर्न और किसी स्थिर चित्र का पैटर्न इनमे अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, किसी दरी या कालीन पर अंकित चित्राकृति का पैटर्न अपने आप मे स्थिरपद होता है, जिसकी प्रत्यक आकृति कहीं न कहीं अपने पडोस की आकृति के साथ रूप साम्य के कारण जुडी हुई होती है, अतः प्रत्येक आकृति जुदी-जुदी होती है और इनके एक विशिष्ट समन्वय से कालीन या दरी का डिजाइन पूरा होता है, किन्तु कहानी का पैटर्न दरी के समान यान्त्रिक नहीं होता। कहानी का पैटर्न एक ओर घटनाओं म विविधता की मांग करता है तो दूसरी ओर एक ही समस्या के अर्थ की पुनरावृत्ति की मांग भी करता है। यदि कहानी म घटनाओं की विविधता न आन पाये तो रचना कृत्रिम बन जाती है और यदि प्रत्यक घटना मूल समस्या के अर्थ को ध्वनित न कर सके तो रचना निरर्थक लगती है। यानी विविधता म एकता स्थापित करने का भाव कहानी के रचनागत सौंदर्य को उभारता है। साथ-साथ प्रत्येक घटना एवं घटनात्मक इकाई कथ्य के विकासोन्मुख तत्त्व को परिवर्द्धित करती है। इसलिए सफल कहानी की प्रत्येक घटना पिछली घटनाओं का पुनर्विश्लेषण प्रस्तुत करती हुई रूप-प्रक्रिया के हर नये क्षण को उत्कट बनाये जाती है। इस प्रकार कहानी का पैटर्न तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक स्थित्यन्तरो से गुजरता हुआ विकसित होता है। पैटर्न का कथा-वस्तु से तार्किक सम्बन्ध होता है तो उसका चरित्र स मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध होता है। कहीं कहीं ये दोनों सम्बन्ध बडे स्पष्ट और स्थूल होते हैं, तो कहीं किसी एक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता है, लेकिन प्रत्यक सफल रचना मे पैटर्न का तत्त्व 'वस्तु' और चरित्र के सम्बन्धों को विकसित करता हुआ रचना की रूप-प्रक्रिया को सिद्ध करता है। जयशंकर

प्रसाद की 'ममता', गुलेरी की 'उसने कहा था, 'कमलेश्वर की 'राजा निरवंसिया', महेंद्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स', फणीश्वर रेणु की 'तीसरी कसम' आदि कहानियों के पैटर्नों का विश्लेषण किया जा सकता है और इनका 'वस्तु' और चरित्र के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। जिन कहानियो मे यह सम्बन्ध स्थापित नही हो सकते उनके पैटर्न यान्त्रिक होते है, वे रचना के सेन्द्रियत्त्व का बोध नही करा सकते ।

हमने अब तक कहानी की रूप-प्रक्रिया से सम्बन्धित उन तत्त्वो का विश्लेषण उपस्थित किया है, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कहानी की कथावस्तु (प्लाट) से है। कहानी के आरम्भ मे उद्घाटन-तत्त्व के लिए घटना एवं चरित्र के पूर्व-संदर्भों की सीमाओ का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया और सिद्ध किया गया कि पूर्व संदर्भों के चित्रण मे समुचित चुनाव की आवश्यकता होती है। पूर्वसदर्भो के साथ 'दृश्यवन्ध' का तत्त्व जुडा हुआ है। दृश्यवन्ध के चित्रण मे उचित चयन और चुनाव की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए 'वातावरण' तत्त्व की विश्लेपणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। कहानी मे विश्वसनीयता' उत्पन्न करने के लिए इन तत्त्वो की अनिवार्यता पर चर्चा करते हुए समय तत्त्व, केन्द्रविन्दु और चरमोत्कर्प जैसे कथावस्तु के अभिन्न अवयवो की महत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। 'केन्द्रविन्दु' तक पहुँचने के लिए 'कथावस्तु' किस प्रकार की सघर्प-प्रक्रिया से गुजरती है इसका जिक्र किया गया है और संघर्पतत्त्व के विविध रूपो की चर्चा करते हुए पैटर्न का विश्लेपण किया गया है। उपर्युक्त सारे तत्त्व परस्पर सम्बन्धित है, एक तत्त्व दूसरे को जन्म देता हुआ 'कथावस्तु' के स्वरूप को स्पष्ट करता है। 'पैटर्न' के विश्लेपण मे 'कथावस्तु' और 'चरित्र के सम्बन्धो का विचार करना ही पड़ता है। सक्षेप मे, 'कथावस्तु' का विश्लेपण 'चरित्र' तत्त्व की चर्चा को वढावा देता है। अतः हम 'चरित्र' (कैरेक्टर) से सम्बन्धित विविध प्रश्नो का विचार प्रस्तुत करना चाहेगे।

छ. चरित्र और व्यापार

कथात्मक साहित्य मे जीवन की विशिष्ट अनुभूति को चरित्रगत व्यापारो मे अभिव्यक्त किया जाता है। अतः चरित्र-तत्त्व कथा का अनिवार्य अवयव होता है, वल्कि यही एक ऐसा अवयव है जिसके कारण सम्पूर्ण कथा की सेन्द्रियता विकसित होती है। रचनाकार अपनी अनुभूति के अनुरूप जब किसी 'चरित्र' का अनुभव करता है तब उसके सम्मुख केवल स्थिर, अचल व्यक्तिचित्र नही होता और न केवल कल्पनाजन्य मनोवृत्ति से निर्मित मूर्ति ही होती है। वल्कि वह ऐसे चेतन व्यक्ति-रूप का अनुभव करता है, जिसमे व्यापारो

(एडगन) की क्षमता निहित होती है। बुक्स ने चरित्र की व्याख्या इस प्रकार की है– 'कार्य-व्यापारों की अन्त शक्तियों का सश्लिष्ट रूप जिस चेतन अवस्था से बोधित होता है, उसे चरित्र कहा जाता है।' [11] इसका अर्थ यह हुआ कि 'चरित्र मे व्यापारों की क्षमता होती है, बिना व्यापार के चरित्र का कोई अस्तित्व नहीं है। चरित्र में विविध कार्य-व्यापारों की एव मनो-व्यापारों की क्षमता होती है, किन्तु यह मानना भूल होगी कि वह कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् होता है। उसम केवल उन विशिष्ट व्यापारों की क्षमता होती है जो अन्ततः परस्पर सुसगति का बोध कराते हैं। ससार मे दुष्ट, मुष्ट, क्रूर, दयालु, व्यक्ति हो सकते हैं, पर रचना मे इनका वर्ताव कथावस्तु सापेक्ष होना चाहिए। नायक खलनायक बन सकता है, खलनायक नायक भी बन सकता है, किन्तु यह रूपान्तरण स्वाभाविक प्रक्रिया का फलित होना चाहिए। चरित्रों के प्रवृत्यात्मक रूपान्तरण निर्णयात्मक नहीं होने चाहिए, चरित्रों का विकास लेखक की इच्छा के अधीन नहीं होना चाहिए। वरन् चरित्रों मे कर्तुमकर्तुम शक्ति आ जायगी। वे या तो दानव लगेंगे, या नहीं तो देवता। चरित्रों का निर्माण मानव की ससीमता से सम्बद्ध होता है। विशिष्ट अवस्था मे विशिष्ट कार्यव्यापार और स्वाभाविक वर्ताव चरित्रों मे विश्वसनीयता उत्पन्न करते हैं। साहित्य चूंकि जीवन मे प्रेरित है, उसका उद्देश्य कलात्मक सत्य को उद्घाटित करना है। इसलिए साहित्य-विश्व मे सुसगत मानव-व्यापारों का दर्शन होता है। चरित्रगत विकास चरित्र की विकसनशील क्षमता की सीमा से आबद्ध होता है। यानी चरित्र का अपनी हद तक एक मनोवैज्ञानिक पैटर्न होता है। चरित्रगत मनोवैज्ञानिक पैटर्न को प्रस्तुत करने के लिए अर्थपूर्ण एव सुसगत कार्यव्यापारों का सयोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त उक्त पैटर्न को प्रस्तुत करने के कई मार्ग हो सकते हैं- जैसे दृश्यवस्तु का चित्रण, प्रसगों का विवरण, लेखकीय टिप्पणियाँ आदि। किन्तु चरित्रगत पैटर्न को प्रस्तुत करने का विश्वसनीय मार्ग है चरित्रगत कार्यव्यापार। चूंकि कथात्मक साहित्य मे चरित्र की श्रेयमात्रता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है, चारित्रिक विकास के लिए व्यापारों का चुनाव आवश्यक है। पाठक भी चरित्रों के व्यक्तित्व को उनके कार्यव्यापारों से ही विश्लेषित करते हैं। कार्यव्यापारों की कई श्रेणियाँ और रूप होते हैं। भौतिक व्यापार, मानसिक प्रतिक्रिया, सूक्ष्म इंगित, अर्थपूर्ण मौन आदि कई तरीकों से चरित्रगत व्यापारों के विकास को सूचित किया जा सकता है। फिर भी यह सारे तरीके हैं। इन साधनों का महत्त्व तभी है जब इनमें और चरित्र में विसवादित्व न हो। जहाँ चरित्र

और व्यापार एक हो जाते हैं वहां रचना में चैतन्य निर्माण हो जाता है। अतः कार्यव्यापारों के अर्थपूर्ण चित्रण के लिए लेखक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि वह किसी 'व्यक्ति' का चित्र उपस्थित नहीं कर रहा है बल्कि किसी विशिष्ट व्यक्ति को चित्रित कर रहा है जिसमें विशिष्ट कार्यव्यापार की क्षमता है। सफल कहानी लेखक कार्यव्यापारों का चित्रण कई तरीकों से करता है पर उसके ये सारे तरीके चरित्र की विशिष्टता से जुड़े हुए होते हैं।

उपर्युक्त चर्चा को ध्यान में रखते हुए हम 'कथावस्तु' और 'चरित्र' की रूप-प्रक्रिया को स्पष्ट करना चाहेंगे और साथ-साथ समकालीन कहानी में 'वस्तु' और चरित्र की विशेषताओं का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

ग. कथावस्तु . कल और आज

साहित्यिक कहानी के उदय के साथ ही कथावस्तु (प्लाट) की संकल्पना का निर्माण हुआ है। कोरे गल्प या किस्से में घटनाओं की केवल एक सीधी मालिका प्रस्तुत की जाती है, समय-तत्त्व का निर्वाह किसी तार्किक आधार का फल नही होता है, केवल आगे क्या ? इस प्रश्न के कुतूहल को बरकरार रखने के लिए घटनाओं का क्रम बनाया और बढ़ाया जाता है। किन्तु 'प्लाट' की संकल्पना मे रचना के घटना-क्रम में कारण और परिणाम का तत्त्व शामिल किया गया और रचना का निश्चित संगठन निर्माण हुआ। अतः गल्प में समय तत्त्व ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ता जाता है तो प्लाटवादी कहानी में कारण से परिणाम की ओर।[१७] स्पष्ट है, प्लाट के लिए प्रसंगों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इन प्रसंगों के विशिष्ट गुंफन से निर्धारित अंत तक पहुँचने से प्लाट का कार्य पूर्ण होता है। इ० एम० फोर्स्टर ने गल्प और प्लाटवादी कहानी के प्रवृत्यात्मक अंतर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि गल्प में जिज्ञासा का भाव प्रमुख भाव रहता है किन्तु प्लाट के बोध के लिए स्मृति और बुद्धि को जागृत करने की जरुरत होती है।[१८] इसीलिए प्लाटवादी रचना में विधात्मक सौंदर्य निर्माण होता है।

ज्योंही कहानी ने नाटक से प्लाट की संकल्पना अपनाई, कथात्मक साहित्य में चित्रित जीवन का यथार्थ एवं प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट गया। कहा गया है कि प्रत्यक्ष जीवन में कोई प्लाट नहीं होता। 'प्लाट' में रचना कर्म की आवश्यकता होती है। अतः प्लाट के साथ ही कथात्मक साहित्य में किसी बाह्य रचनागत कृत्रिमता का आरोपण किया जाने लगा। रचनाकारों के सम्मुख सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न निर्माण यह हुआ कि 'प्लाट' की मूलभूत कृत्रिमता को कैसे प्रामाणिक एवं स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया जाय।

इसके साथ अन्य अनेक तरकीबो का शुमार किया जाने लगा और यह दिखाने का प्रयत्न किया जाने लगा कि जैसे लेखक जीवन के मूल्यों की खोज मे और अभिव्यक्ति मे लगा हुआ है। प्लाट की असत्यता को सत्याभास मे रूपातरित करने के लिए मानवीय सम्बन्धो के 'कारण परिणाम' युक्त घटनात्मक सूत्र खोजे गए और जीवन के कुछ निश्चित (रिजिड) पैटर्न निर्माण होने लगे। प्लाट की एक रसता के कारण प्लाटवादी कहानियाँ फिर से सपाट और कृत्रिम लगने लगी। इस समस्या से बचने के लिए सयोग तत्व का बहुत अधिक सहारा लिया जाने लगा और प्लाट मे प्रामाणिकता लाने के कई सफल प्रयोग किये जाने लगे। इसके अतिरिक्त 'चरमोत्कर्ष' के आकर्षक प्रयोग करके सपूर्ण रचना की बंदिश मे चैतन्य निर्माण करने के प्रयत्न भी कम नही हुए हैं।

प्लाट-सकल्पना के विकास मे प्रयत्न यही होता रहा कि कैसे मानवीय अनुभवो की कच्ची सामग्री को संगठित पैटर्न मे बाँध दिया जाय, और बिना किसी अतिरिक्त विवरण के घटनाओ को निर्धारित अत की ओर बढाया जाय। देखना यह है कि क्या प्लाट के समुचित सगठन से रचना मे कलात्मकता निर्माण होती है या कारीगरी ?

सही तो यह है कि साहित्य म प्लाट की स्वीकृति जीवन की ओर देखने के निश्चित दृष्टिकोण की ही स्वीकृति है। इस दृष्टिकोण मे कही न कही हम हमारी उस असमर्थता को मान लेते हैं जिसम बाह्य कार्य व्यापारो के आधार पर मानवी-मन के रहस्यो का आकलन होता रहा है। प्रत्यक्ष रूप से हम मनुष्य की अतरतम गहराई से परिचित नही हो सकते। हमारे सम्मुख मनुष्य स्वभाव को जानने का एक ही तरीका उपलब्ध है। और वह है मनुष्य के प्रत्यक्ष व्यापार और कृतियाँ। यथार्थ जीवन मे मनुष्य-स्वभाव की पहचान उसके कर्मों (एक्ट) से होती है, अत. कार्यव्यापारो द्वारा मनुष्य का और मनुष्य-सम्बन्धो का आकलन किया जा सकता है। प्लाट की सकल्पना इस दृष्टिकोण पर खडी है। '' इस दृष्टिकोण के अतर्गत एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व छिपा हुआ है। वह यह कि प्लाट की स्वीकृति हमे किसी नैतिक-निर्णय की ओर ले जाती है। विशिष्ट स्वभाव के व्यक्तियो का चुनाव अपने आप मे पूर्वनिर्धारित नैतिक निर्णय का ही चुनाव होता है। प्लाट, बिना किसी मूल्य-निर्धारण के पूर्ण हो ही नहीं सकता। अच्छा-बुरा, सत्य-असत्य, सुष्ट दुष्ट, नायक-खलनायक इस प्रकार के स्थिर (रिजिड) मूल्याकन के बिना प्लाट का कार्य पूर्ण नही हो सकता। मनुष्य के बहिर्गत कर्मो को, पूर्वनियोजित स्थिर मूल्यो को प्रामाणित करने के लिए एक पैटर्न मे ढालने का अथ होता है प्लाटवादी रचना का निर्माण।

मनुष्य-जीवन के आकलन का एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। यह दृष्टिकोण उपर्युक्त दृष्टिकोण के बिल्कुल विरोध में पड़ता है। इस दृष्टिकोण में मानव व्यापारों की अपेक्षा प्रत्यक्ष मानव को प्राथमिकता दी जाती है। मनुष्य अपने व्यापारों का निर्माता और नियन्ता होता है। उसका व्यक्तित्व उसके व्यापारों को संचालित करता है, और स्वयं विशिष्ट स्थितियों को एवं परिस्थितियों को उत्पन्न करता है। अतः मनुष्य को पहचानने का रास्ता है 'चरित्र' न कि पूर्व निर्धारित कृतियों का पैटर्न ![20] यह सही है कि व्यक्ति के कई कार्यव्यापार ऐतिहासिक चेतना से एवं परम्परा बोध से संचालित होते हैं किन्तु यहाँ भी व्यक्तिगत चेतना महत्त्वपूर्ण होती है। अतः कथात्मक साहित्य में यदि कलात्मक सत्य को उद्‌घाटित करना है तो आरोपित पैटर्न को स्वीकृत नही किया जा सकता। कथात्मक साहित्य में चरित्र-बोध ही रचना को कलात्मक ऊँचाई प्रदान कर सकता है। इस प्रकार प्लाट की आवश्यकता पर संदेह प्रकट किया जाने लगा और चरित्र (कैरेक्टर) को महत्त्व प्राप्त हुआ। इस दृष्टिकोण के कारण यह मान्य कर लिया गया कि रचनाकार अपने चरित्रों के मानसिक जीवन की गहराइयों को स्पर्श कर सकता है, उसमें चरित्रगत अन्तश्चेतना को जानने की क्षमता होती है। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के विकास के कारण मानवीय व्यापारों के आन्तरिक प्रयोजन का परिचय होता जा रहा है। अब हम महसूस करने लगे हैं कि जीवन का कोई पूर्वरचित प्लाट नही हो सकता, बल्कि मानवीय सम्बन्धों के नित नए मोड़ हर क्षण नए पैटर्न की रचना कर रहे हैं। मनुष्य की प्रतिक्रियायें किसी बाहरी शक्ति से नियन्त्रित नहीं हैं। इस तरह कथात्मक साहित्य के सम्पूर्ण रचना-विधान में आमूलाग्र बदल उपस्थित हुआ और एक चेतन सेन्द्रिय–विधा की संकल्पना उभरने लगी।

आधुनिक कथा-साहित्य अपने चरित्रों के आन्तरिक जीवन पर प्रकाश डालना चाहता है। यह करते समय रचनाकार अपना व्यक्तिगत निर्णय चरित्रों पर थोपना नही चाहता। अपने चरित्रों को उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं के विशिष्ट अवस्थाओं में गुजरता हुआ देखना चाहता है। यही कारण है कि आधुनिक रचनाएँ किसी निर्णायक तत्त्व का मूल्यांकन नही करती, बल्कि कुछ ऐसे प्रश्नों को निर्माण करती हैं जिन्हें जानकर हम जीवन की चेतन जटिलता का एवं रहस्यमयता का अनुभव करते लगते हैं। लेखकीय उद्देश्य और विधात्मक अनिवार्यता इन दोनों के कारण आधुनिक कथात्मक साहित्य में सेन्द्रिय विधा की संकल्पना ने जन्म लिया है। बाह्य आरोपित शिल्पतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता ही समाप्त हो गई है। रचनाकार की संवेदनशीलता और रचना की रूप-

प्रक्रिया एक दूसरे से अलग नही किये जा सकते। अब लेखक की समस्या घटनाओ के सयोजन से ग्रस्त नही वल्कि कथ्य की स्वाभाविकता से जुडी हुई है। कथावस्तु से वह कथ्य पर आ गया है। कथावस्तु या प्लाटवादी रचना किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन होती है, इसके विरुद्ध सेन्द्रिय-विधा मे किसी भी आरोपित बदिश की अस्वीकृति का भाव होता है, एक नकारबोध (एण्टी-बोध) होता है। *प्राय अ-कहानी का आदोलन इसी नकार-बोध का* परिणाम है।

इस चर्चा के आधार पर हम कह सकते हैं कि आधुनिक कथात्मक साहित्य मे 'प्लाट' का विश्लेषण उस सेन्द्रियविधा का विश्लेषण है जिसमे प्लाट और चरित्र एक ही प्रक्रिया के अग हैं। आधुनिक कहानी म चरित्रगत कार्यव्यापार एक अर्थपूर्ण इकाई को प्रकट करते हैं। कार्यव्यापारो की एकता और सार्थकता परस्परजन्य प्रक्रिया से निर्मित होती है। हम अपने निर्णय अलग स उन पर लाद नही सकते। सन्द्रियविधा के 'वस्तु' की व्याख्या करते हुए ब्रुक्स ने कहा है—'प्लाट एक ऐसा चरित्र है जो कार्यव्यापारो मेलगा हुआ है।'[२१] समकालीन कथात्मक साहित्य की रूप प्रक्रिया वस्तुगत गत्यात्मकता से अनुप्राणित होती है।

घ. चरित्र : कल और आज

एक जमाने मे बात चली थी—'चरित्र' श्रेष्ठ या 'वस्तु' श्रेष्ठ ? आलोचकों ने, स्पष्ट है दोनो तत्त्वो को एक दूसरे से जुदा करके देखा था। कथात्मक साहित्य की रूप प्रक्रिया म चरित्र और वस्तु परस्परावलबी होते हैं, इन्हे अलग कैसे किया जा सकता है। चरित्र क्या है ? घटना की निश्चयात्मकता। और घटना क्या है ? चरित्र का मूर्तिकरण।[२२] जेम्स ने चरित्र और वस्तु की एकता की ओर इशारा किया है। पुराने आलोचको ने 'चरित्र' की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत करते हुए चरित्र-चित्रण की समस्या पर लम्बे बखान दिये हैं। कहीं दृश्यबध के द्वारा, कहीं चरित्र के बाह्य हुलिये का चित्रण करके, कही चरित्र के अभिनय इगितो के द्वारा, तो कही चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम आफ काश सनेस) *पद्धति से चरित्र चित्रण की समस्या को हल करने के प्रयत्न हुए हैं,* हो रहे है। किन्तु इन सारे प्रयत्नो म एक रहस्य बार-बार प्रकट होता रहा कि 'चरित्र' को वस्तु से कदापि अलग नही किया जा सकता। वस्तुत चरित्र-चित्रण एक प्रक्रिया है, वह कोई घटना या स्थिति नहीं है। अपन वातावरण के प्रति प्रतिक्रियाओ को चरित्र व्यक्त करते हैं और इस प्रतिक्रिया की प्रक्रिया

को आविष्कृत करना ही चरित्र-चित्रण करना है । चरित्र की स्वतन्त्र सत्ता जहाँ स्वीकृत की गई है, वहाँ चरित्र 'चरित्र' नही रहता एक समष्टि-रूप (टाइप) बन जाता है । कहानी के प्राचीन दौर में ऐसे स्थिर चरित्र मिलते हैं । इन चरित्रों के गुण और अवगुण, सिद्धान्त और लक्षण पहले ही से पक्के कर लिये जाते है और इन स्थिर गुणों को साबित करने के लिए 'वस्तु' को तैयार किया जाता है । यहाँ जीवन की गतिमानता पर ही संदेह प्रकट किया जाता रहा है । यह चरित्र जैसे सब कुछ करने की क्षमता रखते है, परिस्थितियों पर नियंत्रण रखना जैसे इनके लिए साधारण सी बात है । यही कारण है कि पुराने दौर के कथानायक या नायिकाएँ जिस उद्देश्य को लेकर रचना में दाखिल होते है, अंत मे बराबर अपने उद्देश्य को प्राप्त कर ही लेते हैं, चाहे परिस्थितियाँ कितनी ही विरोध मे पड़ती हों ।

हमने 'कथावस्तु' पर चर्चा करते हुए कहा था कि प्लाटवादी रचनाओं के पीछे एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि कार्य करती है, उसी प्रकार यहाँ भी एक स्थिर जीवन-दृष्टि का ही प्रभाव है, जिससे चरित्र–निर्माण की प्रक्रिया भी पूर्वाग्रह दूषित बन गई है । चरित्र प्रधान साहित्य व्यक्ति की सृजन-क्षमता पर विश्वास रखता है, अत. ऐसे साहित्य मे 'वस्तु' का सृजन 'व्यक्ति' द्वारा नियंत्रित किया जाता है । चरित्र अपनी कथावस्तु आप बनाते हुए पूर्वनिर्धारित 'अन्त' को प्राप्त कर लेते है ।

आधुनिक युगीन चेतना के साथ ही मानव की जीवन-दृष्टि में आमूलाग्र बदल उपस्थित हुआ है । राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ, वैज्ञानिक प्रगति, दो महायुद्ध और सतत चलने वाले शीत युद्ध आदि क्रांतिकारी परिवर्तनों के कारण आधुनिक समाज की सम्पूर्ण परम्परागत भूमिका ही छिन्न-भिन्न हो गई । समाज में नई जीवन-दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है । नीति की व्याख्याएँ बदल गईं, श्रद्धा और मूल्यों का विघटन हुआ है । इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक साहित्य में अनुभूति की नई व्यवस्था खोजी गई, संवेदनशीलता के नए कोण उभरे, व्यक्ति मे प्रतिनिधि देखने की पुरानी पद्धति खत्म हो गई कथात्मक साहित्य में चरित्र-निर्माण की स्थिर पद्धति भी समाप्त हो गई । हिन्दी की नई कहानी में यह स्थित्यंतर बड़ा स्पष्ट है । नई कहानी ने केवल शैली को ही नही बदला, अपितु उसकी संपूर्ण रचना प्रक्रिया ने परिभाषा का संकट भी पैदा किया है । 'उसमें कहानी की समग्रता को ही प्रश्रय मिला और यह स्पष्ट हुआ कि कहानी बनाई नही जाती, वह स्वयं अपना रूप ग्रहण करती है और इस प्रयास के साथ कहानी की सारी पच्चीकारी और शिल्प, कहानी

के नये स्थापित स्वतन्त्र अस्तित्व मे पर्यवसित हो गया।'[११]

जाहिर है, आधुनिक कथात्मक साहित्य में 'वस्तु' श्रेष्ठ या 'चरित्र' श्रेष्ठ ऐसे प्रश्न निरर्थक लगते हैं। नित्य बदलते यथार्थ को कलात्मक स्तर पर उठाने के लिए जीवन की गतिशील प्रक्रिया को स्वीकृत करना पडता है। जहाँ गतिशीलता का तत्त्व विद्यमान है वहाँ कही भी पूर्व नियोजित कला-माध्यम नाकारा साबित होंगे ही इसमे तनिक भी सदेह नही है। क्योंकि 'चरित्र' स्वय प्रक्रिया है, वह कोई हकीकत नहीं है। यह एक ऐसी प्रक्रिया[२४] है जिसमे अनाम व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष परिप्रेक्ष्य से जूझता है, पर ज्योंही उस विशिष्ट परिप्रेक्ष्य से उसका परिचय हो जाता है, वह फिर हतोत्साह और निराश हो जाता है, नवीन प्रत्यक्ष से टकराता है। टकराना और बिखरना आधुनिक 'चरित्र' की नियति है।

कथात्मक साहित्य की रचना-प्रक्रिया मे अनिमत रचना के सारे अग परस्पर समन्वय से अर्थपूर्ण अत को जन्म देते हैं। कहानी पढने के बाद हम किसी भी एक अग की चर्चा उपस्थित नहीं करते, सपूर्ण रचना के 'पूर्ण' पर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है। सक्षेप मे, हम कथ्य की सार्थकता का विश्लेषण करते हैं।

ड़ कथ्य की सार्थकता

कथात्मक साहित्य मे चरित्र, कार्यव्यापार, वस्तु का प्रक्रियात्मक विकास अपने आप मे किसी एक विशिष्ट सार्थक अन्त को उपस्थित करता है। यह अर्थपूर्ण अन्त ही कथ्य[२५] है। कई बार हम कहानी के 'विषय' को कथ्य समझ बैठने की भूल करते हैं। एक ही विषय पर लिखी विभिन्न कहानियो के कथ्य अलग-अलग हो सकते हैं। विषय का प्रत्यक्षीकरण कथ्य मे होता है। कहानी की रचना-प्रक्रिया मे ही कथ्य उभरता है। अत कथ्य का सक्षेप नही किया जा सकता। जानकारी देने के लिए या विचार (आयडिया) को चित्राकित करने के लिए कथ्य का प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'विचार' के चित्राकन या दृष्टान्तीकरण मे विचार पहले आता है और माध्यम पश्चात्। पर 'कथ्य' किसी पूर्व निश्चित तत्त्व को प्रमाणित करने का माध्यम नही होता, वह स्वय 'प्रमाण' और 'प्रमाणित' होता है। कहानी कथ्य से गुजरती है, उसके साथ बाजी लगाती है।[२६] यह सही है कि कथात्मक साहित्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानवीय-सम्बन्धो का मूल्याकन ही प्रस्तुत करता है, पर यह मूल्याकन किसी नैतिक बोध की उपलब्धि के लिए नही होता, न कहानी मे कोई 'मूल्य' दृष्टान्तो के द्वारा प्रमाणित किया जाता है। किसी कहानी के प्रति हमारे कई

आकर्पण हो सकते हैं। कभी चरित्र हमें प्रभावित करता है, तो कभी शैली और कभी रचनाकार का व्यक्तित्व। किन्तु अन्त में एक प्रश्न रह ही जाता है कि हमारे इन आकर्षणों का प्रयोजन क्या है ? कहानी में ये सारे कोण क्यों चित्रित किये गये हैं ? यदि रचना की सार्थकता कुछ भी नहीं है तो उपर्युक्त आकर्पणों का कोई अर्थ नहीं होगा। कहानी की सार्थकता कथ्य की सार्थकता में ही ढूंढी जाती है। 'कथ्य' प्रथमतः हमें रचना के सेन्द्रिय-पूर्णत्व का बोध कराता है और पश्चात् विविध अंगों का। चरित्र, वस्तु, शैली, कार्य व्यापार आदि तत्त्वों के योग से कथ्य निर्माण नहीं होता, कथ्य की अर्थपूर्णता के संदर्भ में ही विविध तत्त्वों को सार्थकता प्राप्त होती है। आस्वोर्न के शब्दों में यदि कहें तो–'कथ्य' रचना की उस अर्थपूर्ण इकाई का बोध है जिसमें संपन्नता, संभिन्नता, सूक्ष्मता, संपूर्णता और साघनता एक साथ प्रतीत होती है।

च. निष्कर्ष

१. हमने तन्त्र-संकेतों की चर्चा प्रस्तुत करते हुए पाया कि कथात्मक साहित्य के विभिन्न तत्त्वों को विश्लेपणात्मक प्रक्रिया से विभाजित किया जा सकता है। कथा की रचना-प्रक्रिया को जानने के लिए वस्तु चरित्र, व्यापार, कथ्य आदि तत्त्वों की चर्चा आवश्यक हो जाती है, किन्तु इस चर्चा का प्रयोजन अन्त में कथ्य की अर्थपूर्णता सिद्ध करने के लिए ही होता है। रचना की सृजन-प्रक्रिया में उक्त तत्त्वों के सावयवीकरण का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होता है।

२. यह मानना भूल होगी कि सफल रचना का आधार विभिन्न तत्त्वों का समन्वय ही है। लेखक यह नहीं कहता कि उसे अमुक 'वस्तु को' अमुक चरित्र और फलां कथ्य में प्रकट करना है। वह अपनी अन्तर्दृष्टि एवं संवेदनशीलता को प्राप्त करना चाहता है।

३. अपनी अन्तर्दृष्टि (वीजन) को प्राप्त करने के लिए लेखक अपने मानस को जीवन के यथार्थ के सम्मुख विना किसी पूर्वाग्रह के स्वतन्त्र रूप से विचरण करने देता है, चयन और चुनाव की प्रक्रिया कार्यरत होती है, संस्कार-परिष्कार से अनुभव गुजरता है, रूप प्रक्रिया से जूझता है, संवेदनशीलता आकार ग्रहण करती है और सेन्द्रियपूर्ण रचना साध्य होती है।

४. कहानी की रचना प्रक्रिया अंतिमतः रूप-प्रक्रिया में रूपांतरित होती है। अनुभूति का रूपांतरण चाहे उत्स्फूर्त हो, चाहे सजग एवं सतर्क हो, इसका होना अनिवार्य है। रचना का तन्त्र अनुभूतिग्रहण में ही समाविष्ट होता है।

पिछले अध्याय में हमने कला की संवेदनशीलता की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, उसे कला-सृजन के मूलतत्त्व के रूप में सिद्ध किया है। और दूसरे अध्याय

में सवेदनशीलता रचना मे किस प्रक्रिया के द्वारा मूर्त रूप धारण करती है, इसका विश्लेषण प्रस्तुत किया है। हमने कला की रचना प्रक्रिया को रूप निर्धारण की समस्या तक सीमित किया है, क्योंकि कला के अनुभूति पक्ष से सम्बन्धित प्रश्नो का विचार प्रथम अध्याय मे ही किया जा चुका है। अत. दूसरे अध्याय मे कला के अभिव्यक्तिपक्ष की चर्चा प्रस्तुत की गई है।

दूसरे अध्याय को समग्रता से देखने पर हम कुछ स्पष्ट निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। दोनो अध्यायो के निष्कर्षों को आधार बनाकर हम तीसरे अध्याय मे प्रत्यक्ष हिन्दी कहानी के प्राचीन दौर का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। दूसरे अध्याय के निष्कर्ष ये हैं—

छ. निष्कर्ष

१, कला-कृति की रचना-प्रक्रिया मे शिल्प-बोध की अनिवार्यता रचना-कर्म की अगभूत शर्त है। शिल्प-बोध लेखक के अनुभूति-सामर्थ्य से जन्म लेकर पुष्ट होता है, सत-ही शिल्प-सयोजन कवल चौंकने का काम करता है।

२. भाषा-जन्य कथा-कृति म आशय और अभिव्यक्ति का अद्वैत सिद्ध होता है। इस अद्वैत को सिद्ध करन के लिए कलाकार की अनुभूति विशिष्ट रूप-प्रक्रिया से गुजरती है। रूप-प्रक्रिया की विशिष्टता अपने अनुरूप रूप-बन्ध को जन्म देती है।

३. कथात्मक साहित्य मे काव्य, नाट्य आदि गुणो का आविर्भाव होकर भी उसकी प्रमुख प्रवृत्ति प्रत्यक्षीकरण की होती है। कहानी मे अगभूत कहानी-पन होता है।

४ साहित्यिक कला-कृति का प्रत्येक घटक कृति की सम्पूर्णता का अभिन्न हिस्सा होता है। साहित्यिक कला-कृति सेन्द्रियपूर्ण होती है।

५. साहित्यिक कलाकार चूँकि जीवन के यथार्थ के एक ही हिस्से को देख सकता है, कला-सकेतो के समुचित प्रयोग से अर्द्ध—यथार्थ को पूर्ण-यथार्थ के रूप मे व्यक्त करता है। इस प्रकार कला की आस्वाद्यमानता सवेत-बोध कारण ही बनी रहती हैं।

६. कथात्मक साहित्य की रचना-प्रक्रिया को जानने के लिए रचना के विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषणात्मक विभाजन सम्भव हो सकता है। किन्तु यह विश्लेषण कथ्य की अर्थपूर्णता को सिद्ध करने के लिए ही उपयुक्त हो सकता है।

---

३. हिंदी कहानी का पूर्व रंग : संवेदनशीलता का स्वरूप

हमारे प्रबंध का प्रतिपाद्य विषय नई कहानी की संवेदनशीलता के विश्लेषण से संबद्ध है, इसलिए इस प्रकरण के अधिक विस्तार में हम जाना नहीं चाहेंगे। केवल नई कहानी के आगमन के पूर्व हिन्दी कहानी की संवेदनशीलता का स्तर क्या था, इसे संक्षेप में हम समझना चाहेंगे और सिद्ध करना चाहेंगे कि नई कहानी अपने पूर्वरंग से किस स्तर पर जुड़ी हुई है। हमने हिन्दी कहानी के प्राचीन दौर में उन प्रमुख कहानीकारों को ही लिया है जिन्होंने अपने तरीके से हिन्दी कहानी के विकास में निश्चित हाथ बँटाया है। हम मानते हैं कि हिन्दी कहानी का प्रारम्भ जयशंकरप्रसाद की कहानी से हुआ। वैसे प्रसाद के पूर्व कुछ कहानीकार जरूर उदित हुये। किन्तु जिसे साहित्यिक कहानी कहा जाना चाहिए, प्रसाद की कहानी उस स्तर को प्राप्त कर सकी है। प्रसाद से आरम्भ होकर अज्ञेय तक हिन्दी कहानी का एक चरण समाप्त होता है। इस चरण में कई छोटे-मोटे मोड़ आये हैं, किन्तु ये मोड़ अंततः एक ही राजमार्ग को जा मिलते हैं। अतः हमने हिन्दी कहानी के पूर्व रंग में उन सब कहानीकारों को सम्मिलित किया है जिन्होंने नई कहानी की आगमन-पूर्व परिस्थितियों को एक निश्चित बिन्दु तक ला पहुँचाया, जहाँ से नई कहानी का जन्म एक अनिवार्य तथ्य के रूप में हुआ है। इनमें प्रमुख नाम लिए जाते हैं—जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी।

हमने उपर्युक्त कहानीकारों की प्रत्यक्ष रचनाओं को सम्मुख रखकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कैसे इनकी संवेदनशीलता कलावाह्य शक्तियों के प्रभाव में पूर्वाग्रह-दूषित बनी रहीं और रचना में रूपांतरित होकर कलात्मकता के स्तर को क्वचित ही प्राप्त कर सकी।

जयशंकर प्रसाद की संवेदनशीलता : रोमानी आदर्शवाद

द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मक काव्य प्रणाली के विरोध में नवीन व्यक्तिवादी चेतना का उदय हिन्दी कविता के क्षेत्र में हुआ। व्यक्तिगत भाव-भावनाएँ,

विचार-कल्पनाएँ प्रकृति के झीने परदे में अभिव्यंजित होकर स्वप्निल वातावरण की निर्मिति करने लगी और छायावादी जीवन दृष्टि से प्रभावित कविता का जन्म हुआ। जयशंकर प्रसाद छायावादी बोध के प्रमुख कवि माने जाते हैं। छायावादी जीवन दृष्टि अन्य जातीय कारणों के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्यिक आन्दोलनों से भी काफी प्रभावित जान पड़ती है। अंग्रेजी साहित्य में अठारहवीं शताब्दि की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया में वर्ड्सवर्थ, कोलरिज आदि कवियों ने रोमांटिक भाव-बोध का प्रणयन किया बिल्कुल इसी तरह हमारे यहाँ छायावादी काव्य धारा का आरम्भ हुआ।

छायावाद कोई वाद नहीं है, बल्कि जीवन को देखने का एक निश्चित काव्यात्मक दृष्टिकोण है जिसमें व्यक्तिवादी जीवन-बोध कल्पना के बलपर प्रकृति की चेतना में समन्वित होकर एक रंगीन, वायवी आदर्श-सत्ता में विलीन हो जाता है। रोमानी-आदर्शवादी जीवन दृष्टि में केवल अनुभवों का पुनर्प्रस्तुतीकरण अपेक्षित नहीं बल्कि अनुभव विशेष को एक ऐसा आध्यात्मिक स्तर प्राप्त करा देना होता है जिसमें अनुभव ठोस यथार्थ से ऊपर उठकर काल्पनिक आदर्श में परिणत हो जावे। एक ओर कवि व्यक्तित्व की गत्यात्मकता और दूसरी ओर प्रत्यक्ष जीवन के अनुभव की स्थिरता इन दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों के बीच समन्वित चेतनता को प्रेरित करने के लिए कवि ने कल्पनातत्त्व का प्रश्रय लिया और अपनी व्यक्तिगत अनुभूति का उदात्तीकरण किया। कोलरिज ने कल्पना-तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कल्पना-तत्त्व की दो परस्पर विरोधी तत्त्वों में संतुलित समन्वय निर्माण करने की क्षमता का विश्लेषण किया है। कल्पना शक्ति के कारण संवेदनशील कवि दो विरोधी तत्त्वों में संतुलन निर्माण करके समन्वय प्रस्थापित करता है। स्थिरता को वैविध्य में, सामान्य को ठोस में विचार को बिम्ब में, व्यक्ति को प्रतिनिधि में रूपांतरित करने की क्षमता कल्पना शक्ति के कारण संभव होती है।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि छायावादी जीवन दृष्टि, कल्पनाशक्ति का प्रश्रय लेकर सजग मानस को प्राकृतिक एवं शाश्वत तत्त्वों में विलीन करती है। स्पष्ट है, यह जीवन दृष्टि व्यक्तिगत चेतना पर आधारित है, इसलिए जीवन की किसी भी अनुभूति को वैयक्तिक सुख-दुख, प्रेम विरह, हर्ष विषाद, आशा निराशा आदि भावनाओं के रंग में गहरे डुबोकर अभिव्यक्ति प्रदान करने में इस दृष्टि की सार्थकता सिद्ध हुई है। यही कारण है कि रोमानी दृष्टिकोण में कल्पना-क्रीडा, शृंगार-वृत्ति, भावुकता, अन्तर्मुखता, प्रतीकात्मकता, पलायन, रहस्योन्मुखता आदि तत्त्वों की प्रमुखता रही है। इस दृष्टिकोण में प्रणय-भावना का स्थायी महत्त्व रहा है।

इस भावना की अतीन्द्रिय एवं अपार्थिव अभिव्यक्ति का ही प्राधान्य रहा है। यदि प्रेम-भावना का चित्रण लौकिक एवं पार्थिव पृष्ठभूमि पर हुआ भी है तो वहाँ भी चित्रण में सूक्ष्मता और सांकेतिकता हद दर्जे की रही है जिससे पार्थिव यथार्थ भी वायवी यथार्थ बन गया है।[2] प्रत्यक्ष जीवन-संघर्ष में हाथ आने वाली पराजयता तथा वैयक्तिक-प्रणय की असफल परिणति से उद्भूत कल्पना-लोक में पलायन करने की प्रवृत्ति रोमानियत की प्रमुख प्रवृत्ति बन गई इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। बहुधा यह पलायन प्रकृति-प्रेम का रूप धारण करके रचनाओं में आविष्कृत हुआ है।

जयशंकर प्रसाद की संवेदनशीलता उपर्युक्त दृष्टिकोण को लिए उनकी कृतियों में अभिव्यक्त हुई है। स्वयं प्रसाद ने अपनी अनुभूति और कलाभि-व्यक्ति को रोमानी भाव-बोध का अंग माना है। अपनी संवेदनशीलता को भारतीय रंग देते हुए उन्होंने कहा है—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणि-कता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ है। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"[3]

उपर्युक्त रोमानियत के प्रभाव में जयशंकर प्रसाद की कविता हिन्दी काव्य-प्रवाह में अपना निश्चित स्थान रखती है। प्रसाद की कविता में छायावादी जीवन-दृष्टि का पूरा-पूरा निर्वाह हुआ है। प्रसाद का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा था, जो कविता में ही अपनी समग्रता के साथ आविष्कृत हो सकता था। चूंकि जयशंकर प्रसाद ने नाटक, कहानी और उपन्यास भी लिखे हैं, जाहिर है, उनका कवि-व्यक्तित्व यहाँ भी अपनी विशेषताओं को बड़ी तीव्रता के साथ प्रकट करता रहा। इसी कारण प्रायः प्रसाद की कहानी या नाटक पढ़ते समय उनकी कविता पढ़ने का अच्छा-बुरा आनन्द मिलता है। प्रसाद का कवि-व्यक्तित्व उनकी काव्येतर रचनाओं पर हावी रहा, जिससे रचना की विधागत प्रक्रिया कई जगह अपनी स्वाभाविक सृजन-प्रक्रिया से हट गई है।

इसमें बिल्कुल ही संदेह नहीं है कि प्रसाद की कहानियां मूलतः रोमांटिक आदर्शवाद के मूल स्वर को आलापती रही हैं। स्वभावतः रोमानी-प्रवृत्ति आदर्श-लोक (युटोपिया) की निर्मिति में खो जाती है जिससे अभिव्यक्ति में आप ही आप अंतर्मुखता, सांकेतिकता एवं लाक्षणिकता उभर आती है। चूंकि कविता की प्रमुख प्रवृत्ति अभिव्यक्ति की सांकेतिकता का प्रश्रय लेती है, प्रसाद

का व्यक्तित्व कहानियों में भी कविता ही निर्माण करता रहा है। कविता की अपेक्षा कहानी अधिक मूर्त और घटना प्रधान होती है। किन्तु प्रसाद की कहानी में कविता की विशेषताएँ अधिक हैं और कहानी की कम।

भारतीय दर्शन, मानव-मूल्य, सामाजिक आदर्श आदि भारतीय-सांस्कृति के तत्वों में सदैव जीवन के पार्थिव यथार्थ का विरोध हो रहा है। भारतीय संस्कृति अततोगत्वा किसी अव्याख्यनीय आदर्श लोक का पुरस्कार करती रही है। अतः छायावादी जीवन-दृष्टि को भारतीय रंग में बड़ी स्वाभाविकता से ढाला जा सका। प्रसाद भारतीय आदर्श और सांस्कृति-मूल्य-कल्पनाओं से पर्याप्त प्रभावित थे, साथ-साथ बौद्ध दर्शन का उन पर कुछ प्रभाव जरूर था। परिणामतः उनकी रचनाओं ने इन्हीं तत्वों का प्रश्रय लिया। प्रसाद की अनुभव-ग्रहण-पद्धति भारतीय दर्शन और मूल्यों का अनुसरण करती है। रचना की सामग्री का चुनाव भी इसी दृष्टिकोण के आलोक में किया गया। भारतीय संस्कृति के गौरव चिह्न जिस भारतीय इतिहास के आगोश में प्रस्फुटित हुए हैं, उस इतिहास को और ऐतिहासिक चेतना को जयशंकर प्रसाद की रचनाएँ अतर्धारा के रूप में ग्रहण करती हैं। विशेषतः कहानी और नाटक में ऐतिहासिक चेतना उत्कटता से मुखर हुई है। 'ऐतिहासिक चेतना के प्रति उनकी अनुरक्ति कहानियों के वातावरण, काल, घटना-स्थल, पात्र इत्यादि के चुनाव में भी प्रकट है, लेकिन उनका झुकाव प्राय छायावादी काव्यबोध का ही है।" संक्षेप में जयशंकर प्रसाद की संवेदनशीलता रोमानियत के व्यक्तिवाद और आदर्शवाद के भारतीय-मूल्यों का समन्वित रूप उपस्थित करती है। अतः रोमांटिक भाव-बोध की विशेषताएँ और भारतीय मूल्यों की गरिमा एवं महिमा की अपार्थिव सत्ता का बड़ा तरल चित्रण उनकी कतिपय कहानियों में प्रस्तुत हुआ है। उनकी कहानियों में चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व, रचनाओं का ऐतिहासिक परिवेश, प्रकृति चित्रण और मानवीय-संबंध, काव्यात्मक और नाट्यात्मक कथन शैली आदि रोमांटिक आदर्शवाद के नियंत्रण में ही प्रस्फुटित हुए हैं।

प्रसाद के 'चरित्र' : अंतर्द्वन्द्व का स्वरूप

जयशंकर प्रसाद की कतिपय कहानियों के नायक और नायिकाएँ भारतीय जीवन-मूल्यों को खोजने में और महान आदर्शों को प्राप्त करने में अपनी सारी शक्ति और क्षमता लगा देते हैं। प्रसाद जी का विश्वास था कि मनुष्य केवल हाड़-माँस का पुतला नहीं और न केवल पाशवी प्रवृत्तियों का केन्द्र ही, अपितु वह अपने जीवन-क्रम में किसी न किसी महान आदर्श को प्राप्त करता है—नहीं[1] उसे इन आदर्शों को प्राप्त करना ही चाहिए। आदर्शों की प्राप्ति इतनी सरल

बात तो नहीं होती, उन्हें प्राप्त करने के लिए संघर्षों से जूझना पड़ता है, कई अंतर्द्वन्द्वों से गुजरना पड़ता है तब कहीं जीवन का महान उद्देश्य सफल हो सकता है। यथार्थ जीवन की स्वाभाविकता से गुजरते समय विभिन्न प्राकृतिक आकर्षणों का सामना करना पड़ता है, यहाँ मनुष्य के मस्तिष्क में द्विस्तरीय द्वन्द्व आरम्भ होता है। एक ओर मनुष्य स्वभाव से निर्मित प्राकृतिक प्रवृत्तियों का आकर्षण होता है, तो दूसरी ओर जीवन के महान् मूल्यों को प्राप्त करने की छटपटाहट। चूँकि प्रसाद की संवेदनशीलता मनुष्य जीवन की इतिकर्तव्यता को व्यक्तिगत संकुचित यथार्थ में न खोजकर समष्टिगत व्यापक अध्यात्म में खोजती है, उनके पात्र अंततः यथार्थ और आदर्श के अंतर्द्वन्द्व को सकुशल पार कर लेते हैं और अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठा लेने मे सफल हो जाते हैं। कहानी की प्रत्येक घटना क्रमशः चरित्रगत अंतर्द्वन्द्व की तीव्रता बढ़ाती हुई अंत में कहानीकार के अभीष्ट को सिद्ध करती है। अतः प्रसाद की कहानियों में चारित्रिक विकास का एक निश्चित पैटर्न दिखाई देता है। प्रथमतः किसी 'आदर्श' को जैसे निश्चित कर लिया जाता है और नायक-नायिका को रचना-प्रक्रिया के मार्ग पर छोड़ दिया जाता है। दोनों मार्ग-आक्रमण की प्रक्रिया में लग जाते हैं। रास्ते में उनके सम्मुख एक के बाद दूसरे ऐसे प्रखर, प्रखरतर, प्रखरतम व्यावहारिक आकर्षण आने आरम्भ हो जाते हैं। ये आकर्षण बड़े स्वाभाविक भी होते हैं और आदर्श-मूल्यों के विरोध में बड़े सामर्थ्य के साथ डटकर खड़े रहते हैं। चरित्रों के मन में द्विस्तरीय-द्वन्द्व निर्माण होने लगता है, यथार्थ और आदर्श का द्वन्द्व, इनके स्वीकृति-अस्वीकृति का द्वन्द्व। काफी संघर्ष के बाद ये चरित्र स्वाभाविक आकर्षणों को टालने मे सफल हो जाते हैं और अपने व्यक्तित्व को नई गरिमा देकर दुगने आत्मविश्वास से आगे बढ़ते हैं। उनकी कुछेक प्रसिद्ध कहानियों को पढ़ लेने पर चरित्र के अंतद्वन्द्व की उपर्युक्त विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। रोमानी संवेदनशीलता की सबसे बड़ी विशेषता और सीमा भी यह है कि यह दृष्टिकोण मनुष्य की ससीमता में बिलकुल विश्वास नहीं करता अतः इस दृष्टिकोण के आलोक में निर्मित पात्र महान त्याग, उदात्तप्रेम, उदार आश्रय, अलौकिक शौर्य आदि आदर्शतत्त्वों के लोक में विचरण करते हैं। उनमें यह शक्ति होती है। प्रसाद ने अपनी कई कहानियों में पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का ब्योरा भी दिया है। देखिए—'गुण्डा' कहानी में नन्हकूसिंह के गुणों का वर्णन—

'वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंहवृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राणभिक्षा मांगनेवाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्द्वी

पर शस्त्र न उठाना, सताये हुए निर्बलो को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणो को हथेली पर लिये घूमना उनका बनना था।"[१]

प्रसाद के चरित्र अध्यात्मिक अर्थ मे कही भी छोटे नही हैं। 'पुरस्कार' का अरुण और मधुलिका, 'आकाशदीप' का बुद्धगुप्त 'देवरथ' की सुजाता, 'ममता' की ममता और 'देवदासी' की पद्मा आदि चरित्र महान् त्याग, अलौकिक शौर्य, उदात्त प्रेम आदि गुणो का परिचय देते है और कही-कही तो मृत्युदण्ड को भी अपने इष्ट की पूर्ति के लिए सानन्द स्वीकृत करते है। अर्थात् इन महान आदर्शो को प्राप्त करने के लिए इन्हे द्वन्द्वात्मक सघर्ष का तीव्र अनुभव करना पडता है। प्राय यह संघर्ष व्यक्ति मानस के दो स्तरो पर प्रकट होता है और पात्रो के सम्मुख स्वीकृति या अस्वीकृति के निर्णय के सबध मे एक अस्थिरता को खडा कर देता है, जहाँ क्षण भर के लिए चरित्र दुविधा म पड जाते हैं। किंतु अन्त आदर्श मूल्यो की विजय निश्चित होती है। इस प्रकार प्रसाद के चरित्र अन्त मे एक ऐसे सामूहिक सत्ता म विलीन हो जाते हैं जहाँ उनका अस्तित्व सपूर्णत अपने निजी स्वाभाविक व्यक्तित्व को लाँघकर 'आदर्श' मे परिणत हो जाता है। यहाँ आकर पात्र अपना चरित्रपन खो देते हैं। 'आकाश दीप' की चम्पा अपने आप मे कुछ नही है, वह किसी पिता की पुत्री है, भारतीय आदर्शो की प्राप्ति के लिए स्वाभाविकता पर विजय प्राप्त करने वाली आदर्श एव त्यागमयी शक्ति है। बुद्धगुप्त जैस वीर पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण मे क्षणभर के लिए द्विधात्मक अनुभूति ग्रहण करती है फिर भी अपने स्वाभाविक 'स्त्री' का भारतीय नारी के आदर्श-व्यक्तित्व के सम्मुख समर्पित करन म सफल होती है।

'ममता' की नायिका ममता, पिता स दिया हुआ सुवर्ण ठुकरा देती है और भारतीय भिक्षा धर्म पर अडिग विश्वास रखकर तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने लगती है। सकटकाल मे धन के स्वाभाविक आकर्षण पर भारतीय सन्यास-धर्म का विजय ममता के चरित्र को समष्टि तत्त्व की गरिमा प्रदान करती है। एक द्वन्द्व का पार करन म ममता सफल हो जाती है। उसके सम्मुख अब दूसरा तीव्रतर द्वन्द्व खडा है। एक भयभीत सैनिक उसकी कुटी मे आश्रय चाहता है। ममता के मन मे फिर स उसी प्रकार का द्वन्द्व—जो सैनिक उसके पिता के हत्यारे के जैसा लगता है उस कुटी म क्योंकर आश्रय दिया जाय? किन्तु ममता का भारतीय मूल्यो की कद्र करने वाला मानसिक स्तर अतिथि को प्रश्रय देने को तैयार हो जाता है। शत्रु के प्रति प्रतिशोध की स्वाभाविक भावना एक ओर है तो दूसरी ओर अतिथि धर्म का भारतीय आदर्श!

कहना न होगा कि जीत आदर्श-मूल्यों की ही होती है । इसी प्रकार 'पुरस्कार' कहानी की मधुलिका वंश की गरिमा की सुरक्षा के लिए राज्यदान को ठुकराती है और पुरुष के प्रति स्वाभाविक प्रेम को राज्यभक्ति के सम्मुख समर्पित कर देती है । अपने प्रेमी के मृत्यु दण्ड का स्वयं कारण भी बनती है और इस स्वामिभक्ति के पुरस्कार के रूप में स्वयं भी 'मृत्यु' को स्वीकार करने को तैयार हो जाती है । इन कहानियों को पढ़ने पर लगता है कि प्रसाद ने मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता और चेतना का कहीं भी आदर नहीं किया है । व्यक्ति से श्रेष्ठ उसका वंश, माता-पिता और जाति; और जाति से श्रेष्ठ संस्कृति और संस्कृति से श्रेष्ठ भारतीय आदर्श । इस प्रकार प्रसाद के चरित्र अंततोगत्त्वा धूमिल रेखाओं में रूपांतरित हो जाते हैं एवं समष्टिगत मूल्यों के आधीन व्यक्तित्वहीन पुतले बनकर रह जाते हैं । चरित्रगत अन्तर्द्वन्द्व की अनिवार्य परिणति यही है । 'ममता' की ममता और 'आकाशदीप' की चम्पा को देखिए—

(अ) "इतना स्वर्ण ! यह कहाँ से आया ?"
"तेरे लिए बेटी ! अहार है ।"……
"पिता जी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं ! लौटा दीजिए ।
पिता जी, हम लोग ब्राह्मण हैं……………………………क्या कोई हिन्दू भू-पृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके ।' '

(आ) स्त्री विचार कर रही थी—'मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म अतिथि देव की उपासना का पालन करना चाहिए । परन्तु यहाँ………नहीं नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं । परन्तु यह दया तो नहीं……… कर्त्तव्य करना है । तब ?…………
जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ । मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ, सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ ?' '

(इ) चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये । किसी आकस्मिक झटके ने एक पलभर के लिए दोनों अधरों को मिला दिया । सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा—"बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीत है । कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं । सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है । प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो

इन निरीह भोले-भाले प्राणियो के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"[6]

ई. ऐतिहासिक परिपार्श्व

रोमाटिक भावबोध की प्रवृत्ति स्वप्नलोक की निर्मिति मे ही सतुष्ट होती है। प्रत्यक्ष यथार्थ से उठकर सुदूर किसी स्वप्निल दुनिया मे विचरण करने मे यह प्रवृत्ति अधिकतर उन्मुख होती दिखाई देती है। यही कारण है कि 'इतिहास' का प्रागण इस प्रवृति की प्रिय क्रीडा-स्थली रही है। इतिहास यूं ही वर्तमान से बहुत दूर होता है और आप ही आप ऐतिहासिक घटनाएँ, परिस्थितियाँ एवं चरित्र प्रतीकात्मक बन जाते हैं। ऐतिहासिक नामो के साथ हम कुछ प्रतीकात्मक तत्त्वो की चेतना को ग्रहण करते हैं। प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या, त्याग आदि भावनाओ की आदर्शवादी कहानियाँ इतिहास मे मिल जाती हैं। वर्तमान म जीने वाले मनुष्यो के लिए इतिहास एव अजनबी लोक है जिसका प्रत्येक विन्यास कुछ भव्यदिव्य एव महान् तत्त्वो को समेटे चलता है। परिणाम यह होता है कि प्रत्यक्ष यथार्थ मे जिन घटनाओ पर या मनुष्य स्वभाव की किसी प्रवृत्ति पर विश्वास नही किया जा सकता उसी घटना और प्रवृत्ति को ऐतिहासिक पार्श्वभूमि मे घटते हुए देखकर अनायास विश्वसनीयता उत्पन्न होने लगती है। सक्षेप म रोमानियत के काव्यी यथार्थ (१) मे विश्वसनीयता पैदा करने के लिए रचना का ऐतिहासिक पार्श्व एक आकर्षक साधन है। जयशकर प्रसाद की कतिपय रचनाओ का परिपार्श्व इस अर्थ मे ऐतिहासिक है। इसका यह अर्थ नही कि प्रसाद की कहानियाँ ऐतिहासिक हैं। बिल्कुल नही। इतिहास के तथ्यो का उद्घाटन करना इन रचनाओ का कार्य नही है। बल्कि अपनी छायावादी जीवन दृष्टि को अभिव्यक्त करने का एक काल्पनिक माध्यम इस रूप मे प्रसाद की कहानियो मे ऐतिहासिक चेतना का प्रयोग हुआ है। इनकी कहानियो का वातावरण, पात्रो की भाषा, और प्रसगो का स्थान आदि में ऐतिहासिकता दिखाई देती है। दुर्ग, समुद्र, खड्ग, युद्ध, कृपाण आदि वीरोचित सकल्पनाओ के सक्रिय प्रयोग से कहानियो का वातावरण गूँजने लगता है। प्राचीन भारतीय ऐश्वर्य के काफी लम्बे वर्णनो से भारतीय शृगार और वीरत्व के प्रभावपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किये जाते हैं फलत कई बार कहानी की मूल समस्या रुक जाती है और अतिरिक्त वर्णनात्मकता के कारण पहले से अधिक धूमिल बन जाती है। प्रसाद की संस्कृत प्रचुर कोमल किसलय युक्त भाषा कहानी के रोमानी धरातल को और भी पुष्ट बनाती है। द्रष्टव्य हैं कुछ रोमानी उदाहरण—

(अ) "प्रभात की हेम किरणों से अनुरंजित नन्ही-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्णमल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की। रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगलकलस और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।"

इसके अतिरिक्त 'नूरी' कहानी में मुगलकालीन वातावरण, 'इंद्रजाल' में मध्ययुगीन ठाकुर घराने का वर्णन, 'गुण्डा' में काशी का चित्रण, 'देवरथ' में बुद्धकालीन वातावरण, 'ममता' में शेरशाह के काल का चुनाव आदि प्रसाद के ऐतिहासिक बोध के स्पष्ट उदाहरण हैं।

उ. प्रकृति और मानवीय चेतना

मूलत: जयशंकर प्रसाद छायावादी जीवन-दृष्टि के सशक्त कवि हैं। अतः स्वभावत: उनकी संवेदना प्रकृति की चेतना में मानवीय संबंधों को ग्रहण करती है। छायावादी कवियों के लिए प्रकृति कभी प्रेरणा के रूप में उपस्थित हुई है तो कभी मानव-जीवन की पथदर्शिका। कई बार इन कवियों ने अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को प्रकृति के माध्यम द्वारा व्यक्त किया है तो कभी प्राकृतिक तत्वों का मानवीकरण प्रस्तुत करके मनुष्य जीवन की विविध भावभंगिमाओं का चित्रण किया है। संक्षेप में छायावादी जीवन दृष्टि मानव और प्रकृति के अनिवार्य सम्बन्धों को रचना प्रक्रिया की अटूट इकाई के रूप में उपस्थित करती है। प्रसाद की कहानियाँ उनके कवि-व्यक्तित्व को ही अभिव्यक्त करती हैं अतः इनमें प्रकृति के वे सभी रूप पाये जाते हैं जो उनकी कविता में विद्यमान है। कहानियों की ऐतिहासिक पार्श्वभूमि पर प्रकृति चित्रण रोमांटिक संवेदनशीलता का आदर्श रूप प्रस्तुत करता है। चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व को प्राकृतिक चित्रण के द्वारा सूचित करना, प्रसाद की कहानियों की बड़ी विशेषता है। चरित्रगत प्रक्रिया और प्रेरणा, निर्णय और निष्पत्ति को सूचित करने के लिए प्रकृति चित्रणों का आश्रय लिया गया है। कभी-कभी कहानी के संपूर्ण पट को चित्रित करने के लिए प्राकृतिक दृश्यों को अंकित किया गया है। मानवी भाव और प्रकृति चित्रण इनके समानांतर वर्णनों ने प्रसाद की कहानियों का पैटर्न इकहरा बन गया-सा लगता है। जहाँ तक चरित्रगत सूक्ष्म भावनिक उद्वेलनों का सम्बन्ध है, प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग समुचित जान पड़ता है। किन्तु प्रकृति के प्रति अतिरिक्त मोह ने रचना के व्यक्तित्व को असंगत और अती-

स्थिर बना दिया है। प्रसाद प्रकृति-चित्रणों के मोह जाल में इस तरह फँस जाते हैं कि उनसे बाहर निकलना उनके लिए असम्भव बन जाता है जिससे कहानी की गत्यात्मकता छिन्न भिन्न हो जाती है। यदि इन प्रकृति चित्रणों को छोड़कर भी कहानी पढ़ी जाय तो कहानी की पाठ-प्रक्रिया में किसी प्रकार का अवरोध आने नहीं पाता। संक्षेप में प्रसाद की कहानियों में प्रकृति चित्रण मानवीय-चेतना का अभिन्न हिस्सा बनकर कम और आलंकारिक मोह का फल बनकर ही अधिक आये हैं। और जहाँ कहीं भी मानव चेतना को मूर्तित करने के लिए इसका प्रयोग हुआ है वहाँ भी आरोपित वर्णनात्मकता का दोष स्पष्टतया प्रकट हुआ है। यही कारण है कि उनकी कहानियों में 'कवित्व —जैसी भावुकता है, अतीत के धुँधले काल को अपनी कल्पना की रंगीनी के सहारे चित्रित किया गया है। वास्तव जैसे लुभावने प्रकृति-चित्र, कविता-जैसी अलंकार योजना, भावुकतापूर्ण उच्छ्वास उनकी कहानियों की मुख्य विशेषताएँ हैं' ' कुछ उदाहरण दे जा सकते हैं—

पार्श्व के रूप में प्रकृति

(अ) 'जब पहाड़ी आकाश में सन्ध्या अपने रंगीन पट फैला देती, जब विहंग केवल कलरव करते पंक्ति बाँधकर उड़ते हुए सुजान झाड़ियों की ओर लौटते अनिल में उनके कोमल परों से लहर उठती, जब समीर अपनी झोंकेदार तरंगों में बार-बार अन्धकार को खींच लाता, जब गुलाब अधखिले सौरभ लुटाकर हरी चादर में मुँह छिपा लेना चाहते थे, तब गौरी की आशा भरी दृष्टि कालिमा से अभिभूत होकर पलकों में छिपने लगी। वह जागते हुए भी एक स्वप्न की कल्पना करने लगी।' "

(आ) "घर कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?"

"चम्पा।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों से विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी।"

(इ) "सामने शैल माला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल प्रदेश में नील पिंगल सन्ध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष

> सिक्त हो गया । सृष्टि नील कमलों से भर उठी । उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये । वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का ।" ¹¹

ए. काव्यात्मक एवं नाट्यात्मक रचना-प्रक्रिया

हमने ऊपर कहा ही है कि प्रसाद की कहानियाँ पढ़ते समय कविता पढ़ने का आनन्द आता है । इसका प्रमुख कारण है कहानियों की काव्यात्मक रचना-प्रक्रिया । कविता की सृजन-प्रक्रिया और कहानी की सृजन-प्रक्रिया में मूलभूत अन्तर यह है कि कविता किसी भावस्थिति को केन्द्र बनाकर अधिकाधिक सम्पीड़ित और अन्तर्मुखी होती जाती है, तो कहानी किसी केन्द्रीय घटनात्मक अनुभूति को स्पष्टीकरण के स्तर पर चरित्र-चित्रण द्वारा मूर्त करने का प्रयत्न करती है । प्रसाद की कहानियाँ अन्ततः किसी भावस्थिति की कहानियाँ हैं । सूक्ष्म मानवीय भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व को प्रतीकात्मक भाषा में प्रकट करने के लिए चरित्र और घटनाओं को प्रश्रय दिया गया है । चरित्र और घटनाएँ केन्द्रीय भावस्थिति के सहारे खड़ी हैं, उनका अपना विशेष महत्त्व नहीं । यही कारण है कि प्रसाद की कहानियों में एक छोटी सी घटना के उपरान्त लम्बे काव्यात्मक वर्णन आते हैं । कहीं-कहीं तो संपूर्ण कहानी एक विशिष्ट मूड को चित्रित करने के लिए लिखी जाती है । 'विसाती' का गद्यकाव्य इसका अच्छा नमूना है । रोमानी जीवन दृष्टि में चरित्रों की स्वतंत्र चेतना लगभग समाप्त हो जाती है । वे सामूहिक आदर्श मूल्यों के प्रतिनिधि बन जाते हैं । इन चरित्रों के कारण थोड़ा बहुत कहानीपन आ जाता है पर यह कहानीपन किसी कहानी का न होकर कथा-कविता का कहानीपन होता है जहाँ कविता प्रमुख होती है और कथा गौण !

प्रसाद की कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जो दृश्य काव्य की सृजन-प्रक्रिया से संचालित हैं । दो परस्पर विरोधी भावों का संघर्ष चित्रित करने के लिए प्रसाद ने नाटकीय कथोपकथन का सहारा लिया है । उनकी प्रत्येक कहानी में कथोपकथन होता ही है । कथोपकथन होना बुरी बात नहीं है पर जब कथा की आत्मा नाटक के तत्त्वों से नियन्त्रित की जाती है तब कहानी की आस्वाद-प्रक्रिया में बाधा पड़ने लगती है । कई बार लगता है प्रसाद की कतिपय कहानियाँ एकांकी में बड़ी आसानी से रूपांतरित की जा सकती हैं । इनकी कहानियों के पात्र अपने अनुभवों को परस्पर संभाषण के रूप में उपस्थित करते हैं जिससे चरित्र-चित्रण में कुछ हद तक विश्वसनीयता का तत्त्व पैदा हो जाता है, किन्तु कहानी के पैटर्न में एकरसता निर्माण होने लगती है । और तब ऐसा

आभास होने लगता है कि उनकी कतिपय कहानियाँ नाटक के तत्वों को सम्मुख रखकर जैसे लिखी गई हों । उनमे बीज, विकास और फलागम" इस क्रम को देखा जा सकता है । इसलिए इनकी अधिकांश कहानिया का स्वरूप प्राय गीतात्मक तथा नाट्यात्मक" है । अन्तर्द्वन्द्व की दुहरी प्रक्रिया के कारण सभी कहानियो के प्लाट प्राय एक जैसे ही लगते हैं केवल स्थान और पात्रो के नाम मे बदल हो जाता है । अत कहानियाँ कथात्मक गद्य काव्य" या नाट्यात्मक गीत काव्य के ढग पर रची गई हैं । प्रलय' और 'विसाती' म भावाभिव्यक्ति का गद्य काव्यात्मक स्तर तथा आकाशदीप', ममता' का नाटकीय ढग प्रसाद की रचना-प्रक्रिया को सिद्ध कर सकते हैं ।

क-प्रस्थापित नैतिकता का विरोध

प्रसाद की रोमांटिक संवेदनशीलता म व्यक्तिवादी चतना का एक विद्रोही मोड भी दिखाई देता है । स्थापित नैतिकता के आदर्शों क विरोध मे उनके कुछ चरित्र विद्रोह करते हैं और हमारे सम्मुख पारपरिक आदर्श मूल्यो की असारता को खोलकर रख देते हैं । ऐसी बहुत कम कहानियाँ प्रसाद ने लिखी हैं । रोमानी जीवनदृष्टि का आदर्श-बोध इनीगिनी कहानिया मे कुछ हद तक लुप्त होता सा लगता है और इसकी जगह चरित्रगत व्यक्तिवादिता मुखर होने लगती है । इसीलिए इन कहानियो के पात्र 'चरित्र' लगते हैं और बहुत देर तक हम इन्हे भूल नहीं पाते । 'विराम चिह्न' का राधे, 'देवरथ' की सुजाता और आर्यमित्र, 'देवदासी' की पद्मा कुछ ऐसे ही विद्रोही स्त्री-पुरुष हैं जो परम्परागत मूल्य चेतना का आह्वान स्वीकार करते हैं और अपने व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए 'मृत्यु' को अपनाने मे पीछे नहीं हटते । 'विराम चिह्न' का परिवेश भी ऐतिहासिक नहीं है । 'काशी' मे फैले कर्मकांड और पडो के जुल्म को प्रकट करने के लिए और स्पृश्य अस्पृश्य की समस्या को जुबान देने के लिए इस कहानी की रचना की गई है । 'राधे' एक अछूत जवान लड़का पण्डो के ढोंग को जानता है । दरिद्रता उसके लिए असह्य है, वह मदिर म प्रवेश करके पडो की कमाई (पूजा, भोजन आदि) मे अपना हिस्सा चाहता है । किन्तु प्रस्थापित सामाजिक आदर्श सदैव ढोंगियो की मदद करते रहे हैं । 'राधे' का मदिर प्रवेश राधे की मृत्यु का कारण बन जाता है । उसे पुण्यवान ? पीट-पीटकर जान से मार डालते हैं । इस कहानी मे राधे कहता है—

'भगवान किसी के बाप के नहीं । अकेले-अकेले बैठकर भोगप्रसाद खाते खाते बच्चू लोगों को चरबी चढ गई है । " तेरा भात छीनकर खाऊँगा ।" देवरथ कहानी की 'सुजाता' बुद्धविहार मे भैरवी बनकर

आरोपित झूठी नैतिकता को ढो रही है। स्त्री की स्वाभाविक आकांक्षा कुचली जा रही है। आर्यमित्र भी कृत्रिम शील के आवरण में सुरक्षित नहीं रह सका। सुजाता और आर्यमित्र धर्म की पाशवी बेड़ी को तोड़कर मुक्त होना चाहते हैं। किन्तु संघ का महास्थविर सुजाता और आर्यमित्र के स्वाभाविक आकर्षण को पाप कहता है और इनको दण्ड देना चाहता है। महास्थविर स्वयं पापी है, पर उसका पाप धर्म के कृत्रिम आवरण में 'पुण्य' बन गया है। सुजाता आर्यमित्र के प्रति अपने प्रेम के लिए मृत्युदण्ड स्वीकार कर लेती है, यह कहते हुए—

'किन्तु तुम्हारा आडम्बर पूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नहीं रह सकता।'[18] 'देवदासी' की 'पद्मा' देवदासी बन कर अपना संपूर्ण जीवन मंदिर मे नृत्य करके दर्शकों का मनोरंजन करने में बिता देती है। मंदिर का संगीत-नृत्य अध्यापक की उस पर पाप पूर्ण दृष्टि है। साथ-साथ वह धनिक दर्शकों से धन लेकर, बदले मे पद्मा को उनकी वासना-पूर्ति के लिए भेजना चाहता है। 'पद्मा' की आत्मा मंदिरों के दीवारों को फाँदकर खुली हवा में आना चाहती है। देवदासी के कृत्रिम शील को फाड़ देना चाहती है। मंदिर में रहने वाले पुस्तक बेचने वाले एक युवा लड़के से वह प्यार करने लगती है। पर उसकी कोई इच्छा पूर्ण नहीं होती। उसे अपनी देवदासी के अभिशाप को अंत तक झेले रहना ही पड़ता है। इस प्रकार प्रसाद की कुछ कहानियाँ विद्रोह का स्वर लिए हुए है किन्तु ये विद्रोही चरित्र क्रांति के आह्वान को पूर्णतः झेल नहीं पाते इसलिए इनका विरोध केवल एक आक्रोश तक सीमित रह जाता है। विद्रोह की शक्ति फैलने से पहले ही समाप्त हो जाती है अतः यह चरित्र भी एक क्षण तक प्रज्ज्वलित होते है और दूसरे ही क्षण बुझ जाते हैं। इन कहानियों का रचना-विधान भी रोमांटिक ही है। कुल मिलाकर प्रसाद की संवेदनशीलता भारतीय-मूल्यों के नियंत्रण में रोमांटिक बोध को ग्रहण करती है और धूमिल प्रतिनिधिक समष्टि रेखाचित्रों का निर्माण करती है। इसलिए प्रसाद की कहानी में गतिशीलता नहीं आने पायी। प्रायः यही कारण है कि प्रसाद की परम्परा का हिन्दी कहानी में विकास नहीं हो सका।

ब—प्रेमचंद की संवेदनशीलता

१. बहिर्मुखी जीवन-दृष्टि का नया कोण

ऐतिहासिक क्रम में प्रसाद के समानांतर पर संवेदनशीलता के स्तर पर

प्रसाद से बिल्कुल अलग तरह के दृष्टिकोण का सूत्रपात प्रेमचंद की कहानी ने हिन्दी कहानी साहित्य के क्षेत्र में किया। प्रसाद की संवेदनशीलता मनुष्य जीवन की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का काव्यात्मक-नाट्य प्रस्तुत करती रही तो प्रेमचंद की संवेदनशीलता मनुष्य की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का यथार्थ संघर्ष चित्रित करती रही। प्रसाद का केन्द्र व्यष्टि रहा तो प्रेमचंद का समष्टि। एक ओर अनुभूति का क्षेत्र कल्पना-प्रसूत स्वप्न लोक था तो दूसरी ओर यथार्थ प्रसीन मानव-समाज। प्रेमचंद और प्रसाद की अनुभव ग्रहण-पद्धति में ही मूल-भूत अन्तर है। *यह अन्तर छायावादी जीवन दृष्टि और यथार्थवादी जीवन दृष्टि* का है, केवल विषय के चुनाव का ही नहीं है। स्वयं प्रेमचन्द ने इस दृष्टिकोण की गवाही दी है। उनके अनुसार साहित्य का प्रयोजन मनोरंजन जरूर है, *पर यह मनोरंजन वह है जिसमें हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को* प्रोत्साहन मिले-हममें सत्य, निस्वार्थ सेवा, त्याग आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जागृत हों मनुष्य जिस समाज में रहता है उसमें मिलकर रहता है, जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात् जीवन के अनन्त प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं, परन्तु यदि *स्वार्थ अहंकार और ईर्ष्या की ये बाधाएँ न होतीं तो हमारी आत्मा के विकास* का शक्ति कहाँ से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष में साहित्य की उत्पत्ति होती है। *यही साहित्य की उपयोगिता भी है।*"

स्पष्ट है प्रेमचंद मनुष्य के उन सामाजिक आदर्शों को महत्त्व देते हैं जिनमें अनन्त मानवता के उच्च मूल्य प्रस्फुटित होते हैं। मनुष्य का लक्ष्य ही सामा-*जिक चेतना को सुरक्षित रखना है, यही जीवन का सत्य है, किन्तु इस सत्य* को प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत चेतना के कारण बाधाएँ निर्माण होती हैं, और संघर्ष अदृश्य हो जाता है व्यष्टि-समष्टि का संघर्ष, अस्वा-*भाविक स्वाभाविक का संघर्ष। अन्त में मनुष्य अपनी व्यक्ति-सत्ता को* सामाजिक सत्ता पर न्योछावर कर देता है, मनुष्य पर देवत्व की विजय होती है। इस प्रक्रिया का चित्रण साहित्य में किया जाना चाहिए, उसकी उपयोगिता भी यही है। साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध इस तरह जुड़ जाने के कारण प्रेमचन्द की संवेदनशीलता में बहिर्मुखी जीवन-दृष्टि का एक नया कोण प्रकट हुआ। इसलिए प्रेमचंद की कहानियों की दुनिया अपने पूर्ववर्ती कहा-

नियों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न था। प्रसाद की कहानी इतिहास और पुराण के क्रोड़ में बैठी रंगीन सपने संजोती रही जबकि प्रेमचंद की कहानी धरती पर उतर आई और वर्तमान से उसका घनिष्ठ संबंध प्रस्थापित हुआ। 'वह पहले व्यक्ति थे, जो कहानी की सामग्री के लिए गाँव की ओर गये और जिन्होंने सीधे-सादे देहात के घटनाहीन तथा नीरस जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाया।'[२०] इस अर्थ में प्रेमचंद मूक जनता के प्रथम साहित्यकार थे।[२१]

प्रेमचंद की संवेदनशीलता मनुष्य जीवन के उस कोण पर केन्द्रित हुई, जहाँ जीवन के प्रत्यक्ष यथार्थ का संबंध है। यही कारण है कि उनकी कहानियों में केवल जवान नर-नारियाँ ही नहीं, बच्चे और बूढ़े, अमीर और गरीब, गँवार और बुद्धिमान, किसान और साहूकार, सब प्रकार के एवम् समाज के हर पहलू का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग हैं। प्रेमचंद की कहानी का मार्ग गरीबों की झोपड़ियों से लेकर अमीरों की देवड़ियों तक है और हर मोड़ पर वह पूर्णतः सामाजिक यथार्थ पर कदम जमाये खड़ी है। प्रेमचंद ने जिस सामाजिक परिवेश को अपनी अनुभूति का क्षेत्र बनाया वह परिवेश जीवन की भली-बुरी रूढ़ियों से भरा हुआ है। ये रूढ़ियाँ कहीं धर्म का आसरा लेकर कर्मकांड का रूप प्राप्त कर गई हैं तो कहीं कृत्रिम सामाजिक प्रतिष्ठा का आश्रय लेकर सर्वसाधारण जनजीवन को निचोड़े जा रही हैं रूढ़िप्रिय, भावुक तथा दुर्बल, गँवार भारतीय समाज इन कुरीतियों को 'आदर्श' समझ बैठा है। अतः प्रेमचंद की कहानी इन झूठे आदर्शों का भंडा फोड़ना चाहती है और उसकी जगह नये आदर्शों का पुनर्स्थापन करना चाहती है। प्रेमचंद की दृष्टि में सामाजिक आदर्श वे हैं जिनसे मानवता के शाश्वत मूल्यों की पहचान हो सकती है। अतः उनकी कहानियाँ विषयों की विविधता प्रकट करती हुई अपने मूल स्वर को सुरक्षित रखती हैं। 'प्रेमचंद की कहानियों का मूल स्वर मनुष्यता की सही स्थापना है। उसमें धर्म-रूढ़ियों के विरुद्ध उठने वाली आवाज भी है, सत्याग्रह का आवेश भी है, विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार भी है तथा मुक्ति की कामना भी है।'[२२]

मुंशी प्रेमचंद का विश्वास था कि व्यक्ति अपने-आप में स्वतंत्र इकाई नहीं होती बल्कि वह समाज-जीवन की एक प्रतिनिधि शक्ति होती है। इस तथ्य को सम्मुख रखकर प्रेमचंद के पात्र जीवन व्यतीत करते हैं। अतः प्रेमचंद की कहानियों में चित्रित संघर्ष व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का नहीं बल्कि दो परस्पर विरोधी सामाजिक प्रणालियों के बीच का है। कहीं भारतीय किसान की

अंधश्रद्धाओं का चित्रण है, कहीं शोषक समाज की ओर से मजदूरों पर होने वाले जुल्मों का चित्रण है तो कहीं गिरती हुई जमींदारी को लेकर व्यक्ति-मन के अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन है। इन संघर्ष को चित्रित करते समय प्रेमचंद अपने मन में एक महान् विश्वास लिए चलते हैं कि व्यक्ति मूलतः दोषी नहीं होता असत् प्रवृत्तियों के कारण उसकी प्रेरणाएँ और प्रवृत्तियाँ विवेकहीन बन जाती हैं। किन्तु जब अपनी विवेकहीनता का बोध उसे होता है तब वह अपनी गल्ती सुधार लेता है।' 'मूल सुधार और हृदय-परिवर्तन ही उनकी अधिकांश कहानियों का मंत्र है और विषय है—राष्ट्रीय भावना, समाज-सुधार, पारिवारिक आदर्श, व्यक्ति की ऊँचाई वाले परंपरागत आदर्श की स्थापना-एक मानवतावादी दृष्टि से।' [११]

हमने प्रसाद की संवेदनशीलता का जिक्र करते हुए कहा था कि प्रसाद अतत व्यक्ति चेतना की सार्थकता भारतीय आदर्शों में विलीन होने में मानते हैं। प्रेमचंद भी भारतीय आदर्शों का प्रश्रय लेते हैं किन्तु प्रेमचंद का परंपरा-बोध प्रसाद के परंपरा-बोध से भिन्न प्रतीत होता है। प्रेमचंद का परंपरा-बोध कहीं-न कहीं वर्तमान यथार्थ से जुड़ा है और प्रसाद यथार्थ से बिल्कुल कटे हुए हैं। दोनों कथाकारों ने अतीत की भारतीय परंपरा को अपनाया जरूर है किंतु दोनों में मूलतः जीवन-दृष्टि का अन्तर है। 'प्रेमचंद की कहानियाँ रूमानी, ऐतिहासिक होते हुए भी अपने समय के संघर्ष से कहीं न कहीं जुड़ी जरूर रहती हैं। समग्र रूप से परंपरा का अन्त और समय के संघर्ष के दो तत्त्व प्रेमचंद की कहानियों में मिलते हैं। कहीं वे छिपे हुए व्यंग्य के रूप में हैं, तो कहीं उनमें सीधे-सीधे ये दोनों बातें मिलती हैं।' [१२] प्रसाद की परंपरा आगे बढ़ नहीं पाई, किन्तु प्रेमचंद की परंपरा का विकास हुआ इसका रहस्य भी यही है। प्रेमचंद की संवेदनशीलता समकालीन-जीवन के यथार्थ को अपने साथ लिए विकसित होती रही। यहाँ तक कि परंपरा से कटे रहने का दावा करने वाली नई कहानी एक भिन्न स्तर पर प्रेमचंद की संवेदनशीलता से जुड़ी हुई है। नई कहानी का प्रेमचंद से संबंध कहीं प्रतिक्रियात्मक है तो कहीं प्रेरणात्मक।

२. परिवर्तनशील संवेदनशीलता

जीवन यथार्थ को आदर्शों की ओर मोड़ने की प्रेमचंद की प्रवृत्ति विविध परिमाणयुक्त है। उनकी संवेदनशीलता किसी एक ही निश्चित बोध पर रुकी नहीं, वह सदैव विकसनशील और परिवर्तनशील रही है। यही कारण है कि प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ आधुनिकता का परिचय देती हैं। जैसे-जैसे प्रेमचन्द के

व्यक्तित्व का विकास होता रहा, उनकी रचनाएँ नवीन कला चेतना को अपनाती रहीं। कहानियों की अपेक्षा संवेदनशीलता की गत्यात्मकता उनके उपन्यासों में बहुत अधिक सुस्पष्ट है। निर्मला और गोदान में जीवनदृष्टि के दो स्पष्ट कोण दिखाई देते हैं। सूक्ष्मदृष्टि से यदि देखा जाय तो उनकी कहानियों का रचना संसार भी विकासोन्मुख रहा है। विषय, स्थान, परिवेश भले ही न बदले हों, अनुभूति ग्रहण-पद्धति बदल गई है और इसलिए अभिव्यक्ति पद्धति भी बदलती रही। कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द की कहानियों का विभाजन, ग्राम की कहानियां, शहर की कहानियां, नारी की कहानियां या चरित्र प्रधान एवं घटना प्रधान इस रूप में किया है, जो बड़ा कृत्रिम लगता है। क्योंकि विषय और स्थान के अनुसार किया गय विभाजन प्रेमचन्द की गतिशीलसंवेदना का परिचय देने में असमर्थ है। हां! संवेदना के विकास का आलेख कालिक हो सकता है। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व में जो वैचारिक परि-परिवर्तन आता रहा उसे स्थूलरूप से कालक्रम में बांटा जा सकता है। अपनी सृजनात्मक गतिविधि के साथ-साथ प्रेमचन्द समीक्षात्मक निबंध भी लिखते रहे। साहित्य का उद्देश्य, सामाजिक दायित्व, कहानी की परिभाषा आदि विषयों पर उनकी आलोचना को देखा जाय तो पता चलेगा कि अपने व्यक्तित्व विकास के साथ-साथ उनकी सैद्धान्तिक विवेचना भी परिवर्तनशील रही है। एक जगह उन्होंने कहा है कि 'हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिए। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा संमिश्रण होना चाहिए कि सत्य से दूर न जाना पड़े।'[१] और बाद में उन्होंने कहानी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं। मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते जबतक वह निजत्व की परिधि में न जाय।'[२] ऊपर की टिप्पणियाँ इस बात की स्पष्ट-गवाही हैं कि प्रेमचन्द की सैद्धान्तिक दृष्टि विकासोन्मुख रही है। यथार्थ और आदर्श के संमिश्रण को महत्त्व देने वाली कहानी, जीवन के यथार्थ पर आ टिकी और वहाँ से मनुष्य-मानस के गहराइयों को स्पर्श करती हुई अनुभूत सत्य को प्रकट करने लगी। कहानी की परिभाषा का विकास

और प्रत्यक्ष रचना की संवेदनशीलता का विकास समानान्तर दिशाओं में होता रहा।

प्रेमचन्द की परिवर्तनशील संवेदनशीलता की तुलना प्रसाद की स्थिर संवेदनशीलता से करने पर भी प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की गत्यात्मकता सिद्ध हो सकती है। प्रायः यही कारण है कि प्रसाद की सभी कहानियों को लेकर 'सामान्यीकृत'[१९] निर्णय लिए जा सकते हैं, पर प्रेमचन्द के सम्बन्ध में ऐसा सरलीकरण (जर्नरलाइजेशन) सही नहीं उतरता। प्रेमचन्द की संवेदनशीलता का प्रथम चरण आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रहा है पर उनका व्यक्तित्व विकास के दूसरे चरण पर आकर जीवन के यथार्थ का वैचारिक स्तर पर ग्रहण करता रहा और उसका चरम विकास उस बिन्दु को छू गया जहाँ मानवीय अनुभवों की यथार्थ और प्रामाणिक अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी। कुछ प्रातिनिधिक कहानियों को सम्मुख रखकर उपर्युक्त विकास को सँभाला जा सकेगा।

३. प्रथम चरण : आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियाँ, जो लगभग १९१७ और १९२० के बीच लिखी गई हैं, संवेदनशीलता के प्रथम चरण का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन कहानियों में मनुष्य-जीवन के उस पहलू का चित्रण हुआ है जो एक विशिष्ट भावुक मूल्य-चेतना को स्पर्श करना चाहता है। उसके साथ-साथ भारत देश में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की जो लहर व्याप्त थी उसके अन्तर्गत सुधारवादी बोध का चित्रण भी इन कहानियों में हुआ है। एक ओर भारतीय नैतिकता का आग्रह तो दूसरी ओर जीर्ण रूढ़ियों को फेंककर नवीन वर्तमान की चेतना का स्वीकार, इन दोनों का विचित्र सम्मिश्रण इन कहानियों में देखा जा सकता है। ग्रामीण जनता परम्परा से शोषकों के हाथों पिसी जा रही थी। पारम्परिक श्रद्धा, धर्म कर्म की कल्पनाएँ इनके प्रभाव में हमारा ग्रामीण समाज अपने दुखों के मूल कारणों को समझ नहीं पा रहा था। साम्यवादी विचारधारा ने समाज-जीवन के सुखों-दुखों का एक नया विश्लेषण प्रस्तुत किया और यह सिद्ध किया कि मनुष्य के सुख-दुखों का कारण भाग्य और भगवान नहीं बल्कि वर्ग-संघर्ष है। आर्थिक विषमता जीवन के तमाम दुखों का मूल है। इसे दूर करने के लिए पारम्परिक श्रद्धाओं और आस्थाओं को नष्ट कर देना जरूरी है। प्रेमचन्द इस दृष्टि को मानते जरूर हैं किन्तु मानवता के शाश्वत आदर्शों का विनाश उन्हें मंजूर नहीं है। रूढ़िवादिता नष्ट की जा सकती है पर पारम्परिक मूल्य चेतना का रक्षण होना ही चाहिए।

इसी समय गांधी जी के विचारों का प्रभाव भारतीय जनमानस पर बड़ी

तीव्रता से पड़ रहा था। गांधी जी बहुजन समाज के दुखों को दूर करना चाहते थे। जनता को रूढ़िवादिता से मुक्त भी करना चाहते थे किन्तु उनका मार्ग संहारक क्रान्ति का मार्ग नहीं था, अहिंसक-शन्ति का वे पुरस्कार करते थे। उनका विश्वास मनुष्य में बैठे देवता पर अधिक था। प्रेमचन्द की संवेदनशीलता साम्यवाद के निष्कर्ष और गांधीवाद के मार्ग को एक साथ ग्रहण करती रही और यथार्थ तथा आदर्श का समन्वय उनकी रचनाओं में स्पष्टतः दिखाई देने लगा। बहुजन समाज के दुख-दर्द आदि कष्टों का मूल जिन झूठी पारम्परिक अन्ध श्रद्धाओं में है उनका उपहासगर्भ चित्रण इस काल की कई कहानियों में मिलता है। प्रेमचन्द इस हदतक मनुष्य-जीवन के यथार्थ का चित्रण प्रस्तुत करते हैं किन्तु उनके कथा नायक अन्त में हृदय-परिवर्तन के उस महान् तत्त्वपर विश्वास कर लेते हैं जिसके कारण उनके शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। इस प्रकार 'युग-सत्य और मूल्य-चेतना के दोनों बिन्दु काल-विशेष का सन्दर्भ बनकर सामने आते हैं।'[२८] इस काल में 'नमक का दरोगा', 'पंच परमेश्वर', 'सौत' 'बड़े घर की बेटी', 'मर्यादा की वेदी', 'रानी सारंधा' आदि कहानियाँ लिखी गई हैं। सामान्यतः इस काल की कहानियाँ लम्बी हैं। लम्बी इसलिए हैं क्योंकि उसमें अनावश्यक घटना-विस्तार है, लेखकीय भूमिकाएं हैं, बीच-बीच में लेखक की अपनी टिप्पणियाँ है। और तो और आदर्शवादिता के आग्रह के कारण कथानकों में कृत्रिम मोड़ आ गये हैं और हृदय-परिवर्तन के चमत्कार को दिखाने के लिए संयोग-तत्त्व का भी बड़ा खुलकर प्रयोग किया गया है।

'पंच परमेश्वर' इस कहानी में अलगू और जुम्मन की पुरानी मित्रता किस प्रकार टूट जाती है और फिर किस प्रकार जुड़ जाती है इसका घटनात्मक ब्योरा दिया गया है। उत्तरदायित्व का ज्ञान हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधार होता है, इस एक अर्द्ध सत्य को सम्मुख रखकर अलगू और जुम्मन को पंच-परमेश्वर की गद्दी पर बैठने का मौका दिया जाता है। दोनों ने भी सही फैसला सुनाया जिससे शत्रुता भी निर्माण हुई और मित्रता भी। दोनों के बीच द्वेष की भावना गल गई, जुम्मन ने अलगू में देवता देखा और दोनों एक हो गये। इस प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक स्वार्थपरायणता का चित्रण करने वाली कहानी पंचों में बैठे परमेश्वर के मानवीय आदर्श में परिणत हो जाती है। हृदय-परिवर्तन और भूल-सुधार के निष्कर्षवादी अन्त को प्रेमचन्द की ऐसी कहानियाँ स्पष्ट करती हैं। लगभग प्रत्येक कहानी का अन्तिम परिच्छेद निष्कर्षवादी होता है। 'पंचपरमेश्वर' का जुम्मन कहता है—"भैया जबसे तुमने मेरी पंचायत की, तबसे मैं तुम्हारा प्राणघातक शत्रु बन गया था, पर आज

मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे और कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की जुबान से खुदा बोलता है।"

अलगू रोने लगे। पानी से दोनों के दिलों की मैल धुल गई। मित्रता की मुरझाई लता फिर हरी हो गई।"

'बड़े घर की बेटी' आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को प्रकट करने वाली एवं इस काल की रचना-प्रक्रिया के कई दोषों को प्रकट करने वाली एक कहानी है। इसमें संयुक्त परिवार के मध्ययुगीन ढांचे के टूटने का चित्र प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचन्द के समय का यथार्थ सन्दर्भ इस कहानी में जरूर उभरा है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शिक्षा के कारण व्यक्ति-स्वतन्त्रता की भावना निर्माण हो रही है, संयुक्त परिवार में अब परिवार के सदस्य केवल पारम्परिक श्रद्धा मूल्यों के बल पर एक जगह नहीं रह सकते। पिता-पुत्र, देवर-भाभी, पति-पत्नी आदि के प्राचीन भावुक सम्बन्ध नष्ट हो रहे हैं जिसका परिणाम परिवार के सदस्यों में आपसी अनबन और कहीं स्पष्टतः अलग हो जाने का भाव पैदा हो रहा है। मूर्ख और निकम्मे देवर की धृष्टता के कारण आनन्दी परिवार के दायरे को तोड़ना चाहती है। श्रीकंठ जैसा शिक्षित पति पत्नी से सहमत भी है। यहाँ तक प्रेमचन्द ने यथार्थ का ग्रहण सही-सही किया-सा लगता है किन्तु अन्त में लाला बिहारी पश्चाताप से विकल हो जाता है और अपने कारण परिवार की हानि हो रही है इस बात को समझ लेता है। वह भाभी के सम्मुख क्षमा-याचना के स्वरों में आँसू बहाता है। मूर्ख बिहारी के हृदय का परिवर्तन हो जाता है जिससे आनन्दी के हृदय का भी परिवर्तन हो जाता है। देवर-भाभी दोनों रोने लगते हैं, दोनों में बैठा देवता जागृत हो जाता है और आनन्दी बड़ी उदारता से देवर को क्षमा कर देती है और फिर से टूटते परिवार की दीवारें थाम ली जाती हैं। व्यक्ति-चेतना से प्रेरित आनन्दी अन्त में भारतीय आदर्शों के शरण जाती है। स्वयं कहानीकार आनन्दी के निर्णय की दुहाई देते हुए, उसे एक प्रमाणपत्र देते हैं। 'आखिरकार बड़े घर की बेटियाँ बड़ी ही होती हैं।"

'जुलूस' गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के प्रभाव को चित्रित करने के लिए लिखी गई कहानी है। अंग्रेजियत और राज्यनिष्ठा पर श्रद्धा रखनेवाले अफसरों पर तीखा व्यंग्य प्रस्तुत करते हुए गाँधी जी के उपदेशों को पात्रों के मुख से दोहराया-तिहराया गया है। आलोचनात्मक टिप्पणियाँ हद से ज्यादा हो गयी हैं। प्रचारवादिता सम्पूर्ण रचना पर हावी हो गई है। इस कहानी में देश प्रेम के लिए पति प्रेम को आह्वान करने वाली बीरबल सिंह पुलिस अफ-

सर की पत्नी मिट्ठनबाई का चित्रण किया गया है। इब्राहीम अली जैसे सत्याग्रही का आन्दोलन में 'शहीद' हो जाने के कारण और मिट्ठनबाई के द्वारा राज्यनिष्ठ पति की अवहेलना किए जाने के कारण बीरबल सिंह का हृदय परिवर्तन हो जाता है। अन्त में दोनों पति पत्नी इब्राहीम अली की विधवा पत्नी का सान्त्वन करने के लिए एक जगह आते हैं। इस प्रकार इस कहानी का अन्त भी देशभक्ति की प्रेरणा और मानवीय मूल्यों की महानता के विजय की घोषणा में होता है।

'मुक्तिमार्ग' के बुद्धू और झिंगुर स्वार्थ के कारण एक दूसरे के पक्के शत्रु बन गये। एक दूसरे को पूरा बरबाद करके ही रुके। इस दुश्मनी का लाभ धूर्त पंडित ब्राह्मणों ने उठाया। दोनों से धर्म-कर्म करवाया और प्रायश्चित से पार होने लगा था। अंत में दोनों के पास कुछ नहीं रहा तो दोनों के हृदय में बैठी विवेकहीनता नष्ट हो गई। परस्पर गलतियाँ कबूल कर ली गईं, दोनों देवता बन गये। आदर्श मूल्यों की विजय के साथ-साथ ग्रामीण जनता की भोली अंधश्रद्धा पर गहरा व्यंग्य है, स्वार्थी ब्राह्मणों का उपहास है संपूर्ण कहानी एक तीखे व्यंग्य से परिव्याप्त है।

इस प्रकार प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियाँ रचना-प्रक्रिया के अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर अपरिपक्व लगती है। निष्कर्ष की पूर्व-निश्चित, घटनात्मक विवरणों और अनावश्यक वर्णनों की बहुलता, अप्रस्तुत प्रचारवादिता आकस्मिक एवं अस्वाभाविक प्रसंगों से उद्भूत हृदय-परिवर्तन, आरोपित आदर्शवादिता आदि दोषों के कारण इस काल की कहानियाँ सामान्य और सपाट लगती है। प्लाटवादी कहानियों की सारी त्रुटियाँ इन कहानियों में देखी जा सकती हैं। एक बात और—आदर्शवादी अन्त के कारण इन कहानियों के चरित्र केवल गोलमटोल 'टाइप' बन कर रह गये। यथार्थ के धरातल पर कदम रखते हुए भी समष्टि-लोक में विलीन होकर व्यक्तित्वहीन बन गये। प्रसाद के 'आकाशदीप' की 'चम्पा' और प्रेमचन्द के 'बड़े घर की बेटी' की 'आनन्दी' में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार 'चम्पा' अपने आप में कोई न होकर 'पिता-मूल्य' के प्रमाद में खोई हुई प्रातिनिधिक 'बेटी' है। उसी प्रकार 'आनन्दी' भी अन्ततः 'परिवार-मूल्य' में खोई हुई प्रातिनिधिक 'बेटी' या बहू ही है।

४. दूसरा चरण : यथार्थ का वैचारिक बोध

सन् १९२० और ३० के बीच जो कहानियाँ लिखी गई उनमें प्रेमचन्द की संवेदनशीलता विकास-स्तर की लक्षणीय ऊँचाई को स्पर्श करती है। इस काल की रचनाएँ पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा दृष्टिकोण और रचना-प्रक्रिया

में कहीं अधिक परिपक्व दिखाई देती हैं। अनावश्यक घटना-विस्तार की जगह कथानकों में चुस्ती और सगठन की घनता आ गई और मनोवैज्ञानिक अनुभव स्वभावतः प्रस्फुटित होने लगा है। आकस्मिक एव अस्वाभाविक हृदय परिवर्तन के लटके कम होते गये और आदर्शवादिता का जबरदस्ती आरोपण लगभग समाप्त हो गया। भावुकता का तत्त्व कम हो जाने के कारण विचारों की प्रगल्भता पैदा होने लगी। जीवन के यथार्थ को वैचारिक स्तर पर ग्रहण करने की प्रक्रिया आरम्भ होने लगी थी जिससे कहानी का रूपबध गठा हुआ प्रतीत होने लगा। इसका एक परिणाम यह हुआ कि पात्र और कथावस्तु पर विचारों की प्रधानता हावी हो गई। चूंकि प्रेमचन्द की कहानियों का उद्देश्य सामाजिक-सुधार होता था कथावस्तु और चरित्रगत सघर्ष के द्वारा हमे केवल तीव्र विचारों की अनुभूति होती है। 'सुधार भावना को वे अन्त तक नहीं छोड़ सके।'[१०] यथार्थ का वैचारिक-ग्रहण करते समय वे लेखकीय टिप्पणियों को नहीं टाल सके जिससे यथार्थ की विश्वसनीयता कई बार खतरे मे पड़ गई। प्रेमचन्द केवल यथार्थ का अनुभूत चित्रण ही नहीं करते अपने तरीके से मूल्यांकन भी करते हैं। इस काल की उनकी कई कहानियों का लक्ष्य है मूल्य-स्थापना। मूल्य-स्थापना के तत्त्व को जैसे पहले ही निर्धारित कर लिया जाता है और उसे सिद्ध करने के लिए सामाजिक समस्या को रचना-प्रक्रिया के अंतर्गत सचालित किया जाता है।

माता का हृदय, शतरंज के खिलाड़ी, बज्रपात, शखनाद, ज्वालामुखी, सेवामार्ग, आत्माराम, सवा सेर गेहूँ, प्रेरणा आदि कहानियाँ यथार्थ की वैचारिक चेतना को स्पष्ट कर सकती हैं।

'आत्माराम' कहानी जनश्रुति पर आधारित रचना है जिसमे एक सामाजिक समस्या पर व्यग्य किया गया है। महादेव सोनार के प्रिय तोते के उड़ जाने के बाद वह दुखी हो जाता है पर सयोगवश उस तोते की तलाश मे भटकते हुए उसे चोरों की लूट मिल जाती है और वह अब धर्म-कर्म करना चाहता है, कर्जमुक्त होना चाहता है, लेनदारों को निमंत्रित करता है। पर, चूंकि वह अब धनी है, कोई उसके यहाँ रुपया लेने नहीं आता। एक दरिद्री सोनार मे इतना परिवर्तन आ गया है कि उसे धन के कारण अब नींद नहीं आती। धन उसके लिए बोझ बन गया है; इस बोझ की मुक्ति के लिए वह छटपटाता है पर उसको उदारता को प्रश्रय देने वाला कोई नहीं मिलता। 'साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते उनका वह यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर तक उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया और एक आदमी भी

हिसाब लेने न आया । अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है । अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है और अच्छों के लिए अच्छा ।' ³¹

'सवासेर गेहूँ' कहानी में सामाजिक विषमता और अंधश्रद्धा का लाभ उठाने वाले तथा कथित धर्मात्माओं पर बड़ा कड़ा व्यंग्य है । संपूर्ण कहानी में व्यंग अंतर्धारा की तरह व्याप्त है । भारतीय किसान की शोकान्तिका को चित्रित करने के लिए यह कहानी लिखी गई है । इसका 'अन्त' किसी भी आदर्शवादी मूल्य की स्वीकृति में नहीं है । दरिद्री, भावुक, श्रद्धालु किसान किस प्रकार समाज के उस उच्च वर्ग के हाथों रौंदा जा रहा है इसका बड़ा कारुण्यपूर्ण चित्र इसमें प्रस्तुत हुआ है । भारतीय किसानों के करुण अंत का जिम्मेदार न भाग्य है न भगवान बल्कि उसकी अपनी अंधश्रद्धा, भावुकता और अज्ञान ही है । इस साम्यवादी विचार के सूत्र को लेकर कहानी बुनी गई है । इस कहानी का नायक शंकर बड़ा भावुक और श्रद्धालु व्यक्ति है पर विप्र के छली एवं कपटी स्वभाव पर तरस भी खाता है । उसमें क्रांति करने की शक्ति नहीं है, उसका अब भी भगवान पर विश्वास है जो उसके पक्ष में कभी नहीं था, न होगा । क्योंकि 'विप्र' जैसे महात्माओं ने भगवान के साथ अपना रिश्ता पक्का कर लिया है । व्यंग्य के इस पहलू को हास्य के स्तर पर प्रेमचन्द ने चित्रित किया है । हम इस चित्रण को पढ़ते हुए एक ओर हँसते हैं तो दूसरी ओर एक तीव्र करुणा का भाव हमारे मन में प्रस्फुटित होने लगता है । अन्धश्रद्धा के प्रति करुणा और कपटियों के प्रति क्रोध की समन्वित भावनाएँ हमारे मन में व्याप्त होने लगती हैं । प्रायः प्रेमचन्द की कहानी का उद्देश्य भी यही है । सामाजिक विषमता का वैचारिक रहस्य इस कहानी में निश्चित रूप से उद्घाटित हुआ है ।

"शंकर……मगर यह कोई नियम तो नहीं है । तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण हो के तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता ? मैं तो दूँगा, लेकिन तुम्हें भगवान् के यहाँ जवाब देना पड़ेगा ।"

"विप्र…………वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा । वहाँ तो सब अपने ही भाई-बन्धु हैं । ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं, देवता भी ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने-बिगड़ेगी, संभाल लेंगे । तो कब देते हो ?"³²

इस कहानी में कहीं भी अनावश्यक घटनात्मक मोड़ नहीं हैं, संयोग और चमत्कार का तत्त्व नहीं है, भावुकता नहीं है, फिर भी भारतीय किसान की दो-

तीन पीढ़ियाँ समेटती गई हैं। शंकर और विप्र सामाजिक संघर्ष के दो 'टाइप' हैं जिनके द्वारा भारतीय जीवन के यथार्थ का वैचारिक आकलन किया गया है। रचना-प्रक्रिया के कई दोष यहाँ भी स्पष्ट हैं। लेखक अपनी तरफ से पाठकों का मार्गदर्शन करते हैं जिसकी वस्तुत: कोई जरूरत नहीं है। 'पाठक' *इस वृतांत को कपोल कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है।* ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।[११]

सोद्देश्यता, मूल्य-निश्चिति एवं सुधारवादी दृष्टि जैसे दोषपूर्णरचना-विधान की त्रुटियों को फाँदकर प्रेमचन्द की *'शतरंज के खिलाड़ी'* कहानी *कलात्मक* परिणामकारिता की दृष्टि से पर्याप्त निखरी हुई रचना है। इसलिए उनकी संवेदनशीलता के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में सामान्यीकृत निर्णय देना भी ठीक नहीं है। विलासिता की परिणति का विषय मौन है, इस प्रकार का स्थूल *सिद्धांत 'शतरंज के खिलाड़ी' का विषय नहीं है, जैसा कि बहुतों ने समझा है।* इस कहानी में ऐतिहासिक बोध किसी ऐतिहासिक काल खण्ड के पतन के कारणों की जाँच करने के लिए भी चित्रित नहीं हुआ है। मिरजा और मीर का संघर्ष इतिहास से हटकर वर्तमान पर केन्द्रित हो जाता है। बल्कि काला-*तीत बन जाता है। एक साथ 'सामाजिक, आर्थिक, इतिहास, राजनीति, सामंतीय,* विलासप्रियता, पराजय और पलायन के बिन्दुओं को छूकर[१२] मनुष्य जीवन की अकर्मण्यता को पूरा पूरा खोलकर रख दिया है। जीवन का सीमित दायरा और *विकृत रोमानियत के बीच छटपटाने वाला मनुष्य अपने कल्पना-निर्मित स्वप्न* लोक में झूठे गर्वको लिए जवाँमर्दी का प्रदर्शन करता है और अन्त में अपने ही भारतीय अभिशाप से समाप्त हो जाता है। ह्रासशील सामन्तीय ढाँचे की शोका-न्तिका भारतीय जीवन की शोकान्तिका को अभिव्यंजित करती है। मीर और *मिरजा का छोटा सा प्रतीक भारतीय समाज की ह्रासोन्मुखी नियति को अभि-*व्यक्ति देने में सफल सिद्ध हुआ है। यह नहीं कि इस कहानी में सृजन-प्रक्रिया के कोई दोष नहीं है, किन्तु बिना किसी कृत्रिम घुमाव फिराव के यह कहानी अपने अनेक स्तरीय अर्थ-सन्दर्भों को एक साथ व्यक्त करने में निश्चित रूप से समर्थ है, इसमें *कोई सदेह नहीं।*

५. कुछ सच्चे मनुष्य

आगे चलकर, सामाजिक दायित्व के गहरे बोध को अन्त तक वहन करने वाले *प्रेमचन्द के स्त्री-पुरुष इस 'दायित्व-बोध' को मानव विकास के मार्ग में* 'बाधा' रूप में महसूस करने लगे हैं। व्यक्तिगत चेतना का समष्टिगत चेतना के सम्मुख समर्पण हमें सच्चे मनुष्य के पद से वंचित करता है इस बात का बोध

प्रेमचन्द की कुछ कहानियों में कलात्मक परिणति के स्तर पर अभिव्यक्त हुआ है। इन कहानियों के मनुष्य धर्म को ओढ़कर धर्मभीरु की शिकार में ताक लगाये विप्र नहीं, पारंपरिक श्रद्धा की परतों से अपनी मूलभूत चेतनशीलता को ठण्डा करके बेजान व्यक्तित्व की दुहाई देने वाले किसान नहीं, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए आरोपित राजभक्ति, स्वाभिभक्ति, पितृभक्ति, एवं धर्मभक्ति का अन्त तक प्रचार करने वाले व्यक्तित्वहीन व्यक्ति नहीं, ये पात्र न किसी की बेटियां हैं, न पुत्र, न पत्नी-परायण पुरुष और न पतिपरायण-नारी बल्कि ये सच्चे आदमी हैं। इन्होंने अपने सारे कृत्रिम मुखौटे उतार फेंक दिये हैं, सामाजिक प्रतिष्ठा का पोता हुआ रोगन खरोंच दिया है। अर्थात् इन पात्रों को अपने में बैठे हुए 'मनुष्य' का ('देवता' का नही) बोध तभी होता है जब इनकी समष्टि-गत ताकत संघर्ष की प्रक्रिया में नष्ट हो जाती है। आदर्शवादी कहानियों की रचना प्रक्रिया और इन 'मनुष्यवादी' कहानियों की रचना प्रक्रिया में बहुत अन्तर है। दोनों की दिशाएँ ही परस्पर भिन्न हैं। जहाँ आदर्शवादी कहानियों में व्यक्ति-व्यक्ति का द्वंद्व समष्टिचेतना में परिणत हो जाता है, वहाँ 'मनुष्यवादी' कहानियों में दो परस्पर विरोधी समष्टि-चेतना का द्वंद्व व्यक्ति-चेतना में परिणत हो जाता है। दोनों प्रकार की कहानियों में व्यंग्य का स्तर लेखक की व्यक्तित्व की रुजहान को स्पष्ट करता है। बूढ़ी काकी, गुल्ली-डण्टा, बड़े भाई साहब, नशा, ईदगाह आदि कहानियाँ 'मनुष्य' की कहानियाँ हैं। 'बूढ़ी काकी' की काकी आखिर तक 'काकी' बनी रही और पारिवारिक आदर्शों पर श्रद्धा रखती हुई भतीजे और बहू के भारतीय दायित्व पर विश्वास रखती रही कि उसे भी सगाई के समारोह में खाना, मान-सम्मान जरूर मिलेगा। किन्तु उसकी सारी आशायें लुप्त हो गई और उसे पारिवारिक मूल्यों की असारता का बोध होने लगा, 'काकी' के भीतर बैठा हुआ विशुद्ध 'मनुष्य' प्रज्ज्वलित हुआ। भूख सबको लगती है, भतीजे को लगती है और काकी को भी लगती है। भूखी बुढ़िया ने 'काकी' की समष्टि-चेतना पर काबू पा लिया और जूठन पर झपट पड़ी। भूख-प्रवृत्ति का इतना दर्दनाक और यथार्थ चित्रण लेखक की तीव्र अनुभूति का ही फल है। मनुष्य को उसके विशुद्ध मानसिक स्तर पर बैठा देना, जहाँ उसके सारे सामजिक विशेषण समाप्त हो जाते हैं, इस कहानी की शक्ति है। हमें बूढ़ी काकी को पढ़ते समय अमरकांत की 'जिंदगी और जोंक' कहानी अनायास ही याद आती है। जिंदगी के साथ जोंक की तरह चिपके रहने की लालसा मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्ति है। झूठे आदर्शों का आरोपण वह एक हद तक ही सह सकता है।

'बड़े भाई साहब' का बड़ा भाई अपनी बौद्धिक कमजोरी को छिपाने के लिए पारम्परिक-पारिवारिक प्रतिष्ठा का सहारा लेता है और छोटे भाई (जो उससे कहीं ज्यादा होशियार है) को डाटता है। छोटा भाई भी यह जानते हुए भी कि बड़ा भाई बुद्धू है, केवल पारिवारिक मूल्य का आदर करने के लिए बड़े की इज्जत करता है। किन्तु इस संघर्ष में बड़े का 'बड़प्पन' हार जाता है, उसकी 'लड़कपन' की स्वाभाविक प्रवृत्ति एक उत्स्फूर्त स्रोत की तरह प्रतिष्ठा के कृत्रिम आवरण को चीरकर बाहर की तरफ फूट पड़ती है। बड़े भाई साहब केवल बड़े भाई साहब नहीं रहे। भाई साहब लम्बे हैं ही। उछलकर उसकी (कन कौए) डोर पकड़ ली और बेतहाशा होस्टल की तरफ दौड़े। मैं पीछे-पीछे दौड़ रहा था।''

गुल्ली डण्डा भी इसी 'मनुष्य बोध' को व्यक्त करती है। वह खेल नहीं रहा था, मुझे खेला रहा था, मेरा मन रख रहा था। मैं अब अफसर हूँ। यह अफसरी मेरे और उसके बीच में दीवार बन गई है। अब उसका लिहाज पा सकता हूँ, अदब पा सकता हूँ, साहचर्य नहीं पा सकता। लड़कपन था, तब मैं उसका समकक्ष था। हममें कोई भेद न था। वह पद पाकर अब मैं केवल उसकी दया के योग्य हूँ। वह मुझे अपना जोड़ नहीं समझता। वह बड़ा हो गया है, मैं छोटा हो गया हूँ।''[१] लड़कपन में मनुष्यता की अकृत्रिम पहचान आगे चलकर कृत्रिम ऊँच नीच को जन्म देती है। यह अन्तर सामाजिक रूढ़ियों और आदर्शों के कारण पनपता है और मनुष्य इस आवरण से मुक्ति के लिए छटपटाता है। 'गुल्ली डण्डा' का नायक और उसका बचपन का साथी 'गया' चमार इसी मुक्ति के लिए तड़प रहे हैं पर मुक्त नहीं हो सके।

'मनुष्य-बोध' की इन कहानियों में भी प्रेमचन्द अपने मूलभूत सुधारवादी स्वर को भूल नहीं जाते। बड़े भाई साहब में शिक्षा-प्रणाली पर व्यंग, 'गुल्ली-डण्डा' में अंग्रेजी खेल पर व्यंग, 'बूढ़ी काकी' में पारिवारिक रस्मों पर व्यंग इसके उदाहरण हैं। इसलिए ये कहानियाँ कहीं कहीं मूल कथ्य पर आने के लिए बहुत देर करती हैं जिससे कहानी की सावयवता ढीली पड़ जाती है। इस पर भी उपर्युक्त कहानियाँ प्रेमचन्द की संवेदनशीलता के उस उत्कर्ष बिन्दु को स्पर्श करती हैं जिसपर आकर प्रेमचन्द ने 'कफन' और 'पूस की रात' जैसी श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं।

६ तीसरा चरण अनादर्श का आदर्श

प्रेमचन्द की संवेदनशीलता का उत्कर्ष बिन्दु उन इनीगिनी कहानियों में प्रस्फुटित हुआ है जहाँ प्रेमचन्द किसी 'संस्था' के सदस्य नहीं रहे। इन कहा-

नियों में लेखक की तटस्थता एवं निस्संगता जीवन के आंतरिक यथार्थ को उसके खुरदुरे रूप में प्रस्तुत करती है। यहाँ न सुधारवादी दृष्टि का आग्रह है न मानवता के पारम्परिक आदर्शों की हिमायत ही है। पूर्ववर्ती कहानियों में प्रेमचन्द व्यंग्यात्मक भाषा में पारम्परिक रूढ़ियों के खोखलेपन को उद्घाटित करते रहे है पर इन कहानियों मे व्यंग का स्वरूप केवल आलोचनात्मक टिप्पणी तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण कहानी की अनुभूति बन गया सा—लगता है। बल्कि यों कहें कि इन कहानियों में व्यक्त अनुभूति किसी भी एक पक्ष की हिमायत नही करती न निन्दा ही करती है, केवल अनावृत सत्य को उसके नंगे रूप मे हमारे सम्मुख खड़ा कर देती है, टिप्पणियो का काम पाठको पर छोड़ दिया जाता है। 'कफन', 'पूस की रात', 'नशा', 'मिस पद्मा', 'अलग्योझा' आदि कुछ कहानियाँ उपर्युक्त तथ्य को प्रकट करने मे समर्थ सिद्ध हुई हैं। इन कहानियों के चरित्रों की तुलना पिछली कहानियों के पात्रों से की जाए तो स्पष्टतः एक प्रकार की अन्वेषण-प्रक्रिया से गुजरने का अनुभव होता है। 'पंच परमेश्वर' का अलगू 'सवासेर गेहूँ' का शंकर और 'पूस की रात' का हल्कू तीन तरह के पात्र हैं। अलगू से हल्कू तक की यात्रा आदर्श से यथार्थ की यात्रा है। अलगू मानवता, न्याय, प्रतिबद्धता आदि पारम्परिक मूल्यों के सम्मुख अपनी व्यक्तिचेतना को समर्पित कर देता है। अलगू की दुनिया अच्छों और अच्छाइयो की दुनिया है। बुराई यदि कोई भी करता है. तो केवल इसलिए कि वह अच्छाई के सम्पर्क मे नही आता, पर ज्यों ही वह 'अच्छे एवं 'महान्' के सम्पर्क मे आ जाय, बुराई को झटक कर देवत्त्व के गुणों को प्राप्त कर लेता है। फिर उसकी दुनिया मे निम्नता, दुर्बलता को कोई जगह नही होती। यानी वह सचाई से मुँह मोड़ कर आदर्शों के स्वप्नलोक में विचरण करने लगता है। 'शंकर' की दुनिया कुछ सपनों की कुछ सत्यों की दुनिया है। बुराई के सम्पर्क में इस दुनिया का व्यक्ति एकदम बुरा नहीं होता। और न अच्छाई के प्रभाव में एकदम महान्। यहाँ का व्यक्ति स्वप्न और सत्य की धूमिल सीमा-रेखा को पहचानता जरूर है पर अपने नियति को टाल नही सकता। उसकी नियति है स्वप्न की स्वीकृति। वह समझता है कि उसे धोखा हो रहा है फिर भी वह विवश है, वह धोखा खा ही जाता है। हल्कू की दुनिया बड़ी सच्ची, निर्मम और नंगी-धड़ंगी दुनिया है। इस दुनिया बसने में वाले लोगों की आँखों पर रंगीन पट्टियाँ नहीं है, वे धोखा खा ही नही सकते। ये लोग किसी बाहरी और आरोपित मार्ग पर चलते ही नही, इसलिए स्वप्न-और सत्य के बीच की स्पष्ट रेखा को पहचान सकते हैं। यहाँ झूठे आदर्शों का बिल्कुल ही महत्त्व नहीं है पर

सच्चे अनादर्शो के 'आदर्श' महत्त्वपूर्ण हैं ।

यदि परिचित शब्दावली म कह तो कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के व्यक्तित्व *का विकास आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से यथार्थोन्मुख यथार्थवाद तक होता हुआ* चरम बिन्दु तक पहुँच गया है ।

कफन और पूस की रात इन कहानियो की राह से गुजरने पर प्रेमचन्द की सम्पूर्ण कलामचेतना के उत्कर्ष बिन्दु का बोध होने लगता है । सामाजिक सघर्ष *की अन्तिम परिणति के प्रतीक घीसू और माधव हमारे सम्मुख समाज जीवन* की भयकर विभीषिका को उसके विकराल रूप म प्रस्तुत कर देत हैं । माधव की पत्नी बुधिया प्रसव वेदना से पछाड खा रही है, घीसू और माधव दोनों बाप बेटे बुधिया के दर्द को यथार्थ के स्तर पर झेल रहे हैं उनकी प्रतिक्रिया में *पारस्परिक सहानुभूति का लेशमात्र भी नही है ।* सम्पूर्ण कहानी की भाषा भी फटी-फटी और सीधी है जैसे यह 'दर्द' आँसू बहाने के लिए नहीं, न कोरी सहानुभूति के लिए ही है, बल्कि यह दर्द सच्चाई की वह स्थिति है जिसका 'लाभ' उठाना ही मनुष्यता का एकमेव 'आदर्श' है । यहाँ पारिवारिक रिश्ते टूट गये हैं । *कोई 'पुत्र' नही कोई 'पिता' नहीं 'बहू' या 'पत्नी' से कोई सबध* नही । सब निरे 'पशु' यानी 'मनुष्य' । इसलिए यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के साथ किसी भी भावनिक लगाव से जुडा हुआ नहीं है । बाप अपने बेटे को उसकी कराहती पत्नी को देख आन के लिए अन्दर झोपडी में जाने को कहता है, *पर बेटा अन्दर जाना नही चाहता । इसलिए नही कि वह पत्नी को देखना* नही चाहता, बल्कि इसलिए कि बेटे को 'भय था कि वह कोठरी म गया, तो घीसू आलुओं का बडा भाग साफ कर देगा ।' उसने बहाना बनाया, बोला— 'मुझे वहाँ जाते डर लगता है । मृत्यु की भयकर शातता के रू-ब-रू माधव की *भूख एक महान सचाई है । कितना भयकर व्यग है, कितना नगा सत्य है ।* इस समय यही एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया होगी कि बुधिया का मर जाना ही इन दोनो के लिए आनन्द का क्षण है । क्योंकि यदि उसके कोई सन्तान हो जाये तो सोठ-गुड लायेंगे कहाँ से । दोनो आलू खा रहे हैं, अन्दर बुधिया मौत के साथ विवश होकर लडाई लड रही है । बुधिया ठण्डी हो गई । माधव और घीसू सच्चा रोना भी नही जानते, क्योंकि किसी के लिए क्यो रोया जाता है इस बोध से पहचान ही नही है उनकी । वे तो झूठा रोना जानते हैं, झूठे रोने से कुछ हाथ आ जाय । और घीसू को पाँच रुपये मिल गये । मरी हुई बुधिया को जलाने के लिए लकडी तो यो ही मिल जाएगी, फिर उन पाँच रुपयो का उपयोग कैसे किया जाय, यही एक चिन्ता घीसू माधव को घेरे हुए है ।

'माधव बोला—हाँ लकड़ी तो बहुत है, अब कफन चाहिए।'

'तो चलो कोई हलका-सा कफन ले लें।'

'हाँ और क्या ? लाश उठाते-उठाते रात हो जाएगी। रात को कफन कौन देखता है ?'

'कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढांकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए।'

'कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है।'

'और क्या रखा रहता है ? यही पाँच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते;'[13]

घर में मुर्दा पड़ा हुआ है। दोनों कफन लाने के लिए निकले हैं। इस स्थिति में इनकी ये प्रतिक्रियाएँ हमारे कृत्रिम सामाजिक ढांचे पर कितना विदारक आलोक डालती हैं। सारी कहानी दो तथ्यों को एक दूसरे के सम्मुख रखकर (ज्युक्सटपोज) भावापकर्ष (एण्टीक्लायमैक्स) से कारुणिकता (पैथास) को अभिव्यंजित करती है। एक तथ्य है रूढ़िग्रस्त सामाजिक मूल्य चेतना का तो दूसरा है, रूढ़िमुक्त व्यक्ति चेतना का।

दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से शराबखाने में जा पहुँचे और कफन के पाँच रुपये 'सत्कर्म में लगाये। खाया और पिया। मरनेवाली को दोनों ने आशीर्वाद दिये। 'भगवान तुम अन्तर्यामी हो। उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला वह कभी उम्र भर न मिला था।' प्रेमचन्द ने पियक्कड़ों की भाषा में सच्चाई को कूट-कूटकर भर दिया। दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी गिरे भी, मटके भी। भाव भी बनाये, अभिनय भी किये और आखिर नशे में बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े।' कहानी यहाँ खत्म हो जाती है, और हमारे मन में एक और कहानी उभरने लगती है। सामाजिक आडम्बर को फोड़कर उदित होने वाली सच्ची कहानी 'अनादर्श के आदर्श' की कहानी।

७. शिथिल शिल्प-संयोजना

प्रेमचंद की संवेदनशीलता का अनुभूति पक्ष जिस विकासशीलता का परिचय देता रहा उसका अभिव्यक्ति पक्ष उतना विकासोन्मुख नहीं रहा। प्रारंभिक कहानियों का वही प्लाटवादी संगठन उनकी बाद की कहानियों में भी बहुत नहीं बदला। सही तो यह है कि प्रेमचन्द की संवेदनशीलता का मूल स्वर 'सुधारवादी' होने के कारण सृजन-प्रक्रिया की कलात्मकता को वे गौण ही सम-

ढते रहे। वैसे प्रेमचन्द ने कहानी के शिल्प-प्रक्रिया सैद्धान्तिक रूप से गभीर *विचार किया सा लगता है।* इस प्रकार के कुछ निबन्धो मे यह बात स्पष्ट भी है, किन्तु प्रत्यक्ष सृजन प्रक्रिया और रचनात्मक दृष्टि मे अपने सिद्धान्तो को वे उतार नही सके। अतिरिक्त शिल्प-संयोजन का तो कोई प्रश्न ही नही था, रचना-प्रक्रिया की स्वाभाविकता भी उनकी कहानियो मे कम ही उभर पाई है। *प्लॉटवादी कहानियो का सबसे बडा दोष यही हुआ करता है कि रचनाकार* अपने पूर्व निर्धारित 'जीवन-सत्य' को प्रमाणित करने के लिए 'कथानक' गढ़ता है, जहाँ गठन मार्मिक और चुस्त-सघन बन जाय वहाँ 'रचना' यान्त्रिक लगने लगती है, और जहाँ ध्यान ढाँचे से हटकर कथ्य पर केन्द्रित हो जाता है वहाँ *शिल्प शिथिल बन जाता है। प्रेमचन्द की कहानी ने कथ्य को प्रश्रय दिया* जिसकी अनिवार्य परिणति 'सपाट शिल्प'[१८] के निर्माण मे हुई। कमलेश्वर ने प्रेमचन्द के इस रूपहीन सपाट शिल्प की प्रशसा की है और इसे प्रेमचन्द की उपलब्धि माना है। किन्तु हमारी दृष्टि मे प्रेमचन्द की कहानियो का इकहरा सपाट-शिल्प उनकी सीमा ही है। क्योकि शिल्प की शिथिलता कथ्य पर अतिरिक्त केन्द्रित हो जाने से पैदा हुई है न कि रचना-प्रक्रिया की स्वाभाविक माग से। यही कारण है कि प्रेमचन्द की कहानी अपने 'उद्देश्य' को रचना प्रक्रिया का अग नही बना सकी। *उद्देश्य तक पहुँचने के लिए उनकी कहानी को पर्याप्त* कष्ट होता-सा दिखाई देता है, भूमिकाएँ बाँधनी पडती हैं, विवरण देने पडते हैं, अतिरिक्त स्पष्टीकरण करने पडते हैं तब कही कहानी उस 'अत' पर आ जाती है। जहाँ प्रेमचन्द और उनका पाठक समरस हो जाते हैं। कहानी वह *'अत' दे देती थी, जो सब चाहते थे, पर खुद जिसे प्राप्त करना उनके लिए* बहुत मुश्किल था।'[१९] सक्षेप मे प्रेमचद की कहानी उनके अपने विचारो को प्रमाणित करने का साधन ही बनी रही। विचारतत्त्व और कला-प्रक्रिया एक नही बन सके।

जयशकर प्रसाद की रचनात्मक दृष्टि की अपेक्षा फिर भी प्रेमचन्द की रचना-दृष्टि अधिक चेतन एव सजीव है। प्रसाद जैसी कृत्रिम और रहस्यपूर्ण नाटकीयता प्रेमचन्द की कहानियो मे नही है। कार्य कारण तत्त्व का पूरा-पूरा *निर्वाह होकर भी 'कहानियो की गति अधिक युक्ति-सगत, सहज, वार्तालाप* घरेलू और स्वाभाविक, घटना-स्थल परिचित और अधिक सजीव है।'[२०] प्राय *यही कारण है कि उनकी कहानियाँ परिणामकारक हैं। बड़ी परिणामकारिता और* कलात्मकता दो भिन्न चीजें हैं? इसका रहस्य उनकी कहने की कला मे है। प्राचीन कहानी के सीधे (डायरेक्ट) रूपबध का इतना सफल प्रयोग *अन्यत्र*

मिलना कठिन है। उर्दू भाषा की मूलभूत चुस्ती और वहुजन समाज के प्रति उत्तरदायित्व का प्रामाणिक वोध इन दोनों के समन्वित तत्त्व से प्रेमचन्द की कहानी प्रवाहित जान पड़ती है। चरित्र-चित्रण, घटना-प्रसंग, परिवेश-वर्णन इन सव में भाषा का इतना लच्छेदार और गतिमान प्रयोग हुआ है कि संपूर्ण कहनी हमारे संमुख एक विम्व को प्रकट करने लगती है। चमत्कार का अंग होकर 'किस्सागोई' की कला को प्रेमचन्द ने आत्मसात किया है। 'अगर उसमें से प्रयोजन वद्धता' का अंश हटा दिया जाय तो वे 'कहानियाँ कहने की तमीज' का उदाहरण वन जाती हैं।"[२१]

संक्षेप में प्रेमचन्द की संवेदनशीलता जीवन के वहिर्मुखी-दृष्टिकोण का वह रूप प्रस्तुत करती है जिसमें वांछनीय-अवांछनीय का संघर्ष समझौता करता हुआ आरोपित और आग्रही सुधारवादी वोध का प्रश्रय लेता है। रूप-प्रक्रिया की स्वाभाविक गति में लेखकीय दखल के कारण उनकी रचनात्मक दृष्टि कला सजगता का परिचय नहीं दे सकी। इसके कुछ अपवाद भी हैं, पर अपवादों में संवेदनशीलता की गत्यात्मकता की अपेक्षा सृजनात्मकता का अधूरापन ज्यादा स्पष्ट है।

ङ. मध्यवर्गीय चेतना का मनोवैज्ञानिक यथार्थ : अज्ञेय, जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी की संवेदनशीलता

प्रसाद और प्रेमचंद की अनुभूतियों का केन्द्र मूलतः वह व्यक्ति रहा है, जो अयार्थ आदर्श-लोक में वसता है। रोमांटिक भाववोध हो या समष्टि का यथार्थ वोध हो, दोनों स्तर व्यक्ति-चेतना को उसके विशुद्ध रूप में चित्रित कर ही नहीं सकते। क्योंकि पहले का क्षेत्र काल्पनिक जगत् है तो दूसरे का आदर्श समष्टि-लोक जहाँ व्यक्ति 'टाइप' वनकर रह जाते हैं। मनुष्य जीवन के ये दोनों क्षेत्र प्रत्यक्ष यथार्थ से वहुत दूर पड़ते हैं। प्रत्यक्ष यथार्थ तो वह होता है जिसमें परिस्थिति और व्यक्ति के संघर्ष का नैरंतर्य कायम रहता है। और तो और प्रसाद-प्रेमचन्द की कहानी मनुष्य जीवन के उस वर्ग को अछूता ही छोड़ गई जिसकी समस्याएँ वड़ी यथार्थ और जटिल होती हैं। यह वर्ग है *मध्यवर्ग* जो धनिक और दरिद्र इन दोनों के वीच में पिसा जा रहा है। प्रसाद ने जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व किया उस वर्ग की समस्याएँ एक अर्थ से तथाकथित महानता की समस्याएँ हैं जिनका संवंध प्रत्यक्ष संसार से लगभग नहीं के वरावर है। पुराण और इतिहास में जीनेवाले लोग, विहारों में रहने वाले स्त्री-पुरुष, समुद्र और दुर्ग में वसने वाले प्रेमी वीर आदि अतिमानवों का हमारी दुनिया से

क्या सबध ? ये लोग न हमारे प्रत्यक्ष यथार्थ से जुडे हुए हैं न इनकी समस्याएँ हमारी समस्याएँ हैं, इधर प्रेमचन्द के किसान, मजदूर, जमीदार, देश-भक्त आदि घर की देहलीज से बाहर निकलकर सामाजिक प्रवाह मे पडे हुए मनुष्य हैं । यह प्रवाह अतत उन्हें वही सुदूर आदर्श-स्वर्ग लोक मे ही पहुँचा देता है । हाँ उत्तरवर्ती प्रेमचन्द की दुनिया कुछ सच्ची दुनिया है जहाँ निरावरण विशुद्ध इसान रहते हैं, किन्तु यह दुनिया भी मनुष्य जीवन के बहिर्गत कोण पर इकहरा आलोक डालती है । सक्षेप मे दोनों की रागात्मक अनुभूतियाँ व्यक्ति मन की यथार्थ गहराई को स्पर्श नही कर सकी ।

आधुनिक जीवन की विकासोन्मुख प्रवृत्ति, पारम्परिक सस्थाओ का नित नया विघटन और विकास, शिक्षा-दीक्षा का बदलता प्रभाव इन सब चेतनशील जीवन-तत्त्वो का जितना गहरा प्रभाव मध्यवर्ग के मानस को झकझोर देता है, शायद उतना उच्च और निम्न वर्ग को नही । उच्च वर्ग और निम्न वर्ग ससार की गतिविधियो के बीच रहकर भी स्थितिशील एव स्थिर ही रहते हैं । मध्यवर्गीय चेतना सदैव सजग ही रही है । सास्कृतिक विकास मे इसी चेतना का स्थान अग्रणी रहा है । इसीलिए इस वर्ग की समस्याएँ परिवर्तन-शील हैं । इन समस्याओ का निश्चित हल दे पाना कठिन है, इनका कोई 'शार्टकट' नही है । मध्यवर्गीय मनुष्य और नारी की समस्याओ का स्वरूप बहिर्गत यथार्थ के चित्रण से स्पष्ट नही हो सकता । क्रिया-प्रतिक्रिया, कार्य-कारण, प्रश्न उत्तर आदि निर्माण होते हैं मानसिक स्तर पर और वही अपने समाधान भी ढूँढते हैं । लेखक स्वय मध्यवर्ग का सवेदनशील प्रतिनिधि होता है अत अनुभूति की प्रामाणिकता और अभिव्यक्ति की तीव्रता सामान्यतः इसी एक क्षेत्र मे सभवनीय होती है । लखक का जिस निम्न वर्ग की समस्याओ से निकट का परिचय नही है तथा उच्चवर्ग से उसका कोई सम्पर्क नही है, स्वभावत इन वर्गों मे उसे रस नही होगा । यही कारण है कि प्रेमचन्द के बाद के कहानी लेखक अपनी तरफ मुडे, यानी मध्यवर्ग की ओर मुडे । मध्यवर्ग की मानसिक चेतना के यथार्थ की ओर मुडे । हिन्दी कहानी ने यहाँ नया मोड लिया ।

जैनेन्द्र, अज्ञेय, जोशी और यशपाल जैसे प्रमुख कहानीकारो की रचनाओ को ऊपरी तौर पर देखने से भी पता चल सकता है कि प्रसाद-प्रेमचन्द की अपेक्षा इनकी अनुभूति का केन्द्र कितना अलग था । जैनेन्द्र की 'पत्नी' कहानी मे सुनदा और कालिंदीचरण की घरेलू समस्या का स्तर मात्र मध्यवर्गीय अनुभवो का ही परिणाम है, 'परीक्षा, 'जाह्नवी, 'अपना अपना भाग्य', 'पाजेब' 'खेल' 'फोटोग्राफी' 'नीलमदेश की राजकन्या' आदि कहानियाँ न तो निम्न

वर्गीय समस्याओं का चित्रण करती हैं और न उच्च-वर्गीय अनुभवों का वर्णन। इनकी दुनिया शिक्षित एवं संवेदनशील व्यक्तियों की दुनिया है। अज्ञेय के 'रोज' की मालती एक ऐसी शिक्षिता नारी है जो अपनी गृहस्थी के चक्र में नीरस एवं यांत्रिक जीवन का पुरजा बन गई है। 'पठार का धीरज' का किशोर और उसकी प्रेयसी प्रमिला प्रेम की संवेदना को मानसिक स्तर पर अनुभव करने वाले मध्यवर्गीय व्यक्ति ही हैं, हीली-बोन का पहाड़ी बंगला और हीली का मानस मध्यवर्गीय नारी की शोकान्तिका को ही चित्रित करते हैं। अज्ञेय के क्रांतिकारी चरित्र सैनिक, मेजर, यहाँ तक की आदम और यवा भी स्वप्न-लोक में रहने वाले गोलमटोल पुतले नहीं हैं। इनका संसार वही परिचित संसार है जिसे हम मध्यवर्गीय लोग भोग रहे हैं।

यशपाल की 'पहाड़ की स्मृति', 'जहाँ हसद नहीं,' 'ज्ञानदान' 'धर्म-रक्षा', चित्र का शीर्षक, 'फूलों का कुरता' आदि कहानियों में चित्रित व्यक्ति ऊपर-ऊपर से मजदूर, पहाड़ी, ठेकेदार गुरुकुलिये, बच्चे लगते हैं पर इनका चित्रण न तो सामाजिक आदर्शों की गरिमा दिखाने के लिए किया गया है और न सपनों की रंगीन दुनिया संजोने के लिए, बल्कि संवेदनशील-सुसंस्कृत व्यक्ति-जीवन के मानसिक संघर्षों को प्रस्तुत करने के लिए इन्हें रचना के स्तर पर उठाया गया है।

जोशी के 'डायरी के नीरस पृष्ठ' का 'मैं' जीवन की इकहरी 'रूटीन' नीरसता का अनुभव कर रहा है। वह शिक्षित-मध्यवर्ग का ही प्रतिनिधि है। 'प्लैनचेट' के वकील साहब 'क्रय-विक्रय' की 'मालिनी' 'दुष्कर्मी' का 'अपरिचित व्यक्ति' ये सब उसी संसार के लोग हैं जिनकी समस्याएँ न तो वर्ग-संघर्ष से उत्पन्न हुई हैं और न स्वप्न लोक से। व्यक्ति-जीवन में संस्कारित मन की प्रतिक्रियाओं का प्रस्तुतीकरण इन कहानियों का विषय है। इन विषयों का संबंध मध्यवर्गीय व्यक्तियों से ही जुड़ सकता है।

१. रचनात्मक स्तर पर 'चरित्र' का उदय

हमने प्रसाद और प्रेमचन्द की प्लाटवादी कहानियों का विश्लेषण करते हुए कहा था कि इन कहानियों में किसी पूर्व-निर्धारित 'तथ्य' को प्रमाणित करने के लिए कथानक बुना जाता था जिससे कहानियों के पात्र बिल्कुल सपाट और गोलमटोल बन जाते थे, क्योंकि पात्रों का निर्माण लेखकीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता था। संपूर्ण कहानी कहानीकार के 'उद्देश्य' का साधन होती थी, वह केवल दृष्टान्त बनकर रह जाती थी। इन कहानियों में

व्यक्ति और परिस्थिति का संघर्ष व्यक्ति की असीमता को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत किया जाता था। लेखकीय हस्तक्षेप इतना अधिक होता था कि 'पात्रों' का अपना अस्तित्व ही समाप्त हो जाता था।

प्रसाद प्रेमचन्द के बाद के कहानीकारों की दृष्टि व्यक्ति के मानस पर केन्द्रित हुई। कथावस्तु का चुनाव पूर्वनिश्चित तथ्यों को सिद्ध करने के लिए नहीं हुआ बल्कि व्यक्ति के अनुभूत सत्यों से कथावस्तु का निर्माण हुआ। व्यक्ति अपने संस्कारों के अनुसार जीवन के क्षणों का अनुभव करता है और पूर्वानुभवों के पार्श्व पर नवीन अनुभवों को ग्रहण करता है। एक अर्थ में अपना जीवन वही बनाता है, अपनी कथावस्तु का रचनाकार वह स्वयं ही होता है। व्यक्ति न तो देवता है और न दानव, वह केवल मानव है जिसकी अपनी सीमाएँ हैं, जो अच्छाई और बुराई दोनों को झेलता है, जिसके स्वभाव में तरह-तरह के रंग हैं, संक्षेप में वह मानसिक स्तर पर जीने वाला 'मनुष्य' है। मनुष्य जीवन के इस आंतरिक प्रक्रिया की पहचान के कारण ही कहानीकारों का ध्यान 'कथावस्तु' से हटकर 'पात्र' पर केन्द्रित हुआ। बाह्य-यथार्थ के परम्परागत 'सत्य' की अपेक्षा अन्तर्यथार्थ के अनुभूत सत्य पर रचनाकारों की दृष्टि टिक गई और चैतन्यशील चरित्रों का निर्माण होने लगा। इकहरी जीवन दृष्टि के नियंत्रण से पात्रों का छुटकारा हो जाने के कारण चरित्र चित्रण की क्षमता बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि रचना के स्तर पर चेतनहीन पात्रों की अपेक्षा संवेदनशील चरित्रों का उदय हुआ। स्पष्ट है कि जैनेन्द्र, जोशी, अज्ञेय और यशपाल आदि की कहानियाँ घटना बाहुल्य से बच गईं। इनकी कहानियों में घटनाओं की मालिकाएँ नहीं हैं, अनावश्यक वर्णनात्मकता भी नहीं है, चमत्कार पैदा करने की अतिरिक्त लालसा भी नहीं है क्योंकि इनकी यहाँ आवश्यकता ही नहीं है। चरित्रों को मानसिक स्तर पर उद्घाटित करने के लिए छोटी सी एवं साधारण घटना पर्याप्त हो जाती है, लेखक हमें सीधे चरित्रों के अंतरतम स्तर तक पहुँचा देता है। जैनेन्द्र की कहानी 'पत्नी' की नायिका सुनंदा एक मध्यवर्गीय, कुछ अर्द्धशिक्षिता नारी है। उसका पति कालिंदीचरण छोटा-मोटा नेता है जिसका सुनंदा को अभिमान भी है। किन्तु कालिंदीचरण आधुनिक अर्थ में आदर्श पति नहीं है। उसे अपनी पत्नी का ख्याल नहीं है। वह समय पर कभी घर आता ही नहीं, पत्नी को उसके लिए भूखे रहना पड़ता है। भारतीय पत्नी के आदर्शों पर उसकी प्रायः श्रद्धा है क्योंकि इस तथाकथित आदर्श के ओट में वह चाहे जैसे जुल्म अपनी पत्नी पर कर सकता है। सुनंदा के मानस पर एक ओर पारम्परिक पत्नी धर्म और दूसरी ओर आधुनिक नारी की स्वतन्त्र चेतना के बीच अन्तर्द्वन्द्व

निर्माण होने लगता है। इस चेतना का मार्मिक चित्रण 'पत्नी' में हुआ है। कहानी में कहीं भी घटनाएँ नहीं हैं, केवल एक प्रसंग है। पति अब तक आये नहीं हैं, सुनन्दा इंतजार कर रही है और अंतर्द्वन्द्व का अनुभव भी कर रही है। "सुनन्दा सोचती है—नहीं, सोचती कहाँ है, अलसभाव से वह तो वहाँ बैठी ही है। सोचने को है तो यही कि कोयले न वुझ जांय।............वह जाने कब आयेंगे। एक बज गया है। कुछ हो, आदमी को अपने देह की फिक्र तो करनी चाहिए।.........और सुनन्दा बैठी है। वह कुछ कर नहीं रही है। जब वह आयेंगे तो रोटी बना देगी। वह जाने कहाँ-कहाँ देर लगा देते हैं। और कब तक बैठूँ। मुझसे नहीं बैठा जाता। कोयले भी लहक आये हैं। और उसने झल्लाकर तवा अँगीठी पर रख दिया। नहीं, अब वह रोटी बना ही देगी। उसने जोर से खीझकर आटे की थाली सामने खींच ली और रोटी बेलने लगी।"[४२]

मध्यवर्गीय आधुनिक पत्नी की मूक्व्यथा को ऊपर के परिच्छेद में जिस प्रकार जुबान दी गई है—वह चरित्र-चित्रण की नई संभावना की ओर इशारा करता है।

अज्ञेय की 'सांप' कहानी वैसे बिना 'घटना' की कहानी है। 'घटना' है केवल एक 'सांप' को देखने की। दोनों (प्रेमी-प्रेमिका) सांप को देख रहे हैं—बस। इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु मानस के स्तर पर बहुत कुछ। जीवन का मनोवैज्ञानिक यथार्थ, स्वप्न और सत्य की सीमारेखा, सौंदर्यानुभूति की ऐन्द्रिकता को प्रकट करने के लिए कहानी लिखी गई है। नायक सांप को देख रहा है, बाजू मे उसकी प्रेमिका है। वह सोच रहा है—

"मैंने तो देख लिया। फिर मैं उसे देखने लगा। और वह सांप को देखती रही। हम दोनों जैसे मंत्रमुग्ध थे, लेकिन एक ही मंत्र से नहीं। वह सांप को देखती थी, मैं उसे देखता था। वह सांप के लयमय प्रवाह पर विस्मय कर रही थी, मैं उसके चेहरे की मानो क्षण भर के लिए थम गई चंचल बिजलियों को देख रहा था और सोच रहा था, कोने एक दूसरे को काटते हैं, पर लहरीली गतिमान रेखाएँ काटती नहीं, झट से कौंध कर मिल जाती हैं, बिजली की कौंध तो है ही लय होने के लिए, जहर को देखो और खो जाओ, डूब जाओ, लय हो जाओ। उसकी आँखें सांप पर टिककर मुग्ध थी। मेरी आँखों में मेरे भोर में देखे हुए स्वप्न की खुमारी थी। स्वप्न में मैंने इसी तरह देखा था कि..."[४३]

व्यक्ति के मानस का चित्रण प्रकट चिंतन के माध्यम से 'कोठरी की बात', 'पुलिस की सीटी' आदि कहानियों में भी स्पष्ट है। स्मृति की चेतना और वर्तमान का बोध इनके समन्वय से प्रस्फुटित आत्मचिन्तन के द्वारा चरित्र-चित्रण

के कई मार्मिक उदाहरण 'पठार का धीरज', 'सिगनेल्ट', 'नबर दस' आदि कहानियो मे देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार प्रसाद प्रेमचद के बाद की हिन्दी कहानी मध्यवर्गीय सवेदना को चरित्रगत मनोविश्लेषण के माध्यम से प्रस्तुत करने मे सफल हुई है। कला की दृष्टि से *अज्ञेय और जैनेन्द्र 'इनके हाथो कथानक के रूप निर्माण और शैली* मे आश्चर्यकारक प्रयोग हुए। यहाँ उनकी कला का मूल केन्द्र चरित्र बना और इसी चरित्र के मेरुदड से इन्होंने कथानक के प्रयोगो में अपूर्व उद्भावनाएँ की।"

यह बिल्कुल सही है कि जैनेन्द्र-यशपाल अज्ञेय और जोशी आदि की कहानियो ने हिन्दी कहानी की विकास यात्रा म बहुत बडा योगदान दिया और कहानी कला की रचनात्मक दृष्टि एव दृष्टिकोण को काफी साफ किया। किन्तु इस दौर के कहानीकारो ने जिस उत्साह और उमग के साथ दिशातर किया था, एक बिन्दु पर आकर ये सभी पलट गए, अगले मार्ग की चुनौतियो को झेल *नहीं सके और जगह करकर काटते रहे। इनकी सवेदनशीलता की गति* रुक गई। अनुभव ग्रहण की प्रक्रिया नियत्रित होने लगी, इनकी कहानी और वे स्वय चूक गये, अतर्शक्ति (पोटेंशिएलिटी) समाप्त हो गई। अज्ञेय की सवेदनशीलता के विकास क्रम मे 'रोज', 'जयदोल', 'हीलीबोन की बत्तखें जैसी कुछ ही कहानियाँ याद रह सकती है। शेष कहानियो को यदि समग्रता से देखा जाय तो लगता है कि अज्ञेय ने अपनी रचनाओ पर प्रयोगवादी अतिरिक्त कला-*सचेतना का इतना दबाव डाला है कि उनकी कहानियाँ विशिष्ट व्यक्तिगत* प्रयोगो के जटिल उदाहरण बन गई हैं। जैनेन्द्र ने 'पत्नी' और 'पाजेब' के अतिरिक्त जो कुछ भी लिखा है वह कहानीकार के विशिष्ट दर्शन से आक्रान्त है। इसलिए उनकी अधिकाश रचनायें कहानी का दर्शन नही कराती अपितु दर्शन की कहानी कहती हैं। इलाचन्द्र जोशी की 'डायरी के नीरस पृष्ठ' के अतिरिक्त अन्य कोई रचना हम मुश्किल से ही आकर्षित कर सकती है। इनकी लगभग सारी कहानियाँ विकृत व्यक्तित्व की 'केस हिस्ट्रिज' ही हैं। कहानी का मनोवैज्ञानिक होना एक बात है पर मनोविज्ञान की कहानी कहना बात दूसरी है। यशपाल की काफी रचनाएँ हमे आकृष्ट करती हैं। प्रतिष्ठा का बोझ, आतिथ्य, पराया सुख, कर्मफल आदि रचनाएँ उनकी गतिशील सवेदनशीलता का परिचय देती हैं। किन्तु धीरे-धीरे उनका दृष्टिकोण एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि से सचलित होने लगा जिससे उनकी प्रत्येक रचना प्रभावित होने लगी। गतिशील सवेदनशीलता पर स्थितिशील वैचारिक एव सैद्धान्तिक आक्रमण के

कारण मानव-जीवन की विविधता को वे पकड़ ही नहीं सके। 'सत्य' का एक ही पक्ष सामने आने लगा और वह भी पोथीनिष्ठ 'सत्य' का।

आधुनिक आलोचकों ने इस दौर के कहानीकारों पर एवं उनकी रचनाओं पर कई आक्षेप लगाये हैं। कहीं इन आक्षेपों में व्यक्तिगत विचार प्रणाली को आरोपित किया गया है तो कहीं पूर्वाग्रह-दूषित नुक्ताचीनी की गई है। अपनी बात ही क्यों सही है इसे प्रमाणित करने के लिए शत्रुपक्ष पर छींटाकशी करने की जो एकतरफा प्रवृत्ति होती है वह हिन्दी आलोचना में बहुत अधिक दिखाई देती है। इन्द्रनाथ मदान जैसे प्रसिद्ध आलोचक ने रचना का विश्लेषण रचना की राह से गुजर कर करने का प्रयत्न किया है। 'हिन्दी कहानी : अपनी जुबानी' ऐसा ही एक प्रयास है। किन्तु इस दृष्टिकोण में कई बार अतिरिक्त वस्तुनिष्ठता का दोष उभर सकता है। शायद मदान भी इसमे बचे नहीं हैं। हमारी दृष्टि में किसी भी रचना की समीक्षा के लिए केवल रचनाकार के मंतव्यों पर ही विश्वास कर लेना पर्याप्त नहीं है और न संपूर्णतः कृति की शिल्प-प्रक्रिया को ही महत्व दिया जाना चाहिए। प्रत्येक साहित्यिक रचना एक ओर वस्तुनिष्ठ होकर भी दूसरी ओर गतिशील होती है। गतिशील इसलिए, क्योंकि प्रत्येक युग का पाठक अपने साहित्यिक मानकों को सम्मुख रखकर पुरानी कृतियों की समीक्षा करता है। जो रचना उसके मानकों (नार्म्स) के अनुसार खरी नहीं उतरती उसे वह अस्वीकृत (रिजेक्ट) कर देता है। साथ-साथ उसे अपनी आत्मनिष्ठ मान्यताएँ भी रचना पर नहीं लादनी चाहिए। इसलिए उसे कृति की वस्तुनिष्ठता को स्वीकृत भी करना पड़ता है। ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक आलोचना की अतिवादिता को टालकर यदि रचनाओं का पुनर्मूल्यांकन किया जाय तो कुछ हाथ आ सकता है। इस दृष्टि से हम इस दौर के प्रमुख रचनाकारों की संवेदनशीलता का संक्षेप में विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

२. जैनेन्द्र की संवेदनशीलता : 'दर्शन' की कहानी

प्रेमचंद-प्रसाद की प्लाटवादी कहानी की तुलना में जैनेन्द्र की कहानी बड़ी सहज और लोचदार लगती है। इस कहानी में कहीं भी श्रम-साध्य रचना-प्रक्रिया को आरोपित नहीं किया गया है। व्यक्ति के मानस की गहराइयों को स्पर्श करके, कभी साधारण-घरेलू प्रसंगों में तो कभी असाधारण-विशिष्ट प्रसंगों के पार्श्व पर उन्होंने व्यक्ति-जीवन की विविध समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित किया है। "यही नहीं, जैनेन्द्र की घरेलू जीवन की छोटी-छोटी बातें, बहुत ही प्रयत्नशील-सी लगनेवाली अपनत्व भरी शैली,

अत्यन्त स्वाभाविक 'टू द पाइण्ट' वार्तालाप कुछ ऐसा प्रभाव देते हैं मानो कोई व्यक्ति कहानी 'सुना' नहीं रहा, अकेले में बैठकर कुछ बोल बोलकर सोच रहा हो और आप उसके अनजाने ही सब सुन रहे हों ... '[५] इस प्रकार कहानी के परम्परागत शिल्प को तोड़कर नवीन जीवन दृष्टि को वहन करने की क्षमता रखने वाले नए शिल्प की खोज करने का बहुत बड़ा श्रेय जैनेन्द्र की कहानी को दिया जाना चाहिए। रचना के स्तर पर सहज शिल्प और अनुभूति के स्तर पर संवेदनशील चरित्र' जैनेन्द्र की हिन्दी कहानी को देन जरूर है। किन्तु आगे चलकर यही बात विशिष्टता के स्तर पर आकर व्यक्तिगत बन गई। प्रत्येक रचना में ऐसे ही अंतर्मुखी चरित्रों का निर्माण किया जाने लगा। अंतर्मुखी चरित्रों ने अपनी मानसिक जटिलताओं को प्रकट करने के लिए 'दर्शन' की भाषा का प्रश्रय लिया और रचना बोझिल बनने लगी। व्यक्ति-जीवन की जिज्ञासावृत्ति का अतिवादी छोर संशयवाद में परिणत हुआ और संपूर्ण रचना छायावादी रहस्यवाद की तरह यथार्थ से दूर हट गई।

'खेल','तत्सत','नीलमदेश की राजकन्या','फांसी', 'जाह्नवी' जैसी विचारप्रधान (बल्कि दर्शनप्रधान) कहानियों को देखने पर पता चलता है कि जैनेन्द्र किसी विशिष्ट दर्शन को रचनात्मक स्तर पर उठा ही नहीं सके। कहानी दर्शन को पचा नहीं सकी। परिणामतः दर्शन' कहानी पर हावी हो गया। हमारे सम्मुख कहानी का दर्शन प्रकट नहीं हुआ, अपितु दर्शन की व्याख्यात्मक कहानी प्रस्तुत होने लगी।

'नीलम देश की राजकन्या' में फैंटसी के माध्यम से प्रायः आधुनिक व्यक्ति को एकाकीपन से मुक्ति पाने की समस्या को चित्रित करना चाहा है। किन्तु यह समस्या अपने आप में फैंटेसी से इतनी आक्रांत हो गई है कि वह अयथार्थ एवं काल्पनिक लगने लगती है। सारी कहानी संशयवाद से पीड़ित लगती है। भगवत्गीता के दार्शनिक अंदाज में नीलमदेश की राजकुमारी कहती है–'तू है। नहीं आया तो भी तू जा रहा है। तू आने के लिए नहीं आया है।' राजकन्या अकेली होकर दुकेली है, पूरी होकर भी अधूरी है–यानी क्या है? कुछ नहीं। सही अर्थ में जैनेन्द्र फैंटेसी की समस्या के साथ मिला नहीं पाये। कमलेश्वर 'राजा निरबंसिया' में जिस तरह दोनों दुनियाओं को एक ही रचना संसार का अटूट अंग बना सके, शायद जैनेन्द्र नहीं बना सके। जैनेन्द्र फैंटसी का उपयोग करने में असफल रहे हैं।[१६] 'जाह्नवी' पर कविता की प्रक्रिया हावी हो गई है। संशयवाद एवं 'आत्मवाद' का अतिरिक्त प्रभाव रचना प्रक्रिया पर पड़ जाने से 'जाह्नवी' की भारतीय विवशता संपूर्णतः उद्घाटित नहीं हो सकी।

'तत्सत', 'रत्नप्रभा', 'खेल' आदि कहानियों पर जैनेन्द्र का दार्शनिक हद से ज्यादा हावी हो गया है। एक ओर लेखक में बैठे हुए चिंतन की विशिष्ट मान्यताएँ हैं, तो दूसरी ओर रचना-प्रक्रिया की स्वाभाविक माँग और इन दोनों में कहीं होड़-सी लगी प्रतीत होती है। परिणामतः संशय-असंशय का विभ्रम पैदा हो जाता है, अस्ति-नास्ति की समस्याएँ उभरती हैं। जैनेन्द्र की कहानियों पर एक तरह के भ्रमवाद की छाया मंडराती नजर आती है। जीवन-दर्शन की स्थिरता को कल्पना के स्तर पर वे उठाने में वे असफल रहे हैं।' फलतः सामने आता है एक भ्रम और वह भी कल्पना के पंखों पर चढ़ा हुआ, और सारी रचना-प्रक्रिया को अवास्तविक और कोरी गढ़ी हुई बनाकर कहानी को कहाँ की बना देता है, जहाँ 'शायद' है और हम दुनिया में रहनेवालों के लिए यह 'शायद' भ्रम का बेटा है।'[४७]

३. अज्ञेय की संवेदनशीलता : कला संचेतना के जटिल प्रयोग:

प्रयोगवादी कविता के क्षेत्र में जिस प्रकार अज्ञेय ने 'काव्य-सत्य' को प्राप्त करने के लिए प्रयोगों की राहों का अन्वेषण किया, उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी कलासंचेतना की राह से गुजरकर रचना को प्रयोगधर्मी बनाया। व्यक्तिजीवन को अपनी अनुभूति के स्तर पर विशिष्टता प्रदान करने वाले हिन्दी के प्रायः वे पहले कहानीकार हैं। 'अनुभववाद' की विशिष्टता के स्तर पर उनके चरित्र निहायत व्यक्तिगत लगते हैं। इन चरित्रों का परिवेश, प्रतिक्रिया और बौद्धिक स्तर भी बिल्कुल 'विशिष्ट' है जिसमें उनकी कहानियाँ बड़ी सायास लगती हैं। प्रत्यक्ष जीवन से कटकर व्यक्तिगत मनोविज्ञान के लोक में विचरण करने वाले उनके चरित्र मैं के पर्याय[४८] लगते हैं। सामान्य अनुभवों की अपेक्षा विशिष्ट अनुभवों को महत्त्व देने के कारण उनकी कहानियों का शिल्प अनुभव-सापेक्ष बनता रहा। भाषा की प्रतीकात्मकता, परिवेश की सांकेतिकता के कारण उनकी कहानियाँ तीव्र बौद्धिक स्तर की जिज्ञासा को विकसित करती रहीं। शिल्प का यह आकर्षण इतना बढ़ा कि अगली कहानियों की बुनावट जटिल बनती गई। एक ओर वैज्ञानिक दृष्टि और दूसरी ओर कविव्यक्तित्व की 'आत्मनिष्ठा' इन दोनों के समन्वय से उनकी रचनायें अतिरिक्त उलझन से ग्रस्त होने लगी। कहीं-कहीं ऐसा आभास निर्माण होने लगा कि कहानीकार की संवेदनशीलता फिर से एक बार कहीं उसी रोमांटिक भावबोध को अलग तरह के रचनात्मक स्तर पर ग्रहण तो नहीं कर रही है जिसकी उन्होंने स्वयं खिल्ली उड़ाई थी। मार्कण्डेय जी ने शायद इसी तथ्य

को लक्ष्य कर उनकी कहानी के सबध मे कहा है—'सभव है जीवन की सहज गति से रचनाकार का व्यक्तित्व किनारे पड गया हो, अथवा विचारो के दुरूह, अस्वाभाविक प्रतिभावो के कारण मन की वे परतें ही सूख गई हो, जिन-पर सच्चाइयों के अक्स जाकर नक्श होते हैं अथवा वैयक्तिक कु ठाओ ने अपने चारो ओर एक ऐसा खोल ओढ़ लिया हो कि सब कुछ मे उसे अपनी ही आरोपो की तस्वीरें दीखने लगी हो, कुछ ठीक कह पाना मुश्किल लगता है।'[९] 'साँप, पठार का धीरज' कलाकार की मुक्ति, नीली हसी, आदि कहानियाँ इसी बात का परिचय देती हैं। 'पठार के धीरज' में स्वप्न और सत्य की समस्या को काव्यमय भाषा मे प्रस्तुत किया गया है। कहानी मे बहिर्मुखी रचना प्रक्रिया पर कविता की अतर्मुखी लय को लादा गया है जिससे पठार का धीरज पर निर्माण होने वाला राजकुमारी का स्वप्न जगत, किशोर और प्रमिला के 'सत्य' को छेद नही पाता। लगता है, दो कहानियाँ एक के बाद दूसरी, इस क्रम मे कही गई हैं। साँप' कहानी भी ऐसी ही कहानी है। डा० मदान ने इन कहानियो को 'कथात्मक निबध'[१०] कहा है। बडी विचित्र बात है कि स्वय अज्ञेय ने 'कहानी को प्राचीनता की रोमानियत से निकालने की बात की थी पर स्वय उनकी कहानी नवीन तरह की रोमानियत मे फँस गई।

४. यशपाल की सवेदनशीलता : सिद्धान्त की रचना

हमने इसके पहले स्पष्ट कर ही दिया है कि यशपाल ने कुछ अच्छी कहानियाँ दी हैं। परम्परागत जीवन-दृष्टि का अवश्रद्धावादी बोध उनकी कई कहानियो मे व्यग्यात्मक स्तर पर चित्रित हुआ है और झूठी एव घिसीपिटी परम्परा की खिल्ली उडाई गई है। 'धर्मरक्षा' मे और 'ज्ञानदान' मे स्त्री-पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने वाले अप्राकृतिक धर्म-सिद्धान्तो की करुण अकुलाहट का कलात्मक चित्रण हुआ है। 'प्रतिष्ठा का बोझ' म झूठी प्रतिष्ठा सफेदपोशी बोझ मे किस प्रकार पिसी जा रही है इसका मार्मिक चित्रण 'केवल-चद' की कामवासना की कहानी के द्वारा स्पष्ट हुआ है। किन्तु यशपाल की बहुतसारी कहानियो का मूल स्वर साम्यवादी चेतना से ग्रस्त रहा है। मार्क्स ने समाज जीवन के सुख दुखो का विश्लेषण वर्ग-सघर्ष के सिद्धात के आधार पर किया जिसका प्रभाव ससार के राजनीतिक, वैचारिक एव साहित्यिक क्षेत्र पर हुआ। यशपाल के कहानी-उपन्यासो पर मार्क्सवादी विचार-प्रणाली का जबर-दस्त प्रभाव है। जब किसी साहित्यकार की सवेदनशीलता किसी निश्चित

किताबी सिद्धान्तवादिता से नियंत्रित होने लगती है, तब रचनात्मक उपलब्धियाँ क्षीण होने लगती हैं, जीवन का इकहरा चित्रण प्रस्तुत किया जाता है, कल्पना शक्ति की चेतनता सूख जाती है और रचनाएँ केवल प्रचारवादी स्वर में आक्रोश करने लगती हैं।

यशपाल की कतिपय कहानियाँ इसी ढर्रे की हैं इसलिए इन कहानियों के चरित्र यांत्रिक और नकली लगते हैं। किसी राजनीतिक मान्यता को स्थिर सत्य के रूप में ग्रहण करने के कारण यशपाल की रचनाएँ केवल बौद्धिक व्याख्याएँ लगती हैं और चरित्र लेखक के हाथों कठपुतलियों की तरह बनकर रह जाते हैं। 'महादान', 'कर्मफल,' 'जिम्मेवारी', 'पराया सुख', 'चित्र का शीर्षक' आदि कहानियाँ इस ढंग की हैं।

वास्तव में लेखक का सिद्धान्तप्रिय बौद्धिक व्यक्तित्व और सृजनशील रागात्मक-व्यक्तित्व इन दोनों में सतत संघर्ष चलता रहा है और कई बार विजय सिद्धान्तप्रिय व्यक्तित्व की ही हुई जिससे कहानी केवल दस्तावेज बनकर रह गई है। डा० मदान ने सही कहा है—

'वास्तव में यशपाल के मुनि (चिन्तन) और इनके ऋषि (सृजन) में परस्पर विरोध की स्थिति है। इनका मुनि इनके ऋषि से अधिक सशक्त है और वह प्रायः इनके ऋषि पर हावी रहता है।'[५१]

५. इलाचंद जोशी की संवेदनशीलता: मनोविज्ञान की कहानी

हमने पहले ही कहा है कि जोशी की कोई कहानी रचना के स्तर पर हमें आकृष्ट नहीं कर सकती। इसका मूल कारण यह है कि मनोविज्ञान के अतिरिक्त आकर्षण ने इनकी रचना प्रक्रिया को सुखा दिया है। फ्रायड या अन्य मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए पात्रों को निर्माण किया गया है और उनके जीवन की विकृत कहानियाँ कही गई हैं। प्रायः प्रत्येक कहानी में ऐसा एक प्रमुख 'चरित्र' होता है जो अपनी कहानी कहता जाता है और हम उसके जुबानी उसकी विकृतियों का इतिहास सुनते रहते हैं।

आश्चर्य इस बात का है कि स्वयं जोशी जी ने यह दावा किया है कि उन पर किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रभाव नहीं है[५२] उनके सारे चरित्र मौलिक हैं, जबकि उनकी प्रत्येक कहानी फ्रायड के सिद्धान्तों पर लिखी गई प्रमेयात्मक व्याख्याएँ हैं। 'दुष्कर्मी,' 'कापालिक,' 'क्रय-विक्रय,' 'प्लेनचेट' आदि कहानियाँ इसी तथ्य का परिचय देती हैं। उनकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक नहीं

है, अपितु वे *'मनोविज्ञान' की कहानियाँ हैं।*

ङ निष्कर्ष

सपूर्ण अध्याय को सम्मुख रखकर हिन्दी कहानी के पूर्व रग के सबध मे कुछ सामान्य निष्कर्ष ये हो सकते हैं—

(अ) प्रसाद से लेकर अज्ञेय-जोशी तक की हिन्दी कहानी अतलोगत्वा उस अयथार्थ को चित्रित करती है जिसका जन्म या तो पारम्परिक आदर्शवाद से हुआ है या नहीं तो किताबी बुद्धिवाद से।

(ब) रचना के स्तर पर हिन्दी कहानी का पूर्वरग सायास रचना प्रक्रिया को अपनाता रहा जिससे अनुभूति और अभिव्यक्ति में अद्वैत स्थापित नहीं हो सका और सवेदन और शिल्प सयोजन रचना प्रक्रिया के अभिन्न अग नहीं बन सके।

४. नई कहानी की संवेदनशीलता : अनुभवों के संदर्भ और मूल्यांकन की दिशा

पुराने दौर की कहानी की संवेदनशीलता स्थिर होकर गतिहीन बन गई थी। उसका स्वरूप निश्चित पूर्वाग्रहों से आबद्ध एवं सीमित हो चुका था। आधुनिक जीवन की गतिशीलता के साथ-साथ कदम बढ़ाने में पुरानी कहानी असमर्थ सिद्ध हुई। इसके कारणों की जांच करते हुए हमने पिछले अध्याय में पुरानी कहानी की स्थितिशीलता के स्वरूप को समझने का प्रयास किया था।

समाज जीवन की दृष्टि और दृष्टिकोण बदलते गए। इस बदलाव को आत्मसात करने का ज्यों ही प्रयास आरम्भ हुआ, कहानी का अनुभव–जगत् बदल गया और जीवन को आंकने के माप भी बदल गये। हिन्दी में नई तरह की कहानी लिखी जाने लगी। हिन्दी साहित्य जगत् में उल्टी-सीधी प्रतिक्रियाओं का बवंडर मचा और हद से ज्यादा शोरशराबे के बाद नई तरह की हिन्दी कहानी 'नई कहानी' के रूप में प्रतिष्ठित हुई। नई कहानी के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठाये गए। साहित्यकार का उत्तरदायित्व, अनुभूति की प्रामाणिकता, साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता, यौनवाद, आदर्शवाद, आदि कई प्रश्नों को लेकर चर्चा-गोष्ठियां आयोजित की गईं। नए पुराने लेखकों के बीच वाग्युद्ध, छिड़े, आरोप-प्रत्यारोप की बौछारें हुईं, गुटबाजियां और दलबंदियां भी बनी, कविता-कहानी में कौन बड़ा, कौन छोटा आदि असाहित्यिक प्रश्न उठाये गये। इधर आलोचना के क्षेत्र में नई कहानी के संदर्भ में बहुत कुछ लिखा जा रहा था और नये कहानीकारों को हतोत्साह करने के प्रयास किये जा रहे थे, पर सृजन के क्षेत्र में नई कहानियां लगातार लिखी जा रही थी। इस होड़ में सृजनात्मकता की जीत हुई और हिन्दी में 'नई कहानी' की स्थापना हुई, कहानी साहित्य ने नया मोड़ लिया।

उपर्युक्त प्रक्रिया स्वाभाविक भी थी और अनिवार्य भी। क्योंकि जब भी कभी युगीन संवेदनशीलता में आन्दोलन उपस्थित होते है और नवीनता का

आग्रह निर्माण होता है उस समय पारम्परिक बोध और नवीन सवेदनाओं में सघर्ष अटल हो जाता है । साहित्य क्षेत्र मे परपरा और नवीनता का सम्बन्ध सदा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि क्या नवीनता परम्परा से बिल्कुल कटी हुई होती है या परम्परा का विकसित रूप उसमे उभरता है । इस प्रश्न का उत्तर कई तरह से दिया जाता रहा है । हमारे यहाँ इस प्रश्न के अतिवादी उत्तर दिए गये हैं । नई कहानी के सदर्भ म कही यह कहा गया कि वह परम्परा से बिल्कुल कटी हुई है और कही कहा गया कि उसमे कुछ भी नया नही है केवल फैशन के तौर पर नए लटको को अपनाया गया है । कुछ निष्पक्ष समीक्षको ने परम्परा और नवीनता के सम्बन्ध को सैद्धान्तिक स्तर पर परखते हुए साहित्य-इतिहास की विकासोन्मुखी प्रवृत्ति की ओर इशारा किया।

हम नई कहानी के सदर्भ म परम्परा और नवीनता के सम्बन्धो को सैद्धान्तिक स्तर पर समझने का प्रयत्न करेंगे । पाश्चात्य समीक्षा मे टी० एस० एलियट ने अपने निबन्ध 'ट्रेडिशन एण्ड इडिविज्युअल टैलेन्ट म साहित्यिक परम्परा और नवीनता के सम्बन्धो को बिल्कुल नये स्तर पर परखने का सफल प्रयास किया है । उनका यह निबन्ध सपूर्ण पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र मे क्रांतिकारी लेख के रूप मे मान्यता प्राप्त कर गया है । एलियट के प्रमुख समीक्षा सिद्धान्त इस लेख म स्पष्ट हुए हैं । प्रथमत हम एलियट की परम्परा विषयक मान्यता को समझने की कोशिश करेंगे ।

अ. टी० एस० एलियट की मान्यता : साहित्य में परम्परा के सदर्भ मे

परम्परा की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए एलियट ने परम्परा की सकल्पना को अन्य तद्भव-सकल्पनाओं से अलग किया है । मताग्रही विश्वासो (डागमेटिक बिलीफ्स) की परम्परा की सकल्पना से अलग करते हुए लेखक ने परम्परा की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार परम्परा-बोध मे वे सारे तत्त्व शामिल हैं जिनका पालन हम रीति रीवाजो आदतो, धार्मिक विधियो यहाँ तक कि आतिथ्य के सकेतों मे करते आये हैं । ये सारे तत्त्व विशिष्ट स्थान मे रहने वाले विशिष्ट समाज के जातीय खून के रिश्ते का प्रतिनिधित्व करते हैं । इन तत्त्वो के सम्बन्ध म उस समय हम अधिक सजग एव सतर्क हो जाते हैं जब इनका ह्रास होने लगता है । एक ओर इन तत्त्वो के ह्रास की प्रक्रिया जारी रहती है और दूसरी ओर नए तत्त्व उनकी जगह लेते रहते हैं जिसमे परम्परा की गतिशीलता कायम रहती है। इस प्रक्रिया को वृक्ष की उपमा

देकर यों समझा जा सकता है—जिस प्रकार वृक्ष के पुराने पत्ते गिर जाते हैं और उनकी जगह नये पत्ते निर्माण होते हैं और वृक्ष का अस्तित्व सदैव प्रवाहित एवं गतिशील बना रहता है, बिलकुल उसी तरह परम्परा का प्रवाह अबाधित गति से बहता रहता है। गिरे हुये पत्तों को फिर से वृक्ष को चिपकाने का असफल प्रयत्न करना यानी पुराने एवं यातयाम (आउट्-डेटेड) तत्त्वों के सम्बन्ध में दुराग्रही भूमिका पर अड़े रहकर सम्प्रदायवादी बनना है।

परम्परा को सम्प्रदाय से जोड़ना जैसे खतरनाक है उसी प्रकार यह मानना कि परम्परा किसी ऐसे स्थिर तत्त्व का नाम है जो किसी भी बदल को अस्वीकृत कर देता है, खतरे से खाली नहीं है। अतीत के प्रति भावविवश लगाव लाभकारक सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अच्छी एवं ऐश्वर्यपूर्ण परम्परा में भी अच्छे और बुरे तत्त्वों का संमिश्रण पाया जाता है जिसके प्रति हमें सतर्क रहना चाहिए, और परम्परा केवल 'बोधगम्य' चीज नहीं होती। परम्परा की रक्षा के लिए एवं उसके स्वस्थ विकास के लिए बौद्धिक प्रयत्नों की जरूरत होती है। अतीत के कौन से तत्त्व वर्तमान के लिए पोषक है और कौन से हानिकारक है, इन्हें एक दूसरे से अलग करने की बौद्धिक क्षमता जिस जाति में होती है, वह अपनी परम्परा का सही विकास कर सकती है।'

परम्परा और व्यष्टि-चेतना के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए लेखक ने साहित्य-मूल्यांकन की समस्या को नये दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयास किया है। साधारणतः हम उसी कवि की प्रशंसा करते हुए नजर आते हैं जो अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा अलग उठकर दिखे, जिसका व्यक्तित्व परम्परागत कवि-व्यक्तियों से निराला हो, वही हमारी नजरों में प्रतिभाशाली कवि सिद्ध होता है। इस प्रक्रिया में हमारा प्रयास यही रहता है कि हम उस स्थान को ढूंढें जहाँ विशिष्ट कवि परम्परा के प्रवाह से अलग हो जाता है, जिससे उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की जा सके। कवि-विशेष का अपने पूर्ववर्तियों से विभिन्नत्व जितनी अधिक मात्रा में सिद्ध होगा, उसी अनुपात से उसकी श्रेष्ठता नापी जाती है। किन्तु यह धारणा गलत है। यदि हम बिना किसी पूर्वग्रहों के कवि-विशेष की श्रेष्ठता एवं विशिष्टता को परखने की चेष्टा करें तो स्पष्ट होगा कि उसका श्रेष्ठ साहित्य वही है, जिसमें उसकी पुरानी पीढ़ी का साहित्य-बोध प्रभावशाली रूप में विद्यमान है। जिसे हम कवि-व्यक्तित्व की विशिष्टता कहते हैं, वह वस्तुतः परम्परा से चले आये साहित्य-बोध का संचित रूप ही उपस्थित करता है। इसका मतलब यह नहीं कि साहित्यिक-श्रेष्ठता का दूसरा नाम परम्परागत मूल्यों का अन्धानुकरण करना होता है। जहाँ पुराने से चिपके

रहने की प्रवृत्ति दिखाई देती है उसे निरस्कृत करना चाहिए । नवीनता पुराने को दोहराने से नहीं अच्छी होती है ।

परम्परा बडी व्यापक और महत्त्वपूर्ण मकल्पना है । यह अनुवाशिक नहीं होती, इसे प्राप्त करने के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं । इसे प्राप्त करने के लिए प्रथमत इतिहास-बोध को आत्मसात करना पड़ता है । इतिहास बोध मे केवल अतीत का अतीतत्त्व ही अभिप्रेत नहीं, अतीत का वर्तमानत्व भी सम्मिलित होता है । इतिहास-बोध को अपने सवेदन का अग बनाए रखने वाले साहित्यकार केवल सामयिकता पर अपनी दृष्टि केन्द्रित नहीं करते बल्कि उन्हें इस बात का बराबर एहसास रहता है कि उनके देश का सपूर्ण जातीय साहित्य एक साथ अपने अस्तित्व को एव उसके अन्तर्गत व्यवस्था को सिद्ध करता है इसलिए उनका साहित्य-बोध सपूर्ण जातीय परम्परा-बोध का हिस्सा होता है । यही इतिहास-बोध जिसमे कालिक और कालातीत के तत्त्व जुदे-जुदे शामिल होकर भी दोनों का एकत्रित बोध सम्मिलित होता है, साहित्यकार को परपरा-नुगामी बनाता है । साथ-साथ यही बोध उसे सामयिकता की पहचान कराता हुआ उसके निश्चित स्थान की जानकारी देता है ।

किसी कवि या कलाकार का अपने आप मे कोई महत्त्व नहीं होता, उसकी विशिष्टता का विश्लेषण एव मूल्याकन उसके पूर्ववर्ती मृत कलाकारों के समकक्ष रखकर तुलनात्मक पद्धति से ही किया जा सकता है । इस प्रकार मृत कवियों के साथ किसी जीवित कवि की तुलना करके उसकी कविता का मूल्याकन केवल ऐतिहासिक समालोचना-पद्धति का अवलब करना नहीं है, अपितु सौंदर्य-शास्त्रीय तत्त्व का प्रश्रय लेना है । श्रेष्ठ कवि की अपने पूर्ववर्तियों से अनुरूपता एव सुसंगति एकतर्फी नहीं होती । होता यह है कि जब किसी नवीन साहित्य-कृति का निर्माण होता है जिसका मतलब ही होता है कि पूर्वगामी साहित्यकृतियों म जरूर कुछ बदल हुआ है । पूर्वगामी सारी कृतियाँ एक आदर्श व्यवस्था मे रूपातरित होती हैं और इस आदर्श व्यवस्था मे नई कृति के आगमन के कारण सशोधन की प्रक्रिया सपन्न होती है । नई कृति के निर्माण के साथ ही पुरानी सारी व्यवस्था कुछ हद तक बदल जाती है और नई समेत पुरानी सारी कृतियों के परस्पर सम्बन्ध, अनुपात और मूल्य बदल कर सपूर्ण व्यवस्था (आर्डर) के साथ फिर स सुसगति पैदा कर लेते है । पुराने और नए के बीच अनुरूपता (कन्फर्मिटी) इसी को कहते हैं । जो कवि इस प्रक्रिया से वाकिफ है, वही अपनी जिम्मेदारियों और कठिनाइयों को जानता है । एक विशिष्ट अर्थ से, वह जानता है कि उसका मूल्याकन पुरानों के सन्दर्भ मे ही किया जाना

चाहिए । पुरानों के संदर्भ में मूल्यांकन का अर्थ यह नहीं है कि विशिष्ट कवि पुरानों की अपेक्षा अच्छा या बुरा है या पुरानी समीक्षा-पद्धति पर उसका श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व सिद्ध किया गया है । यह मूल्यांकन एवं तुलना उस श्रेणी की तुलना है जहां दो वस्तुएँ एक दूसरे का मापदण्ड होती हैं । इसलिए नए की पुरानी से संगति यानी नए की पुरानी से असंगति । यदि संगति स्थापित हो जावे तो वह कृति नई नही हो सकती और इसीलिए साहित्यिक कृति भी नहीं हो सकती ।

अतीत से कवि का नाता यदि स्पष्ट करना है तो कहा जा सकता है कि वह न तो अतीत को एक पिण्ड (वोलस) के रूप में स्वीकृत करता है न किसी पुराने एक या दो कवि व्यक्तित्वों से सम्बन्ध जोड़ता है और न पुराने किसी एक साहित्यिक कालखंड से आकृष्ट होता है । उसे अतीत की उस प्रमुख धारा के प्रति सजग रहना चाहिए जो केवल कुछ प्रसिद्ध कवि व्यक्तित्वों की रचनाओं में कभी भी प्रवाहित नहीं होती । उसे इस स्पष्ट तथ्य से परिचित होना चाहिए कि कलाओं में कभी उन्नति नहीं होती, किन्तु उनकी सामग्री में प्रत्येक कालखंड में बदल होता रहता है । इस अर्थ में अतीत और वर्तमान में फर्क यह है कि सजग वर्तमान को अतीत का बोध (अवेअरनेस) उस सीमा तक ही होता है जहाँ कि अतीत अपने स्वयं का बोध स्पष्ट नहीं कर सकता । .... कला में व्यक्त भावना निर्वैयक्तिक होती है । इस निर्वैयक्तिकता को कवि तभी प्राप्त कर सकता है जब वह अपने व्यक्तित्व को अपनी कृति के सम्मुख पूर्णतः समर्पित कर देता है । श्रेष्ठ साहित्य-कृति का निर्माण तभी सम्भव है जब कृतिकार केवल वर्तमान-बोध का ही ग्रहण नहीं करता, अपितु अतीत के वर्तमान बोध को भी ग्रहण करता है; वह केवल मृत कलाकारों के प्रति सजग नहीं रहता, बल्कि जीवितों के प्रति भी सजग रहता है ।[२]

एलियट की उपर्युक्त मान्यता के कुछ प्रमुख निष्कर्ष ये हो सकते हैं ।

निष्कर्ष

(१) परम्परा की संकल्पना में वे सारे तत्त्व शामिल हैं जो विशिष्ट भौगोलिक सीमा में रहने वाले विशिष्ट समाज के खून के रिश्ते का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें उस समाज के धार्मिक, सांस्कृतिक रीतिरिवाजों से लेकर सभ्यता के छोटे से छोटे नियम भी शामिल होते हैं ।

(२) परंपरा की संकल्पना गतिशील संकल्पना है जिसमें समय के विकास के साथ पुराने तत्त्वों का ह्रास और नवीन तत्त्वों के निर्माण की प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है । इस अर्थ में परंपरा स्थितिशील नहीं होती ।

(३) परपरा के विकास-क्रम मे स्खलनशील एव स्खलित तत्त्वों को फिर से परपरा के साथ जोडने के आग्रह से सम्प्रदायो का निर्माण होता है। परपरा बदल को स्वीकार करती है जबकि सम्प्रदाय बदल को अस्वीकृत कर देते हैं। परम्परा को सम्प्रदाय के साथ जोडना खतरनाक है।

(४) अतीत के प्रति भावविवश लगाव होने से परम्परा की रक्षा नही हो सकती। परम्परा केवल बोधगम्य चीज नही है। इसकी रक्षा एव विकास के लिए सजगता, सतर्कता एव बौद्धिक प्रयत्नों की जरूरत होती है। अतीत के अच्छे-बुरे तत्त्वो की बुद्धिगम्य परख आवश्यक है। इस अर्थ मे परपरा-बोध और अतीत-बोध में फर्क स्पष्ट है।

(५) साहित्य मे परम्परा और नवीनता का सम्बन्ध बडा घनिष्ठ होता है। नवीन कलाकार की श्रेष्ठता उसके द्वारा परम्परागत साहित्य बोध को ग्रहण करने और अपनी कृतियो मे उक्त बोध को व्यक्त करने की क्षमता से सिद्ध होती है, न कि परम्परा से कटे रहने से। किन्तु परम्परागत मूल्यों का भाव-विवश अन्धानुकरण उसकी श्रेष्ठता का परिचायक नही होता, क्योकि नवीनता पुराने को दोहराने से कही अच्छी होती है।

(६) परपरा किसी की अनुवाशिक थाती नही होती, इसे बुद्धिपुरस्सर प्राप्त करना पडता है जिसके लिए इतिहास-बोध को आत्मसात करना आवश्यक है। इतिहास-बोध स्थिर एव सीमित कालिक सकल्पना नहीं है। इतिहास-बोध मे अतीत का अतीतत्व एव उसका वर्तमानत्व एक साथ सम्मिलित होता है, इसमे कालिक और कालातीत दोनों तत्त्व एक साथ शामिल होते है। इस अर्थ म इतिहास-बोध एक गत्यात्मक तत्त्व है जिसे आत्मसात करना परम्परा के विकास के लिए आवश्यक है। इतिहास-बोध की जानकारी सामयिकता बोध की पहचान के लिए आवश्यक है।

(७) किसी कवि को कृतियों का सही मूल्याकन परम्परागत साहित्य-बोध के साथ तुलना से ही किया जा सकता है। मृत कवियो से जीवित कवि की तुलना करके साहित्यिक मूल्याकन की जो पद्धति अपनाई जाती है वह तथाकथित ऐतिहासिक समालोचन-पद्धति नहीं है बल्कि उसके पीछे एक सौन्दर्यशास्त्रीय प्रक्रिया काम करती है।

(८) नवीन कृति के आगमन से पूर्व पुरानी परम्परागत व्यवस्था का एक आदर्श सगठन स्थिर हो जाता है। नवीनता के आगमन के साथ उक्त स्थिर सगठन मे सशोधन की प्रक्रिया आरम्भ होने लगती है। इस प्रक्रिया मे पुरानी व्यवस्था नई समेत बदल कर परस्पर सम्बन्धो को फिर से नई व्यवस्था में

रूपान्तरित करती है, नवीनता का परम्परा से नाता जुड़ जाता है।

(९) नवीनता की परम्परा से सुसंगति का अर्थ यह नहीं कि नवीनता परंपरागत व्यवस्था को स्वीकार कर लेती है बल्कि यह कि नवीनता पुराने के साथ पहले असंगति के कारण विद्रोह करती है और अपने समेत संपूर्ण व्यवस्था में उचित बदल के बाद उसका अंग बन जाती है। इसलिए परम्परा से सुसंगति स्थापित करने के लिए उसका असंगत होना आवश्यक है।

(१०) श्रेष्ठ साहित्य-कृति का निर्माण तभी सम्भव है जब कृतिकार परंपरा की प्रमुख गतिशील धारा के बोध को ग्रहण करता हुआ तात्कालिक बोध की रक्षा करता है। इस प्रक्रिया में कृतिकार अपने निजी व्यक्तित्व को अपनी सृजनात्मकता के सम्मुख पूर्णतः समर्पित करके कलात्मक-निर्लिप्तता को प्राप्त कर लेता है।

टी० एस० एलियट की परम्परा-विषयक मान्यता के सम्बन्ध में जो प्रमुख निष्कर्ष निकाले गए हैं उनके आधार पर साहित्यिक पम्परा और साहित्यिक नवीनता की संकल्पनाओं की हम जाँच करना चाहेंगे और सिद्ध करना चाहेंगे कि साहित्य-इतिहास के विकास क्रम में नवीनता और परंपरा परस्पर पूरक होती हैं, कि नवीनता का अर्थ परंपरा से कट जाना नहीं होता और कि साहित्यिक परम्परा का सही अर्थ में विकास जातीय साहित्य की श्रेष्ठता और गतिशीलता को बनाए रखता है। सबसे पहले हमें उन संकल्पनाओं को परंपरा की संकल्पना से अलग कर देना है जो परंपरा की सहधर्मी होकर भी परम्परा से तत्त्वतः अलग होती हैं। जैसे इतिहास, रूढ़ि और सम्प्रदाय आदि संकल्पनाएँ परम्परा-बोध में यूँ ही सम्मिलित कर ली जाती हैं और हम कई बार उन साहित्यकारों को परंपरावादी कहकर पुकारते हैं जो साहित्यिक-संप्रदायों, रूढ़ियों एवं प्राचीन इतिहास बोध के तत्त्वों का पालन करते हैं। ऐसे समय परंपरावादी का अर्थ दकियानूसी होता है जो कि अच्छे साहित्यकार का लक्षण नहीं होता। सच्चे अर्थ में परम्परा को निभाए रखना किसी श्रेष्ठ साहित्यकार के लिए ही सम्भव है। घटिया दर्जे के साहित्यकार परंपरा की गतिशील चेतनता की रक्षा कर ही नहीं सकते।

इतिहास, सम्प्रदाय और रूढ़ियाँ किसी विशिष्ट क्षेत्र के साथ जुड़ी हुई होती हैं और इनमें परस्पर-असंगत कई तत्त्व शामिल हुए होते हैं। इन संकल्पनाओं में सजातीय एकरूपता (होमोजिनीइटी) नही पाई जाती। युगीन विकास के क्रम में इतिहास, सम्प्रदाय और रूढ़ियाँ कई तत्त्वों को शामिल करती हुई विभिन्न घटनाओं का एकत्रीकरण करती रहती हैं जिससे इनमें

करते हुए दिखाई देते हैं। यया इन शब्दों की अर्थ-छटाएँ अलग अलग नहीं स्थितिशीलता बनी रहती है। जीवन के गतिशील यथार्थ का अनुगमन सम्प्रदायों में नहीं होता इसलिए इनमें पूर्वनिर्मित एवं पूर्व निश्चित के स्थिर तत्त्वों का पालन करने की प्रमुख प्रवृत्ति दिखाई देती है। विशिष्ट युगबोध की समाप्ति के बावजूद उसी युगबोध से चिपटे रहने की प्रवृत्ति सम्प्रदायवादी एवं रूढ़िवादी तत्त्वों के विकास में सहायक होती है। इसके विरुद्ध परम्परा अपने विकास क्रम में युगानुकूल जीवन सापेक्ष्य तत्त्वों का स्वीकृत करती हुई हर बदल का स्वागत करती है। यहाँ अच्छे और बुरे तत्त्वों के बीच चुनाव की प्रक्रिया जारी रहती है और इस चुनाव का आधार होती है युग सापेक्ष्यता। परम्परा की रक्षा के लिए बौद्धिक प्रयासों की जरूरत होती है, वह सम्प्रदायों जैसी पुश्त दर-पुश्त स्थिर तत्त्वों की रक्षा नहीं करती। सम्प्रदाय, रूढ़ि, इतिहास और परम्परा में केवल क्षेत्र बोध का तत्त्व समान रूप से पाया जाता है। ये सारी सकल्पनाएँ विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र के समाज से ही जुड़ी हुई होती हैं, लेकिन जहाँ सम्प्रदाय आदि में पूर्वापर घटनाओं का मात्र एकत्रीकरण होता है। वहाँ परम्परा में चुनिंदा घटनाओं का हेत्त्वादर्शक एकात्मीकरण होता है। सम्प्रदाय आदि से परम्परा की सकल्पना को अलग मानने का और एक महत्त्वपूर्ण कारण है और वह है परम्परा के अतर्गत पाई जाने वाली मूल्य सकल्पना। परम्परा के विकास में हर नए मोड़ पर किसी खास मूल्य-बोध का आधार आवश्यक होता है। क्योंकि इसके बिना जीवन सापेक्ष्य तत्त्वों का अवतत्र असंभव हो जाता है। विशिष्ट मूल्यों का आग्रह और मूल्यों को नकारने की प्रक्रिया परपरा बोध का अनिवार्य अंग है। इतिहास, सप्रदाय एवं रूढ़ियों के अनुगमन में मूल्य-बोध को समाविष्ट नहीं किया जा सकता। मूल्य-बोध के आधार पर इतिहास, सप्रदाय एवं रूढ़ियों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार साहित्यिक परपरा की सकल्पना साहित्यिक सप्रदाय, इतिहास और रूढ़ियों से अलग सकल्पना है जो जीवन सापेक्ष्य, गतिशील, एकात्म और मूल्यगर्भ होती है। समाज जीवन के विशिष्ट एकात्मक (होमोजिनीयस) क्षेत्र से आबद्ध पूर्वापर घटनाओं द्वारा निर्मित मूल्यगर्भ, गत्यात्मक चेतनावस्था यानी परपरा—'[३] इस व्याख्या से हम सहमत हो सकते हैं।

अब साहित्यिक नवीनता की सकल्पना को भी समझ लें। इसे समझने के लिए नवीनता के साथ जुड़े हुए तथाकथित सहधर्मी शब्दों को और तज्जन्य अर्थों को अलग कर लेना होगा। नवीनता के अर्थ को सूचित करने के लिए हम कई बार नव्यता, नूतनता, विलक्षणता या अनूठापन इन जैसे शब्दों का प्रयोग

हैं ? क्या कई बार हम उक्त शब्दों का प्रयोग साहित्य-कृति की कृत्रिम विलक्षणता को सूचित करने के लिए नहीं करते ? कई बार, जब हम कहते हैं कि फलां उपन्यास में बहुत कुछ नयापन है, या कि अमुक कहानीकार के प्रयोग बड़े विलक्षण हैं, या कि इस नाटक में अजनबी संवेदन को अभिव्यक्ति दी गई है, ऐसे समय हम यह नहीं कहना चाहते कि उक्त कृतियों में पाई जाने वाली नव्यता लेखकों की अनुभूति का अनिवार्य फल है बल्कि हम कहीं यह सूचित करना चाहते हैं कि प्रस्तुत कृतियों की उनका अटूट हिस्सा न होकर मात्र आनुषंगिक, नुमायशी एवं कारीगरी के प्रदर्शन के लिए लाई गई है। इस प्रकार की आरोपित नव्यता साहित्यिक परंपरा के संदर्भ में अपना स्थायित्व सिद्ध नहीं कर सकती। क्योंकि ऐसी नव्यता साहित्यिक कृति की अनिवार्य शर्त नहीं होती और न उसका अंगभूत अवयव ही होती है। हम जिस साहित्यिक नवीनता को स्पष्ट करना चाहते हैं उसका स्थान कृति में आनुषंगिक नहीं होता। साहित्य इतिहास के विकास क्रम में विशिष्ट क्रांतिकारी मोड़ पर अनिवार्यतः प्रकट होकर साहित्य-कृति का प्राणभूत जुज़ बनकर अभिव्यक्त होने वाली नवीनता परंपरा की गत्यात्मकता का स्वाभाविक अंग होती है। नये युग के आगमन की सूचना देने वाली यह नवीनता किसी एक या दो साहित्यिकों के नटकों तक सीमित नहीं होती। यह न तो मात्र शैली की करतब होती है और न चौंकाने वाले विषयों तक सीमित होती है। हां कुछ देर तक ऐसा आभास भले ही पैदा हो सकता है, किन्तु सच्ची नवीनता अंततोगत्वा समष्टिगत एवं सामूहिक संवेदनशीलता का हिस्सा बन जाती है और नव-युग के नवीन संवेदन को अभिव्यक्ति प्रदान करने लगती है। यहां साहित्यिक नवीनता का सम्बन्ध व्यक्तिनिरपेक्ष बनकर युग-सापेक्ष हो जाता है। व्यक्तिसापेक्ष्यता से व्यक्तिनिरपेक्ष्यता तक पहुँचने के लिए साहित्यिक नवीनता को प्रथमतः परम्परा की स्थिर व्यवस्था के साथ जूझना पड़ता है, असंगति निर्माण होती है और पश्चात् परम्परा समेत अपने में उचित बदल के बाद पूर्वव्यवस्था के साथ सुसंगति पैदा की जाती है। इस प्रक्रिया का पहला स्तर किसी वस्तुनिस्ठ संदर्भ में व्यक्तिगत प्रतिभा से सम्बन्धित होता है और दूसरा स्तर परम्परा के सन्दर्भ में समष्टिगत प्रतिभा से सम्बन्धित होता है। इसलिए साहित्यिक नवीनता परम्परा को जीवित रखने के लिए आवश्यक होती है। नवीनता के आगमन के साथ पारंपरिक साहित्य, के पुर्नमूल्यांकन की आवश्यकता प्रतीत क्यों होती है, इसका रहस्य परंपरा और नवीनता के संबन्धों में खोजा जा सकता है। इस चर्चा का निष्कर्ष यह निकलता है कि साहित्यिक-नवीनता अपने आप में दीर्घायुषी

नही होती, परम्परा के साथ सम्मिलित होकर स्थायित्व प्राप्त कर लेने की इसकी प्रमुख प्रवृत्ति होती है । अत नवीनता और परम्परा परस्पर पूरक एव पोषक होती है । 'परम्परा मे बदल की स्थिति का निर्माण जब होता है तब नवीनता का साक्षात्कार होता है और नवीनता को आत्मसात कर लेने पर जो बच जाता है, वह परम्परा होती है ।'[*]

साहित्य इतिहास के विकास के किसी विशिष्ट बिन्दु पर साहित्य क्षेत्र मे क्राति उपस्थित होती है। इसका सीधा अर्थ होता है कि साहित्य म नवीनता का उदय होता है । हिन्दी के कहानी–साहित्य म नई कहानी का उदय साहित्यिक नवीनता का ही उदय है । इसलिए कहानी साहित्य के क्षेत्र म प्रायोगिक स्तर पर उसी नवीनता की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ जिसका जिक्र हमने सैद्धातिक स्तर पर किया है । नई कहानी क निर्माण के कारणो की जांच *साहित्यिक क्राति के सन्दर्भ म यदि की जाये तो नई कहानी का परिपार्श्व, अनुभवो के सन्दर्भ आदि का सैद्धान्तिक स्वरूप स्पष्ट हो सकता है । विशिष्ट साहित्यिक क्राति मे नवीनता का क्या स्वरूप हो सकता है इसे समझने के लिए क्राति के* स्तरो को समझना आवश्यक है । 'नई कहानी के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए साहित्यिक क्राति के सैद्धान्तिक रूप को हम परखना चाहगे ।

क साहित्यिक क्रांति : स्वरूप की तीन स्थितियाँ

साहित्य की विशिष्ट विधा मे उदित नवीनता के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत विधा म घटित क्रान्ति की उन स्थितियो को समझना आवश्यक है जो क्रातिपूर्व और क्रातिगर्भ काल मे दिखाई देती हैं ।

क्रांतिपूर्व काल मे साहित्यिक परिस्थिति

क्रातिपूर्व काल मे प्रत्यक्ष साहित्य के क्षेत्र मे कई दोष और विकृतियां निर्माण हो जाती हैं । कही साहित्यिक विधाओ मे शैलीगत स्थिरता निर्माण होकर दिनोदिन एक रसता पैदा होने लगती है, तो कही आशय के सन्दर्भो मे स्थितिशीलता पैदा हो जाती है जिससे आशयान्तर्गत नवीन उद्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं । *साहित्यकारो की सवेदनशीलता शिथिल, इकहरी और सपाट बन जाती है । इस सबका परिणाम यह होता है कि साहित्यिक गतिविधि या तो अपने आप मे घूम फिर कर एक ही दायरे मे फँस जाती है या नही तो स्थिरता के रोग का प्रतिकार करने मे असमर्थता का अनुभव करते हुए क्षीण बनती* चली जाती है । ऐसे समय साहित्यिक नवीनता उक्त परिस्थितियो के दोषो से

संघर्षरत होकर साहित्य को रोगमुक्त करने के प्रयत्नों में लग जाती है। स्पष्ट है कि संभाव्य नवीनता का स्वरूप नवीनता के उन प्रयत्नों के स्वरूप पर निर्भर करता है जिनके द्वारा स्खलनशील साहित्य को रोगमुक्त करने की प्रक्रिया आरंभ होती है। इस प्रकार क्रान्तिपूर्व काल में साहित्य की भूमि अधिकाधिक बंजर बनती चली जाती है, उसकी सारी उर्वरता समाप्त हो जाती है।

२. क्रांतिगर्भ काल में सामाजिक यथार्थ

साहित्यिक नवीनता अर्थात् साहित्यिक क्रांति के पनपने के लिए क्रांतिगर्भ-काल में सामाजिक यथार्थ का क्रांतिपूर्व साहित्यिक परिस्थितियों के साथ विसंवादित्व स्थापित होने लगता है। जैसे-जैसे क्रांतिगर्भ सामाजिक संदर्भ क्रांतिपूर्व साहित्य बोध के विरोध में पड़ते जाएँगे वैसे-वैसे साहित्यिक नवीनता को फैलने का अवसर मिलता जाएगा। क्रांतिपूर्व साहित्यिक संदर्भ और क्रांतिगर्भ सामाजिक संदर्भ इन दोनों के बीच तनावों के कारण क्रांतिगर्भ सामाजिक संदर्भ क्रांतिपूर्व साहित्य-संदर्भ को नकारने लगते हैं। क्रांतिपूर्व साहित्य का बदलते सामाजिक यथार्थ से नाता टूट जाता है जिससे दोनों संदर्भों के बीच गहरी खाई निर्माण हो जाती है। साहित्यिक क्रांति के प्रसरण के लिए उक्त खाई जितनी अधिक चौड़ी होगी, उतनी मात्रा में क्रांति की तीव्रता बढ़ती जाएगी।

३. क्रांतिगर्भ काल में श्रेष्ठ लेखकों की उपस्थिति

वैसे साहित्यिक क्रांति की उद्भावना में श्रेष्ठ लेखकों की उपस्थिति गृहीत तत्व है। बिना श्रेष्ठ लेखकों की उपस्थिति के साहित्य में नवीनता का आगमन ही संभव नहीं किन्तु श्रेष्ठ लेखकों का विशिष्ट क्रांतिगर्भ काल में उपस्थित रहना कुछ हद तक संयोगाधीन भी है। श्रेष्ठ लेखक-व्यक्तित्वों की निर्मिति बहुत कुछ हद तक बाह्य परिस्थितियों पर आधारित होती है पर व्यक्तिगत प्रतिभा की ऊँचाई कहीं न कहीं जन्मजात ही होती है इसे भुलाया नहीं जा सकता। इस हद तक साहित्यिक क्रांति का जन्म संयोग पर निर्भर होता है इसमें कोई शक नहीं। साहित्य में क्रांतिजन्य परिस्थितियों के होकर भी यदि आला दर्जे के लेखकों की कमी हो तो क्रांति की उद्भावनाएँ क्षीण हो जाती है। इसका अर्थ कदापि यह नहीं कि साहित्यिक क्रांति के सारे सूत्र और संपूर्ण श्रेय कुछ सीमित व्यक्तियों के हाथों सौंपा जाता है। यदि ऐसा होगा तो क्रांति का प्राणभूत समष्टितत्त्व ही समाप्त हो जायगा ! क्रांति मूलतः सामूहिक एवं व्यक्ति निरपेक्ष होती है। इसलिए कई बार यह देखा गया है कि साहित्यिक

क्रांति का बीज बोने वाले लेखकों का व्यक्तित्व इतना ऊँचा नहीं होता जितना उनके परवर्ती लेखकों का होता है। हाँ, क्रांतिगर्भ काल में इन छोटे लेखकों द्वारा सृजन की विविध दिशाओं का सूत्रपात किया जाता है, और अभिव्यक्ति के नए साधन ढूँढ़े जाते हैं। कलात्मक निर्मिति की क्षमता इन लेखकों की साधारण-सी होती है, पर इनके द्वारा सशोधित साहित्यिक सभावनाए आगे आने वाले सशक्त लेखकों के द्वारा श्रेष्ठ कृतियों में परिणत हो जाती हैं। साहित्य में हर नए मोड पर निर्मित रचनाओं का यदि अभ्यास किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो सकती है। हाँ यह सही है कि यदि साधारण दर्जे के लेखकों की प्रयोगशीलता के प्रयत्नों को श्रेष्ठ लेखकों का साथ न मिले तो ये सारे प्रयोग अपनी जगह कुलबुलाकर मुरझा जाते हैं। इसलिए क्रांतिगर्भ काल में प्रतिभावान् लेखकों की उपस्थिति आवश्यक होती है जो कुछ हद तक सयोगाधीन है और कुछ हद तक परिस्थितियों का अनिवार्य फल है। उक्त दोनों प्रकारों के लेखकों का प्रयत्नशील एव गतिशील रहना साहित्यिक क्रांति की सफलता का रहस्य है। उक्त चर्चा में हमने जहाँ असमर्थ और समर्थ लेखकों का जिक्र किया है वहाँ यह जरूरी नहीं है कि समर्थ और असमर्थ लेखक दो जुदे-जुदे व्यक्ति हों। कई बार एक ही लेखक अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अपरिपक्व हो सकता है और वही अपनी प्रौढ़ावस्था में समर्थ लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। स्पष्ट है कि साहित्यिक परम्परा अपनी गत्यात्मकता को बनाए रखने के लिए ऐसे संघर्षशील लेखकों का स्वागत करती है। क्योंकि परम्परा को तोड़ने वाले ही परम्परा को जिन्दा रख सकते हैं। इस प्रकार परम्परा नवीनता से सम्बद्ध हो जाती है। नवीनता के सबध में हमारी चर्चा के कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं

ङ. निष्कर्ष

(१) सही अर्थ में साहित्यिक नवीनता साहित्य इतिहास के विकास क्रम में विशिष्ट क्रान्तिकारी मोड पर अनिवार्यत प्रकट होती है, वह कृति का अगभूत अवयव होती है। यह न तो आनुषगिक होती है और न नुमायशी स्टंटों तक सीमित होती है।

(२) साहित्यिक नवीनता प्रथमत व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध होती है पर अन्ततोगत्वा व्यक्ति निरपेक्ष बनकर समष्टिगत साहित्यिक तथ्य बनकर रह जाती है।

(३) साहित्यिक नवीनता की उद्भावना साहित्य में आन्दोलन-सदृश परिस्थितियों को निर्माण कर देती है अत साहित्यिक क्रांति और नवीनता

एक ही अर्थ की दो समानधर्मी संकल्पनाएँ हैं।

(४) साहित्यिक नवीनता अर्थात् साहित्यिक क्रांति के लिए साधारणतः निम्न तीन तथ्यों का होना आवश्यक है :

(i) क्रान्तिपूर्व काल में स्थिर एवं स्खलनशील साहित्यिक परिस्थिति।

(ii) क्रांति गर्भकाल में सामाजिक यथार्थ का क्रांतिपूर्व परिस्थितियों के साथ विसंवादित्व।

(iii) क्रान्तिगर्भ काल में सशक्त लेखक-व्यक्तित्वों की उपस्थिति।

(५) नवीनता प्रथमतः परम्परा को नकारती है और पश्चात् परम्परा का हिस्सा बन जाती है जिससे साहित्यिक परम्परा की गतिशीलता बनी रहती है।

इ. नवीनता और आधुनिकता : एक समानांतर रेखा

साहित्यिक परंपरा और नवीनता के सम्बन्धों की जांच करने से जो निष्कर्ष हाथ आए हैं उनसे एक तथ्य स्पष्ट हो रहा है कि ये संबंध कार्य-कारणभाव के मूल तत्त्व पर आधारित होते हैं। साहित्यिक आन्दोलनों के प्रत्येक मोड़ पर प्रथमतः सामाजिक संदर्भ और साहित्यिक संदर्भों के बीच विसंवादित्व स्थापित होकर दोनों के बीच तीव्र तनाव निर्माण होने लगते हैं और फलतः पुराने साहित्यिक मूल्यों पर नवीन मूल्यों का आक्रमण होकर नवीनता की स्थापना होती है। हिन्दी के कहानी-साहित्य में साधारणतः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी 'नई कहानी' के रूप में प्रतिष्ठित हुई। नई कहानी का उदय उन तमाम स्थितियों का साक्षी रहा है जो साहित्यिक आन्दोलनों की अनिवार्य पृष्ठिका होती है। नई कहानी के आगमन—पूर्व हिन्दी कहानी की संवेदनशीलता किस प्रकार स्थिर एवं स्खलनशील हो गई थी इसका तफसिलवार ब्योरा हमने पिछले अध्याय में दिया ही है। एक ओर पुराने दौर की हिन्दी कहानी स्थितिशील, इकहरी और सपाट बनकर मृत हो रही थी तो दूसरी ओर तत्कालिक सामाजिक परिस्थितियां निहायत तेजी से बदल रही थीं और इस बदलाव से सामाजिक यथार्थ के जो संदर्भ उभर रहे थे इनमें और पुराने दौर की संवेदनशीलता में विविध स्तरीय तनाव पैदा हो रहे थे। वैसे इस संघर्षशील स्थिति के लिए केवल यहां की परिस्थितियां ही जिम्मेदार नहीं थीं, इस संघर्ष का सूत्रपात विश्व के कई प्रगत देशों में कई दशकों पहले आरंभ हो चुका था। हमारे यहां यह उन्मेष कुछ देर बाद प्रकट हुआ। इसके कई कारणों में एक प्रमुख कारण हमारी गुलामी थी। अतः पुनर्जागरण की यह लहर हमारे यहां बीसवीं शताब्दि के उदय के साथ धुंधली थी पर स्वतं-

त्रता के बाद व्यापक और स्पष्ट हो गई।

विश्व साहित्य के विकास-क्रम मे परपरा और नवीनता के अनिवार्य संघर्षो के कारण साहित्य इतिहास ने कई आन्दोलनो को देखा है। भारतीय साहित्य मे भी ऐसे क्रान्तिकारी मोड देखे जा सकते हैं इसलिए भारतीय साहित्य मे नव-साहित्य का उन्मेष अपने आप मे वैसा अनूठा या अपूर्व नही है। किन्तु इसमे कोई शक नही कि इस शताब्दि के उत्तरार्द्ध में भारतीय *साहित्य में और विशेष रूप से हिन्दी साहित्य मे जो आमूलाग्र परिवर्तन बड़ी* तेजी से उपस्थित हो रहे हैं, वे मिसाल हैं। अत सन् १९५० के बाद का हिन्दी साहित्य केवल नवीन ही नही है वह आधुनिक भी है। हमारी दृष्टि मे नवीनता सापेक्ष सकल्पना है पर आधुनिकता केवल वर्तमान युग की देन है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आधुनिकता की सकल्पना अपने आप मे कोई मूल्य नही है, वह प्रक्रिया मात्र है। किन्तु वर्तमान युग की आधुनिकता अब तक के सास्कृतिक विकास मे अपूर्व है, विशिष्ट है। अत *हमने वर्तमान युग की आधुनिकता को विशिष्ट अर्थ से सीमित किया है।* शायद इसीलिए वर्तमान साहित्य मे नवीनता का विचार करते समय हम कई बार आधुनिकता (माडरनिटी) को सूचित करते हैं। हम नवीनता (नाव्हेल्टि) और वर्तमान आधुनिकता के अतर को स्पष्ट करने के लिए अपनी चर्चा को अधिक तवील नही करना चाहेंगे। केवल इतना ही कहना चाहेगे कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की नवीनता 'अपूर्व नवीनता' है जिसे हम आधुनिकता के नाम से सबोधित करते हैं। *वर्तमान युग की अपूर्व आधुनिकता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि वर्तमान आधुनिकता के प्रति वर्तमान-मनुष्य जितना* सचेत रहा है उतना शायद कभी नही रहा होगा।

वैसे 'प्रत्येक युग अपने समय मे आधुनिक रहा है, लेकिन शायद कोई भी युग अपने आधुनिक होने के प्रति इतना सचेत नहीं रहा है जितना कि वर्तमान युग। काल के प्रवाह की चेतना तो मध्ययुग को भी रही है, लेकिन मध्ययुग ने काल के प्रवाह को भव-प्रवाह माना है, मिथ्या रूपाकारो का परिवर्तन प्रवाह, और उसके मुक्त होने की चेष्टा की है, *उसमे उलझने की नहीं।*'[1] पिछले सारे युगो का शायद लक्ष्य ही यही रहा है कि प्रत्येक बदल को वहाँ कालातीत माना गया और अपने युग को निरपेक्ष रखा गया। मध्ययुग मे युग को झकझोरने वाली कई स्थितियाँ निर्माण हुई किन्तु मध्ययुग ने अपनी समाधि भग नही होने दी, न उसने किसी भी सास्कृतिक सकट-बोध का अनुभव किया। किन्तु वर्तमान युग में शायद पहली बार यह अनुभव किया जा रहा है कि

अतीत से चली आई सारी व्यवस्थाएँ डामाडोल हो रही हैं, आध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक वित्तियों में बड़े-बड़े छेद पड़ रहे है। जैसे-जैसे परंपरागत जीवन मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है वैसे-वैसे युग को संकट-बोध की तीव्र अनुभूति हो रही है। प्रायः आधुनिकता का बोध और सांस्कृतिक संकट-बोध एक ही स्थिति के दो पहलू हों। आधुनिक युग का संकट इतना व्यापक है कि जीवन के केवल किसी एक पहलू को इसका सामना नहीं करना पड़ रहा है बल्कि धर्म, दर्शन, कला, भाषा आदि सभी क्षेत्रों में इस संकट का अनुभव किया जा रहा है। एक भयानक अराजक स्थिति का अनुभव करता हुआ वर्तमान युग अपने अन्तर्बाह्य परिवेश से जूझ रहा है। यह संकट केवल विविधांगी ही नहीं, 'बल्कि यह भी कि इस संकट की जो प्रकृति है वह इतनी जटिल है, कि एक संदर्भ में इतने संदर्भ उलझे हुए हैं, एक बिन्दु का विघटन इतनी दिशाओं को प्रभावित कर जाता है, एक प्रश्न के उठते ही इतने प्रश्न उठ जाते हैं कि मानों रक्तबीज का एक बिन्दु अगणित रक्त-बीजों को उत्पन्न कर देता हो।' ३

संकट-बोध की इतनी तीव्र और व्यापक अनुभूति शायद ही किसी युग को हुई होगी। यही कारण है कि वर्तमान युग आधुनिक चेतना के संदर्भ में अपना कोई सानी नहीं रखता। यह युग अपने इतिहास की तेज धारा को जानता है, समझता भी है, किन्तु साथ-साथ वह इसे कई स्तरों पर एवं विभिन्न दृष्टिकोणों से आत्मसात भी कर रहा है। विघटित मूल्यों की इस भयानक बदनजमी का अनुभव करता हुआ यह युग कालिक चेतना के संदर्भ में अपने दायित्व को भी पहचानने की कोशिश कर रहा है। पुराने युगों की तुलना में इस युग की यह एक खास विशेषता है कि यह आंतर्बाह्य प्रवाहों को झेलकर टूट नहीं गया है बल्कि निरंतर टकराहटों को सहता हुआ मानव नियति के भविष्य के संबंध में अपनी निर्णय-क्षमता का परिचय देता जा रहा है। कहा नहीं जा सकता कि इस युग के निर्णय गलत या सही साबित होंगे। इतना सही है कि वर्तमान युग निष्क्रिय, निरपेक्ष एवं तटस्थ नहीं रहा है और न रह सकेगा। मूल्यों के विघटन का बोध और समसामयिकता का दायित्व इस युग को अन्य युगों से विशिष्ट अर्थ में आधुनिक बनाते हैं।

वर्तमान युग की उक्त सचेतन स्थिति का प्रमुख कारण क्या है? क्या कारण है कि यह युग संक्रमण की स्थितियों से गुजरता हुआ क्रांति की संभावनाएँ निर्माण कर रहा है? एक ही युग में संक्रांति और क्रांति के तत्त्वों का इतना तीव्र साक्षात्कार वर्तमान युग में ही क्यों हुआ है? इन प्रश्नों का स्पष्ट

उत्तर है कि इस युग ने अपने मस्तिष्क को सदैव जागृत रखा है, प्रत्येक घटना का बौद्धिक समाधान ढूंढने की कोशिश की है। इस युग ने अन्धी श्रद्धा का पल्ला नही पकडा बल्कि विवेक की खुली आँख से बदलते सदर्भो को परखना चाहा है। तेजी से ढहती मूल्यो की दीवार के नीचे यह युग दबा नही क्योकि इसके हाथों बौद्धिक दृष्टिकोण के शस्त्र हैं जिनके द्वारा युग सापेक्ष्य जीवन मूल्यो का सरक्षण एव नव निर्माण किया जा रहा है। यही कारण है कि जब जब पवित्र चेतना की आस्था को तार्किक चेतना के विवेक ने अपदस्थ किया है तब तब आधुनिकता की झिलमिलाहट हुई है। पहले यह सीमित थी, और आज (= वर्तमान) बहुव्यापी है। "इस अर्थ मे आधुनिकता को बौद्धिकता एव तर्कशीलता के साथ जोडना पडता है। इसीलिए आधुनिक युग के सम्मुख सबसे बडा प्रश्न है चुनाव का—पुरानी जीवन प्रणाली और व्यावहारिक दृष्टि के बीच चुनाव का। दूसरे शब्दो मे यह कहें तो गल्त नही होगा कि इस युग को इतिहास और वर्तमान मे से 'प्रामाणिक' की खोज करनी है–ऐसे प्रामाणिक की जो वर्तमान और भविष्य के मानव-जीवन की आधारभूमि हो सके। ऐसे प्रामाणिक का चुनाव इतना सरल नही है, शायद इसीलिए युग को बहुत बडे सकट का सामना करना पड रहा है। कहना नही होगा कि हमारा आधुनिक साहित्य इसी सकट-बोध का तीव्रता से अनुभव कर रहा है। नया साहित्य और सकट-बोध साथ साथ चल रहे हैं। नव साहित्य मे सकट-बोध की स्थिति जहाँ इस युग की तर्कशीलता मे खोजी गई है, वहाँ तर्कशीलता का उदय विज्ञान के नित–नये अनुसधानो का फल है इसे भी हम जानते हैं। अत आधुनिक साहित्य की सवेदनशीलता वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सचलित है इसमे कतई सदेह नही है। आधुनिक साहित्य मे क्रातिजन्य स्थितियो का होना समाज जीवन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अनिवार्य फल है। एक और मध्ययुगीन साहित्य बोध एव जीवन बोध की आखिरी सासो को सुनने वाला और दूसरी और विज्ञान पर आधिष्ठित विवेकशील जीवन बोध को ग्रहण करने वाला आधुनिक समाज आधुनिक साहित्य के लिये पोषक भूमि का निर्माण करता जा रहा है। आधुनिक साहित्य में क्राति की उद्भावनाएँ बढ रही हैं इसका प्रमुख कारण यही है कि क्रांतिपूर्व और क्रातिगर्भ स्थितियों के बीच तनाव निर्माण हो रहे हैं। आधुनिक साहित्य का सामाजिक परिवेश उसके अनुभवो का सदर्भ बनकर अभिव्यक्त हो रहा है। नई कहानी, चूकि आधुनिक साहित्य का लक्षणीय उन्मेष है, इसके अनुभवो के सदर्भ वर्तमान सामाजिक यथार्थ मे खोजे जाने चाहिये। वर्तमान सामाजिक यथार्थ की पृष्ठिका मे वैज्ञानिक दृष्टि-

कोण ही एकमेव प्रेरक तत्त्व है इसे नकारा नहीं जा सकता । समाज जीवन के विविध पहलुओं में दृष्टिकोण का बदलू उक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही अनिवार्य फल है । अतः आधुनिक साहित्य की संवेदनशीलता के अनुभवों के संदर्भों को खोजने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रभावों को समझना जरूरी है और यह भी जाँचना जरूरी है कि वैज्ञानिक दृष्टि का वर्तमान साहित्य पर तथा नई कहानी पर कैसा प्रभाव पड़ा है ।

उ. विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिक साहित्य के संदर्भ में

इसमें कोई शक नहीं कि आधुनिक युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना विज्ञान का उदय ही है । विज्ञान के उदय ने इस युग के जीवन-बोध को मंत्र दिया है और वर्तमान समाज जीवन के प्रत्येक अंग को प्रभावित किया है । विज्ञान का उदय से हमारा तात्पर्य केवल उन आविष्कारों से नहीं जो नित-नये प्राकृतिक सूत्रों को सुलझाते हैं और मानव के लिए सुख-चैन के साधनों की निर्मिति करते हैं । वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मनुष्य जीवन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिवर्तन लक्षित होता है, किन्तु जीवन-मूल्यों में परिवर्तन आता है वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने से । वैज्ञानिक आविष्कारों का इतिहास काफी पुराना है पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन का अर्थ ढूँढ़ने की प्रवृत्ति इसी युग की देन है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण बोध-एवं मूल्यों के स्तर पर आमूलाग्र परिवर्तन हुए हैं । इस दृष्टिकोण के कारण न केवल रहन-सहन, खान-पान के तरीके ही बदले हैं बल्कि आन्तरिक स्तर पर जीवन की प्रत्येक घटना का अर्थ ही बदल गया है । लगता है मानवी-जीवन-दृष्टि में मूलगामी बदल हुआ है ।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण सबसे अधिक आहत हुआ है धार्मिक दृष्टिकोण । मध्ययुगीन जीवन दृष्टि में धर्म केन्द्रीय सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित था । जीवन के प्रत्येक पहलू का नियंत्रण धर्म के सशक्त हाथों में था । इसलिए जीवन की प्रत्येक समस्या का हल धर्म-मूल्यों में खोजा गया । धर्म ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रखता था । धर्म की दृष्टि में यह संसार किसी अज्ञात पारलौकिक शक्ति से संचलित स्वप्नवत् मायाजगत् का क्षणभंगुर आविष्कार था । अतः संसार के मनुष्य और उनसे निर्मित मानवीय समाज इहलौकिक एवं भौतिक शक्तियों पर कतई विश्वास नहीं करता था । 'योगक्षेमम् वहाम्यहम्' कहने वाले भगवान पर उसकी अटूट आस्था थी । फलतः मध्ययुगीन समाज अपने प्रति उदासीन, भौतिक आकर्षणों के प्रति निष्क्रिय, भाग्य और भगवान पर अवलंबित रहा । उस युग के विभिन्न धर्मों ने मानव मुक्ति के विविध मार्ग ढूँढ़ निकाले थे, उनमें काफी वैविध्य भी रहा है पर कहीं न कहीं ये सारे मार्ग उस एक बिन्दु पर आकर एक हो जाते थे जहाँ किसी अनाकलनीय आदर्श एवं पार-

लौकिक सत्ता की शक्ति को स्वीकृत कर लिया जाता था और मानव की सारी सुप्त अतर्शक्तियो को उस शक्ति के सम्मुख समर्पित कर दिया जाता था । सन्तो ने पूर्णतः तो नही, किन्तु धार्मिक आडवरो से निर्मित सामाजिक विषमता की कृत्रिम वेदी को तोडने का प्रयत्न किया जरूर, पर अन्ततोगत्वा सन्तवाणी ने भी मनुष्य की ऐहिक शक्तियो की भर्त्सना ही की और बार-बार एकमेव तथ्य को रटन्त लगाई कि *यह दृश्य-सृष्टि असत्य है, भ्रम है जिसके पाशों से मुक्त* होना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है । पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सत्य असत्य की व्याख्याएँ 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' की केन्द्रीय धुरा से चिपक कर ही की गईं ।

विज्ञान के उदय के साथ ही धर्म प्रेरित आधिभौतिक शक्तियो का सवाल शुरू हुआ । विज्ञान ने भौतिक विश्व का विश्लेषण किया और सिद्ध कर दिया कि यह सृष्टि स्वप्न नही है, *सत्य है । इस सृष्टि की अनत सुप्त शक्तियो की* खोज करके मानव कल्याण के लिए उनका उपयोग किया जाने लगा । विज्ञान ने धर्म के किसी भी आदेश का आँख मूँदकर पालन नही किया । उसने प्रत्येक श्रद्धा-मूल्यो के सम्मुख प्रश्नचिह्न लगाए और यह सिद्ध कर दिया कि यह सृष्टि किसी पारलौकिक शक्ति की निर्मित नही है, बल्कि उसकी निर्मिति के *अपने नियम हैं । इस सृष्टि पर पैदा होने वाली जीव-सृष्टि भी विशिष्ट नियमो* से जन्म लेती है, विकसित होती है और नष्ट हो जाती है । मनुष्य, चूँकि इसी सृष्टि के विशिष्ट यात्रिक नियमो का आविष्कार है, अपने लिए अपना समाज बनाता है, अपनी नीति बनाता है । सत्-असत् की पाप-पुण्य की नीति अनीति की कोई पारलौकिक एव आधिभौतिक व्याख्याएँ नही हो सकती बल्कि जब इन *व्याख्याओ की जरूरत मानव समाज को नहीं रही है*, उसने इन्हे बदल दिया है । अत जीवन मूल्यो का कोई शाश्वत आधार नही है, न उनका कोई स्थायी आदर्श भी है । वैज्ञानिक दृष्टि के कारण 'विश्वास के बजाय परीक्षण, श्रद्धा की जगह तर्क, आस्था की जगह विश्लेषण पर बल दिया जाने लगा, जिसकी निश्चित परिणति यह हुई कि मानव नियति के विषय मे हमारी मध्ययुगीन धारणा बिल्कुल बदल गई ।'[6] इस सबका परिणाम यह हुआ कि मानव का मूल्य बढ गया और मानवेतर सारी शक्तियो का मूल्य घट गया । 'धर्मेहि तेषा अधिको' विशेषो की बजाय 'बुद्धि तेषा अधिको विशेषो' का विधान चरितार्थ होने लगा । वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण नैतिकता ईश्वर-परक न रहकर मानव-सापेक्ष बन गई । *नैतिकता के मूल्य मानव सापेक्ष बनते ही मानव के* सुख दुखो की धारणाएँ बदल गई । हमे एक जमाने मे सुख प्रदान करनेवाली घटनाएँ एव स्थितियाँ शायद अब सुख नही दे रही हैं । हमारी चिंता के विषय

बदल गए हैं। सोचने-समझने की प्रक्रिया की दिशा ही बदल जाने के कारण अववोधन का स्वरूप परिवर्तित हो गया, जिससे हमारी संवेदना का रूप बदल गया है। परम्परागत आदर्शों के स्वरूप बदल गए हैं, पुरानी सारी व्याख्याएँ हास्यास्पद लगने लगी हैं।

विज्ञान के कारण हम प्रकृति की नयी परिकल्पनाएँ करने लगे हैं। अनुसंधान और परीक्षण की प्रक्रिया से भौतिक और जैविक-विज्ञान की कई उपलब्धियाँ सामने आईं। इन विज्ञानों ने मनुष्य प्राणी के विकास की प्रक्रिया को एक यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में सिद्ध किया। जड़ से चेतन की उत्पत्ति, पदार्थ और अणु का संबंध, मानव शरीर की एवं मस्तिष्क की यांत्रिक रचना आदि अनुसंधानों के कारण मानव और मानवीय समाज की संपूर्ण गतिविधियाँ किसी निश्चित यांत्रिक नियमों से नियंत्रित की जाती हैं, यह वैज्ञानिक तथ्य सामने आया। मन भी एक यंत्र है, और बाहरी प्रभावों को नियंत्रित करके उसकी सभी क्रियाओं को अनुशासित और निर्दिष्ट किया जा सकता है, तो नैतिक बोध भी केवल एक यंत्रशासित कल्पना है। कोई मूल्य आत्यंतिक मूल्य नहीं है' विज्ञान के द्वारा सिद्ध किये गए इन तथ्यों के कारण वर्तमान समाज एक विराट विघटन और संकट का अनुभव करने लगा है। इसके भी आगे बढ़कर रिलेटिविटी क्वान्टम, इलेक्ट्रान, थ्योरी ने ब्रह्माण्ड को एक विराट मस्तिष्क के भांति विश्लेषित करके यह सिद्ध किया है कि मनुष्य अपनी आंतरिक वैयक्तिकता को बाह्य परिवेश से जोड़कर इसी वर्तमान में अपनी नियति का साक्षात्कार कर सकेगा। न 'मानुपात् श्रेष्ठतरम् हि किंचित्' इस उक्ति को संपूर्ण सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के स्तर तक वर्तमान समाज पहुँच गया-सा लगता है। वर्तमान समाज की इस बदलती स्थिति का एहसास स्वभावतः संवेदनशील लेखक को सबसे अधिक होता है।

एक ओर पारंपरिक मूल्यों का तेजी से होता हुआ विघटन और दूसरी ओर विज्ञानाधिष्ठित नये मूल्य-बोध का उदय इन दोनों के बीच चुनाव की सतत् प्रक्रिया में से गुजरता हुआ संवेदनशील लेखक अपनी आंतरिक वैयक्तिकता को नये मूल्यों के साथ जोड़कर जीवन के यथार्थ को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के प्रयत्न में लगा हुआ है। पिछले पचास वर्षों का साहित्य इसका साक्षी रहा है।

च युद्धोरपान्त स्थिति और मानविकी शास्त्रों का रुख साहित्य के संदर्भ में

विज्ञान के कारण मानव मानसिक गुलामी से मुक्त होने के सपने देख

रहा था और इधर सामाजिक स्तर पर मानवजाति को आर्थिक गुलामी से मुक्त कराने का क्रांतिकारी मंत्र दिया कार्लमार्क्स ने । मानवीय सुख दुःखों का विश्लेषण भाग्य और भगवान के अनाकलनीय तत्त्व पर करने की मध्ययुगीन श्रद्धा को मार्क्स ने धक्का पहुँचाया और सिद्ध किया कि मानवीय सुख-दुःखों का मूल आर्थिक विषमता है । दुनियां में संपत्ति निर्माण के साधन जो कुछ ही इने गिने व्यक्तियों के हाथों हैं, निकालकर समाज मे समान रूप से बाँट दिए जाएँ तो सामाजिक विषमता दूर हो सकती है । इसके लिये बहुजन समाज को सघटित होना चाहिए और अपनी सामूहिक शक्ति के बल पर समाज में आन्दोलन के द्वारा समता को स्थापित करना चाहिए । इस साम्यवादी क्रांति मे सीमित सत्ताधारियों को नष्ट करने की इजाजत थी । इस प्रकार मार्क्स ने मनुष्य के आगामी विकास का बड़ा ज्योतिर्मय चित्र उपस्थित किया । मार्क्स ने धर्म को अफीम की गुटिका कहा और उस की नैतिकता को एक बुर्जुआ ढकोसला कहकर धर्म की निर्भर्त्सना की । वैज्ञानिक मशीनों का कार्य जिस प्रकार विशिष्ट यांत्रिक नियमों पर चलता है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन भी अपने यांत्रिक नियमों के अनुसार गतिशील बना रहता है । जैसे मशीन पूर्वनिर्धारित परिणामों के अनुसार चलकर निश्चित फल देती है उसी प्रकार सामाजिक क्रांति निश्चित फल देगी ही । इस प्रक्रिया पर मार्क्स की श्रद्धा थी ।

इधर 'नित्शे' जैसा एक दार्शनिक, 'बीआड गुड एंड इविल' जैसी 'अच्छे बुरे से परे' की आदर्श वैज्ञानिक संकल्पना को प्रस्तुत कर चुका था। उसका सिद्धान्त यह था कि जैविक विकास क्रम मे आधुनिक मनुष्य एक शक्तिशाली स्थिति है। चूँकि विकास का क्रम रुकने वाला नहीं है इसलिए मनुष्य का विकास इस स्थिति को लाँघकर 'सुपरमैन' की स्थिति तक निश्चित रूप से पहुँचेगा ही । 'सुपरमैन' की स्थिति मे मनुष्य सबसे अधिक सशक्त और संपूर्ण होगा । कोई दूसरी शक्ति उसके मुकाबले मे खड़ी नहीं रह सकेगी । वह विश्वनियंता बनेगा । पाप और पुण्य जैसी संकल्पनाएँ उसकी नैतिकता को नियंत्रित नहीं कर सकेंगी ।

मार्क्स और नित्शे इन दोनों के दर्शनों म मानव समाज के उज्ज्वल भविष्य के प्रति एक निश्चयात्मक आस्था स्पष्ट दिखाई देती है । 'नित्शे ने कहा कि इस अराजकता मे से एक जगमगाते नक्षत्र का उदय होगा, यानी 'सुपरमैन', और मार्क्स ने कहा यह वर्ग संघर्ष का अंतिम मोर्चा है, बस एक कदम और, और उसके बाद सब ठीक हो जाएगा ।'[10] किन्तु दार्शनिकों के ये सपने

सपने ही रह गये, सत्य में उतरे ही नहीं। विज्ञान दिनोंदिन भौतिक आविष्कारों से मनुष्य को अधिक स्वतंत्र बना रहा था, किन्तु दूसरी ओर अपने आधीन कर रहा था। दो महायुद्धों ने तो यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य के हाथों कितनी बड़ी विनासकारी शक्ति है। एक लहमे में हजारों वर्षों से संचित सांस्कृतिक धरोहर समाप्त कर दी जा सकती है, इसका बहुत कुछ प्रत्यक्ष महायुद्धों ने हमें कराया। युद्धोपरांत परिस्थितियाँ औद्योगिक पूँजीवाद को जन्म दे गयीं जिससे संपत्ति का बड़ी तेजी से केन्द्रीकरण हुआ। अमीर अधिक अमीर होने लगे और गरीब अधिक गरीब। प्रजातंत्र जैसी आदर्श राज्यव्यवस्था केवल किताबी चीज बनकर रह गयी। समता, बन्धुता, स्वतंत्रता जैसे नारे हवा में विलीन हो गए। मार्क्स और नीत्शे की सारी आशाएँ, घोषणाएँ और प्रगति के स्वप्न मुरझा गये। उल्टे ऐसी अमानुषिक स्थितियाँ पैदा हुई जिन्हें देखकर मध्ययुगीन गुलामी लजा जाये।

साम्यवाद का सफल प्रयोग करने की डींग मारने वाले राष्ट्र अपने शिविरों में व्यक्ति स्वतंत्रता का खून करने लगे। प्रजातंत्र और 'फ्री-कम्पटीशन' का नारा बुलंद करने वाले राष्ट्र साम्राज्यवाद के सशक्त पंजों में जनसाधारण को चूसने लगे। नतीजा यह हुआ कि इस संसार को अधिकाधिक पूर्णत्व की ओर ले जाने का संकल्प करने वाला मनुष्य कहीं आर्थिक विषमता के कारण, कहीं चिन्तन-परतंत्र्य के कारण दिशाहीन एवं प्रवाह-पतित बनकर रह गया है। विज्ञान के कारण विवेकशीलता का आग्रह करने वाला मनुष्य विवेकहीन बन गया है, इहलौकिक शक्ति पर श्रद्धा रखने वाला मनुष्य स्वनिर्मित ऐहिक शक्तियों के हाथों कठपुतली बन गया है, समाज-जीवन के अनेकविध स्तरों पर अन्तर्विरोध का अनुभव करता हुआ वह केवल यंत्र-मात्र रह गया है। संवेदनशील लेखक अपनी ओर लौट आया, एकान्तिक बन गया। आधुनिक साहित्य में मानव की इस एकान्तिकता के विविध स्तर स्पष्ट हो रहे हैं।

छ. भारतीय परिवेश की विशिष्टता : साहित्य के संदर्भ में

वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानविकी शास्त्रों की नवीन दृष्टि का परिणाम पाश्चात्य देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ इतना तीव्र नहीं रहा है किन्तु जैसे-जैसे यातायात के साधन बढ़ते जा रहे हैं और राजनीतिक शक्तियों में गुटबाजियाँ पैदा हो रही हैं, पश्चिम और पूर्व जैसे विभाजन गलत साबित हो रहे हैं। इसलिए देर से क्यों न हो, आधुनिक समाज-जीवन का अभिशाप हमें भी घेरे जा रहा है। तिसपर यहाँ की कुछ खास स्थितियाँ रही हैं जिससे

भारतीय साहित्य अछूता नहीं रह सकता था।

हमारे यहाँ आधुनिक साहित्य की पृष्ठभूमि का युग भीषण राजनीतिक उथल-पुथल का युग रहा है। युद्ध का प्रारंभ और समाप्ति के परिणामों के भयंकर आघात इस देश ने सहे हैं। मँहगाई, घूसखोरी, अकाल इन जैसी आपत्तियाँ हमने देखी हैं। इस अराजक मे से गुजर कर हमने स्वतत्रता प्राप्त कर ली और इस ऐतिहासिक आनद को देश के विभाजन ने एक झटके के साथ एक भयकर सत्रास और अवसाद मे परिणत कर दिया। हर शहर में हत्याएँ लूट और अत्याचार का साम्राज्य फैल गया था। शरणार्थियो के दल के दल इधर से उधर और उधर से इधर मृत्यु की छाया मे दौडने लगे थे। मानवता की मृत्यु को हम अपनी आँखो से देख रहे थे पर कुछ नही कर पा रहे थे। दया, करुणा, मानवता जैसे मूल्य समाप्त हो चुके थे। केवल जीवित रहने की बलवती इच्छा हमे जिला रही थी, जो समर्थ थे वे जी रहे थे और असमर्थ जीने की करुण अकुलाहट को भोग कर छटपटाते हुए अपने को मौत के हवाले कर रहे थे। 'पाकिस्तान मे अगर ईंट-चूने के मकान-जमीनो का ध्वस हुआ था तो इधर सारी मर्यादाओ, नैतिक मान्यताओ, अच्छे-बुरे की बडी-बडी ईमारतें गिरने लगी थी और अस्तित्व का सघर्ष एक बार फिर मनुष्य को उसके आदिम-स्तर पर उतर आने को मजबूर कर रहा था।'[११] देश के विभाजन ने जिस मारकाट और नरसहार का अनुभव किया उससे भले ही कुछ सीमित हिन्दुओ एव मुसलमानो को अपनी हद तक योग्य निर्णय का आनन्द हुआ हो, किन्तु उर्वरित बहुत बडा जन-समुदाय पराजय और अवसाद की भयकर स्थिति से जर्जर था। मानवजाति ने सास्कृतिक विकास के जिन मानव-मूल्यो को और विश्वासो को बनाए रखने की कोशिश की थी वे सब विश्वास रक्तपात एव ध्वस की विभीषिका मे जलकर भस्म हो गए।

भारतीय समाज ने देश विभाजन के जबरदस्त भौचाल को बहुत बडी कीमत देकर सहने की कोशिश की। इस अराजकता के बीच से गुजरने वाले भारतीय समाज के सम्मुख एक बहुत बडी आशा की ज्योति जगमगा रही थी—स्वतत्रता के रूप मे। हमे आशा थी कि चाहे कुछ भी हो अब हमारे बुरे दिन खत्म हो गए हैं। देश स्वतत्र हो गया है, हम अपने नियति के मालिक बन गए हैं, अब शोषण बन्द हो जाएगा। लोगो के राज्य मे लोगो का कल्याण होगा। भविष्य की ज्योतिर्मय परिकल्पना मे हम रँगे हुए थे, एक सपना सजो रहे थे। दुर्दैव इस देश का यह स्वप्न पूरा हुआ ही नहीं। स्वतत्रता की ऐतिहासिक घटना के साथ जुडा हुआ है। मोहभग का एक अध्याय जो शायद

आज तक भी समाप्त नहीं हुआ है। देश की स्वतंत्रता के साथ जिन नेताओं के हाथों देश की बागडोर सौंपी गई, वे स्वयं अपने दायित्व से हट गए। जिन्हें हम अब तक सच्चरित्र, साधु, आदर्शवादी और लोकनेता कहकर उनकी पूजा कर रहे थे वे दुराचारी, स्वार्थलोलुप और घूसखोर बन गए। चारों तरफ जातिवाद, कालाबाजार, बेईमानी और स्वार्थपरता का साम्राज्य फैल गया। आशावादी भारतीय समाज का भ्रम भंग हुआ, अपने ही से हम पराये हो गए।

देश की उक्त राजनीतिक अवस्था का परिणाम सारी जनता पर होना अनिवार्य था, जो होकर ही रहा। सामाजिक जीवन के प्रत्येक स्तर पर आधुनिक राजनीति का प्रभाव स्पष्ट है। स्वतंत्रता मिलने के पहले जो हिन्दुस्तानी अपनी नीम-जानकारी और अन्धी आस्था से प्रेरित होकर जिन्दाबाद-मुर्दाबाद के नारे लगाता था, आज आँख बन्द करके वोट देता है, दलबन्दियों का शिकार बनता है, राजनीति की तराजू पर चढ़ता उतरता है······उसमें तो केवल उस 'सूडो इन्टलेक्चुअल' की तस्वीर है, जो काल्पनिक अहं के कारण समस्त सामाजिक संदर्भों और परम्पराओं से कट गया है, वर्तमान पर जिसके पैर नहीं ठहरते और जो भविष्योन्मुखी होने में विश्वास नहीं करता।" ये सारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियाँ हैं जो आधुनिक लेखक के अनुभवों का संदर्भ बनकर सामने आती हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय, सामाजिक शास्त्रों का विश्लेषण, राजनीतिक स्थितियों का प्रभाव आदि ऐतिहासिक तथ्यों के कारण मानव-नियति का वर्तमान रूप बन रहा है। वह अच्छा है या बुरा यह प्रश्न अप्रस्तुत है, संवेदनशील लेखक इसे आविष्कृत कर रहा है।

आधुनिक साहित्यकार के अनुभवों के जो संदर्भ हैं, वही संदर्भ हिन्दी के नवीन कहानीकारों के हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी इसी परिवेश के बोध को संवेदना के स्तर पर झेल रही है और व्यक्त कर रही है। मूल्यों का विघटन, राजनीतिक अराजकता, विज्ञान के संकल्प आदि स्थितियों के बीच हमारा कहानीकार कई अन्तर्विरोधों का अनुभव कर रहा है। कभी वह अदम्य आशा से जीवन के विज्ञानाधिष्ठित भविष्य को चित्रित कर रहा है, तो कभी चरम निराशा से घिरा हुआ अपने एकांतिक स्वर को आलाप रहा है। कभी विद्रोह, कभी भड़कन, कभी चरम कड़वाहट के बीच से आज का साहित्य गुजरता रहा है, लेकिन इस खतरनाक यात्रा के बाद जो क्षितिज उसे मानवीय पूर्णता का दीखता है, उसके साक्षात्कार की राह, चाहे वह अभी न खोज पाया हो लेकिन वह एक ऐसी भूमि है जिसकी उपलब्धि आधुनिक युग की सबसे बड़ी

सार्थकता है ।

इस अन्तर्विरोध का आविष्कार करते समय नया कहानीकार विशिष्ट प्रकार की व्यक्तिगत-सामाजिकता को अभिव्यक्त कर रहा है । इसका अर्थ यह नहीं कि वह केवल बाह्य परिवेश से ही प्रभावित है । वह बाह्य परिवेश को मिथ्या नहीं मानता । वह अपनी व्यक्तिगत सार्थकता को सुरक्षित रखता हुआ, बाह्य परिवेश को नापता है । इस विशिष्ट सामाजिक-वैयक्तिकता के कारण नया कहानीकार अपनी आंतरिक श्रेष्ठता की उपलब्धि करना चाहता है और अपने परिवेश को सार्थकता देना चाहता है । वह न तो सामाजिकता से कटा हुआ है और न व्यक्तिगत खोल मे बद है ।

कहना नही होगा कि आधुनिक साहित्य की सपूर्ण प्रकृति ही बदल गई है । स्वाभाविक है कि आधुनिक साहित्य के मूल्याकन के मानदड भी बदल गए हैं । आधुनिक साहित्य अब किसी नीति-अनीति का प्रचार प्रसार नही करना चाहता न किसी राजनीतिक दल का प्रचार । नव-साहित्य को इससे कोई मतलब नही कि उसका प्रयोजन समाज-विधायक है या विरोधक नव-लेखक केवल अपने यथार्थ परिवेश को सवेदन के स्तर पर झेलता है और व्यक्तिगत स्तर पर उसके साथ सबध जोडता हुआ मानवीय-सबधो के अनेक स्तरो को अभिव्यक्त कर रहा है । स्पष्ट है नव साहित्य का मूल्याकन कथ्य के स्तर पर ही होना चाहिए । पुरानी परपरा के किसी चौखटे मे बैठने से आधुनिक साहित्य इन्कार कर रहा है क्योकि उसकी परिभाषा के सूत्र ही बदल गए हैं ।

नई कहानी की सवेदनशीलता का मूल्याकन उपर्युक्त चर्चा के आधार पर ही हम करना चाहेंगे ।

५. नई कहानी की संवेदनशीलता : वर्गीकरण और विश्लेषण

वर्गीकरण का आधार : नई जीवन-दृष्टि

पिछले अध्याय में हमने नई कहानी के परिपार्श्व का विश्लेषण करते हुए कहानीकारों के अनुभवों के संदर्भों का व्यौरा प्रस्तुत किया था। नई कहानी की संवेदनशीलता का मूल्यांकन करते समय उन सारे अनुभव-संदर्भों को ध्यान में रखना पड़ेगा, जिन्हें कहानीकारों की संवेदना आत्मसात कर चुकी है। विज्ञान के उदय से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का निर्माण, मानविकी शास्त्रों का विकास, युद्धोत्तर राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ आदि के कारण आधुनिक जीवन-दृष्टि में आमूलाग्र परिवर्तन उपस्थित हुए हैं। कलाकार इस बदलते दृष्टि को रचना के स्तर पर अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है। प्रत्येक देश की अपनी विशिष्ट जातीय परम्परा और ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिवेश के कारण उक्त दृष्टि का वहिर्गत रूप हर विशिष्ट स्थान के संदर्भ में अलग-अलग हो सकता है, किन्तु संसार के समूचे साहित्य में इन दिनों आधुनिक भाव-बोध की प्रक्रिया का समानांतर विकास देखा जा सकता है। ऐसे समय साहित्य को किसी निश्चित एवं स्पष्ट प्रकारों में विभाजित करना कठिन हो जाता है। जहाँ पूर्व और पश्चिम जैसा स्पष्ट विभाजन भी आधुनिक साहित्य के संदर्भ में भ्रांत एवं गलत साबित हुआ है, वहाँ एक ही परम्परा में प्रवाहित साहित्य-धारा को सुनिश्चित खानों में बाँटकर रख देना हास्यास्पद लगता है। फिर भी सही हो या गलत, साहित्यिक प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विभाजन प्रस्तुत करना आलोचना की अपनी मजबूरी है। देखना यही पड़ता है कि यह विभाजन मूलगामी हो और साहित्य की प्रेरणात्मक एवं प्रवृत्यात्मक विशिष्टता को सूचित कर सके। सतही विभाजन कई बार, बल्कि हर बार, हमें गलत निष्कर्षों की ओर ले जाता है, और साथ-साथ साहित्य में कृत्रिम तंत्रवाद को प्रश्रय मिलने लगता है।

नई कहानी के संबंध में, जब कि नई कहानी की प्रवृत्तियां स्पष्टतः उभर नहीं पाई थीं, जल्दबाज आलोचकों ने सतही वर्गीकरण पेश करने की कोशिश की थी। मजे की बात तो तब हुई, जब इन आलोचकों ने नई कहानी को पुरानी कहानी के वर्गीकरण का आधार लेकर विभाजित करना चाहा और जब नई कहानी ने उन कटघरों में फिट होने से इन्कार कर दिया, तब झट फैसला सुना दिया गया कि नई कहानी रूप के लिहाज से अनगढ़ और भाव के लिहाज से छिछरी और अस्पष्ट है, वह न तो चरित्र-प्रधान है, न घटना प्रधान। आज जब नई कहानी की प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः उभर गई हैं, यहाँ तक कि सातवें दशक की कहानी ने नया मोड़ भी इख्तियार कर लिया है, जल्दबाज आलोचकों के वे फैसले अपने आप बकवास और हास्यास्पद लगने लगे हैं। क्या कारण है इसका कि नई कहानी पुराने ढर्रे के वर्गीकरण में विभाजित नहीं की जा सकती? कारण स्पष्ट है पुरानी कहानी की अपेक्षा नई कहानी का यथार्थ, उसका परिवेश, अनुभवों के संदर्भ कुल मिलाकर विषय ही अलग है। आधुनिक जीवन की बुद्धिनिष्ठता, परम्परागत मूल्यों का विघटन, नए जीवन-मूल्यों का निर्माण, पुराने बँधे-बँधाये नीति-शास्त्रीय लीकों पर चल नहीं सकते। यही कारण है कि नई कहानी परम्परागत तत्वों एवं ढाँचों में बैठ न सके इसमें कतई आश्चर्य नहीं है।

प्रसाद-प्रेमचन्द की कहानियों का जीवन निश्चित मार्ग पर चलने वाला इकहरा जीवन है। इन कहानियों के चरित्र पूर्व निर्धारित आदर्शों के आलोक में ही जीवन व्यतीत करते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व केवल दोहरे स्थूल एवं गाढ़े रंगों से रंगे हुए हैं, वहाँ न तो कोई दौड़ है न खरोंच। इन चरित्रों की 'प्रकृति और प्रतिक्रियाएँ ढल चुकी हैं।'[1] उनके यहाँ कहानियों के केवल परिवेश बदल जाने से चरित्रों के मानसिक संगठन में कोई फर्क नहीं पड़ता था। आज जीवन की गति इतनी तेज है कि हर राष्ट्रीय एवं अंत-र्राष्ट्रीय घटना के साथ जीवन के प्रेरक संदर्भ बदलते जा रहे हैं, इसलिए जीवन का कोई सुनिश्चित मार्ग निर्धारित नहीं किया जा सकता। जिन्दगी के हर पहलू में इसी प्रक्रिया का अनुभव किया जा रहा है। इस गतिशील जीवन के अनेक-स्तरीय संदर्भों की रचना के स्तर पर अभिव्यक्ति देने की प्रामाणिक कोशिशों के कारण नई कहानी का क्षेत्र एक ओर अत्यन्त व्यापक और दूसरी ओर अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहरा होता जा रहा है। कहना नहीं होगा कि नई कहानी की रचनात्मक प्रक्रिया जटिल से जटिलतर स्तरों को पार करती हुई उभर रही है। यहाँ प्रश्न निर्माण हो जाता है कि इस प्रकार की अनिश्चित

जीवन–दृष्टि को अभिव्यक्त करने वाली कहानी के वर्गीकरण का आधार क्या होगा ?

चरित्र प्रधान, घटना प्रधान, वातावरण प्रधान आदि नाटकीय ढर्रे के वर्गीकरण की बात तो बहुत पहले ही खत्म हो चुकी थी। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और इलाचन्द्र की कहानियों ने उक्त वर्गीकरण को नकारा साबित कर ही दिया था। विशेष रूप से अज्ञेय की कहानी ने कहानी के परम्परागत तत्त्वों की-चौखट से हिन्दी कहानी को मुक्त कर दिया। कहानी विधा की सेन्द्रियता के महत्त्व को स्वीकार लेने के बाद भी कहानी को लेखकीय चेतना के अनुसार बाँटा जाने लगा। राजनैतिक कहानी, मनोवैज्ञानिक कहानी, सामाजिक कहानी, ऐतिहासिक एवं पौराणिक कहानी आदि विभाजक रेखाएँ खींची जाने लगीं। इस प्रकार का वर्गीकरण भी बड़ा सतही है, क्योंकि मात्र परिवेशगत तथ्यों के आधार पर कहानी का मूल्यांकन बिल्कुल गलत होगा और लेखक के उद्देश्य को कदापि स्पष्ट नहीं कर सकेगा। यह सही है कि जिस समय इस प्रकार के वर्गीकरण से हमारा आलोचना–साहित्य भरा पड़ा था, उस समय शायद समाज–जीवन संकुचित दायरे से निकलकर व्यापाक क्षेत्र के विविध पहलुओं को स्पर्श कर रहा था। किन्तु जीवन–संदर्भों का इतना अनेक स्तरीय उलझाव महसूस नहीं हो रहा था, जितना कि समकालीन साहित्य–कार महसूस कर रहा है।

हाल–हाल में एक और वर्गीकरण सामने आया, जिसे कभी–कभी आज भी भुलाया नहीं जाता वह है प्रगतिवादी कहानी और प्रतिक्रियावादी कहानी। राजनीतिक–सामाजिक स्तर पर समष्टिगत जीवन मूल्यों की शक्ति की पहचान के साथ ही समाज जीवन के आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य के रूप में परखा जाने लगा, जिससे जीवन दृष्टि के केवल दो ही स्थूल रूप सामने आये। इस इकहरे वर्गीकरण के कारण साहित्य में राजनैतिक प्रचारवादिता का प्रवेश होने लगा और साहित्य के मूल उद्देश्य पर ही आघात पहुँचने लगा। फिर भी शायद तत्कालिक साहित्य–बोध की पहचान के लिए इस प्रकार का वर्गीकरण कुछ हद तक कहानी के मूल्यांकन के लिए उपयुक्त साबित हुआ। किन्तु आज जब मानवीय जीवन का विश्लेषण किसी एक कोण से हो ही नहीं सकता, तब उपर्युक्त आधारों की तो बात ही छोड़ दें, किसी भी प्रकार का वर्गीकरण सही साबित नहीं हो सकता।

सही तो यह है कि पुराना हो नया रूपात्मक (फार्मल) वर्गीकरण कहानी के मूल उद्देश्यों को विश्लेषित कर ही नहीं सकता, हाँ अध्यापकीय परिश्रमों में कटौती भले ही हो ! अतः उपर्युक्त सारे वर्गीकरण अस्वाभाविक प्रतीत

होते हैं। नई कहानी के नएपन का विश्लेषण करते हुए कहानीकार-आलोचक कमलेश्वर ने लिखा है-"नयी कहानी ने जीवन की सारी सगतियो-विसगतियो, जटिलताओ और दबावो को महसूस किया "। यानी नई कहानी पहले और मूलरूप मे जीवनानुभव है, उसके बाद कहानी है। रास्ता जीवन से साहित्य की ओर हुआ। इसीलिए उसने अनुभूति की प्रामाणिकता को रचना-प्रक्रिया का मूल अश माना। उसने जीवन को उसकी समग्रता मे रूपायित किया।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि नई कहानी म कहानीकार की संवेदनशीलता ही प्रमुख तत्व रही है, इसीलिए नई कहानी मे पहली बार कथावस्तु की अपेक्षा तथ्य को महत्त्व प्राप्त हुआ बल्कि यो कहें कि नई कहानी कथ्य के कोण से बदलती रही है और कथ्य के प्रति कोण बदलने मे लेखकीय जीवन दृष्टि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, तो अधिक सही होगा। नई कहानी की इस विशेषता को मान्य कर लिया गया, फिर भी कुछ दिनो पहले कहानी का वर्गीकरण दृष्टि एव बोध से हटकर देश, परिवेश और अचल के आधार पर किया जाने लगा था। गाँव की कहानियाँ कसबे की कहानियाँ, नगर-महानगर की कहानियाँ, इस जैसे परिवेशगत-विभाजन सामने आये। आश्चर्य तो तब हुआ, जब उक्त वर्गीकरण की हिमायत भी की गई थी। शुक्र है, ये रेखाएँ आप ही आप मिट गई है। शहर के परिवेश में लिखी गई कहानी शहर की इमारतो, सडको, कार्यालयो, होटलो का विश्लेषण नही करती, न गाँव की कहानी खेत-खलिहानो, पनघटो और धूल भरे रास्तो का विश्लेषण ही करती है। शहर की हो या गाँव की, कहानी म मनुष्य-जीवन का यथार्थ अभिव्यक्त होता है। जीवन-यथार्थ की समग्रता को गाँव और शहर मे कैसे बाँटा जा सकता है? प्रेमचन्द के सम्बन्ध म कुछ आलोचको ने उन्हे मात्र ग्राम-कथाकार कहकर उनकी श्रेष्ठता को नापने का प्रयत्न किया। किन्तु वे लोग इस बात को सिद्ध नही कर सके कि प्रेमचन्द की जीवन दृष्टि ग्राम कथाओ में और शहर-कथाओ मे कैसे अलग-अलग एव बँटी हुई है। सिद्ध भी कैसे करते? किसी भी लेखक की जीवन-दृष्टि जीवन की विशिष्ट घटना एव परिवेश को लेकर समग्रता से ही रूपायित होती है। परिवेश की विभिन्नता दृष्टि की विभिन्नता नही होती। आधुनिक कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियाँ ग्रामाचल की कहानियाँ है, क्या इसीलिए श्रेष्ठ करार दी गई हैं? क्या 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' मानवीय जीवन की विशिष्ट व्यथा और आनन्द के क्षणो को व्यक्त नही करती? क्या इन क्षणो को भोगते समय रेणु के ये पात्र केवल गाँव के ही रहते हैं या मानव-मात्र बन जाते हैं? वस्तुत ऐसे समय इन पात्रो की परिवेशगत विशेषता

समाप्त हो जाती है और उसकी जगह मानवीय भावों का वैश्वयिक स्वरूप स्पष्ट होने लगता है। समर्थ लेखकों के यहाँ जीवनानुभाव और उसका सत्य ही अभिव्यक्त होता है, परिवेश तो केवल सत्य की वहिर्गत विशिष्टता को व्यंजित एवं संप्रेषित करता है। कोई भी कहानी गाँव, कस्बे या कॉफे से संबंधित होने से अच्छी या बुरी सिद्ध नहीं हो सकती। अच्छी कहानी की पहचान लेखकीय जीवन दृष्टि की सफल अभिव्यक्ति पर ही अवलंबित होती है। रेणु, मार्कण्डेय, शानी की कहानियाँ और निर्मल, यादव, राकेश की कहानियाँ परिवेशगत फर्क के कारण अच्छी या बुरी, श्रेष्ठ या कनिष्ठ नहीं हो सकती। कथा के माध्यम से उभरने वाला यथार्थ परिवेश और संवेदन के परस्पर सम्बन्धों की कलात्मक अभिव्यक्ति में स्पष्ट होता है। इसलिए परिवेश-गत--वर्गीकरण, विषय और वातावरण को अलग--अलग मानकर एक को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध करने के असाहित्यिक प्रयत्न में लग जाता है। किसी भी श्रेष्ठ कहानी में लेखक की दृष्टि एवं बोध परिवेश के साथ जुड़कर परस्पर सार्थक सम्बन्धों की खोज करता हुआ अभिव्यक्त होता है। बिना परिवेश के लेखक का संवेदन केवल 'अहं' का चित्रण होगा, और बिना लेखकीय बोध के परिवेश का चित्रण महज फोटोग्राफी होगी। मैं की व्यक्तिगत डायरी है और न परिस्थिति की निर्वैयक्तिक रिपोर्टिंग ...। देखना होगा कि युग के व्यक्ति और परिवेशगत वे सार्थक संदर्भ क्या हैं, जो आज की कहानी की थीम, कथ्य और विषय के रूप में आये है।"[1] देखना होगा कि व्यक्तिऔर व्यक्ति के आपसी सम्बन्ध पहले की अपेक्षा कहाँ और कैसे बदले हैं, बदल रहे हैं? यानी युग बोध के अंतर का आधार लेकर ही कहानियों के मूल्यांकन की दिशा निश्चित करनी चाहिए। चूँकि नए कहानीकार किसी पूर्व निर्धारित जीवन दृष्टि से मनुष्य--जीवन को आँकना नहीं चाहते, अपने अनुभवों के आधार पर मानवीय सम्बन्धों का विश्लेषण करना चाहते हैं। इन कहानीकारों के अनुभवों का आधार है उनका 'नैतिक बोध'' जिसके कारण दो युगों की कहानियों का अन्तर स्पष्ट होता है। आज का कहानी-कार इसी नैतिक बोध के आधार पर विशिष्ट व्यक्ति-चित्र को विशिष्ट-स्थिति में चित्रित करता है। यही उसकी कहानी का मूल्य है।

इस चर्चा का निष्कर्ष यही है कि नई कहानी का वर्गीकरण यदि करना ही है, तो हमें नई कहानी में व्यक्त लेखकों के उस बोध को ध्यान में रखना होगा जिसके आलोक में मानवीय सम्बन्धों के बदलते सन्दर्भों की पहचान हमें हो रही है। आज के कहानीकार की चेतना जो उसके रचनात्मक मानस में उभर रही है, वह बदलते मानवीय-सम्बन्धों से उसकी प्रतिबद्धता ही है। आज

की कहानी की उपलब्धि एव सीमाओ का विश्लेषण भी इसी आधार पर किया जाना चाहिए ।

नए कहानीकारों की जीवन-दृष्टि बदल गई है, इसलिए कथ्य के प्रति उसके कोण भी बदल गए हैं और इस सबके कारण मानवीय सम्बन्धो की सार्थकता एव निरर्थकता की व्याख्याएँ भी बदल गई हैं। बहरहाल मनुष्य जीवन के विश्लेषण का स्वरूप ही बदल गया है। नयापन परिवेश मे नही, नयापन न तो घटनाओ के चुनाव मे भी है और न विधा-गत मजाव मे, नयापन है नयी दृष्टि का, नये जीवन बोध का और तज्जन्य नए साहित्य बोध का, जिसके कारण परिवेश, घटना एव विधा सब कुछ नए सिरे से कलात्मक स्तर पर उठाए जाकर एकान्विति का प्रभाव छोडते हैं। 'घटनाएँ नयी नही होती, मानवीय सम्बन्ध भी बहुत नए नही होते, भावावेग और आन्तरिक उद्वेग भी अछूते नही होते, पर इन सबकी एक नयी दृष्टि से अन्विति ही नया प्रभाव छोडती है।'[१]

मानवीय सम्बन्धो की नई दृष्टि से अन्विति का आविष्कार कोई आकस्मिक बात नही है। यह एक लम्बी प्रक्रिया है। पिछले बीस वर्षों मे हिन्दी की नई कहानी इस प्रक्रिया से गुजर रही है। सम्बन्ध-सूत्र बदलते है, बिखरते है और फिर उभरते हैं। आधुनिक बोध के निर्माण से उसकी सकट बोध मे परिणति तक की यात्रा नई कहानी की यात्रा है। परम्परावादी जीवनदर्शन की असारता, भारतीय सस्कृति की नए युग के सदर्भ मे निरर्थकता, स्वतन्त्रता-प्राप्ति और भ्रम भग की अवस्था, जीवनादर्शो की अनिश्चितता, व्यक्ति जीवन मे अकेलेपन और अजनबीयत का एहसास आदि अनुभूत सत्यो के अनेक स्तरीय सदर्भों के परिपार्श्व पर नई कहानी विकसित हो रही है। इस विकास-यात्रा के कुछ महत्त्वपूर्ण स्तर हैं जिन्हे रचनात्मक रूप प्राप्त हुआ है। पारपरिक मूल्यो का विघटन और स्थापित नैतिक बोध की निरर्थकता साबित करने वाली कहानियाँ उक्त यात्रा का महत्त्वपूर्ण स्तर हैं, जहाँ से मानवीय सम्बन्धो का नया अर्थ लगाया जाने लगा। दूसरा स्तर वह है जहाँ परिवारगत सन्दर्भों मे स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्धो को चित्रित एव विश्लेषित किया गया है। आर्थिक एव मानसिक गुलामी से मुक्ति पाने की छटपटाहट को महसूस करती हुई अपनी स्वावलबिता का परिचय देने वाली नारी तीसरे स्तर पर खड़ी है। और चौथा स्तर है उस पुरुष का, जो परम्परागत मूल्यो के भ्रम से मुक्त, पर किसी भी नई दिशा को प्राप्त न कर सकने की अनिवार्य नियति को भोगता हुआ अतीत और भविष्य से कटा हुआ जीवित वर्तमान को भोग रहा है। एक स्तर

वह भी है जहाँ व्यक्ति बावजूद सारी विफलताओं के जिन्दगी के शाश्वत रहस्य को, जिजीविषा के रहस्य को टटोलता हुआ जीवन से चिपका रहना चाहता है। इसके अलावा कई स्तर और हैं और प्रत्येक स्तर की और कई परतें हैं, किन्तु स्थूल रूप से नई कहानी में व्यक्त आधुनिक-बोध को उपर्युक्त पांच स्तरों पर परखा जा सकता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त पात्रों स्तरों में कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा कदापि खींची नहीं जा सकती, ऐसा करना खतरनाक है। किसी एक स्तर में चित्रित मानवीय-जीवन दूसरे कई स्तरों को स्पर्श करता ही है। केवल सहूलत के लिए हमने नई कहानी के बोध को कुछ विशिष्ट केन्द्रीय संदर्भों में देखना चाहा है। अतः नई कहानी के वर्गीकरण का आधार आधुनिक जीवन-दृष्टि और इस दृष्टि के अन्तर्गत स्पष्ट होते हुए कुछ प्रमुख केन्द्रीय संदर्भ हैं। नई कहानी की संवेदनशीलता का विश्लेषण हम इन्हीं संदर्भों का आधार लेकर करना चाहेंगे।

१. महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय संदर्भ

स्थापित नैतिक बोध का विघटन

वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाते ही संवेदनशील मन जीवन की प्रत्येक घटना को एवं परम्परागत मूल्यों को बुद्धि की आँख से परखने का आदी हो गया। नये सामाजिक संदर्भों में भारतीय आदर्शों एवं मूल्यों की असारता प्रतीत होने लगी। प्रसाद-प्रेमचन्द के व्यक्ति आधुनिक संदर्भ में व्यक्तित्वहीन पुतले लगने लगे। जब आज के संदर्भ में भारतीय नैतिकता की कोई बात करने लगता है, तब वह बकवास लगती है। क्योंकि इसी तथाकथित नैतिकता के आड़ कितने महान ? व्यक्तित्वों ने अपना स्वार्थ पूरा किया था। आज भी जब उसी झूठी नैतिकता का प्रश्रय लिया जाता है तब वह दुराग्रह लगता है—पिछड़े सामाजिक मूल्यों का नवीन मूल्यों पर जबरदस्ती आरोपण लगता है। जहाँ जहाँ व्यावहारिकता की जगह हमारी परम्परा ने भावनिक आदर्शों का पल्ला पकड़ा है, आज वे सारे आदर्श हमारे लिए बेकार हैं। उलटे वे सारे अव्यावहारिक आदर्श भीरुता एवं कायरता के पर्याय लगते हैं। पुरानी मर्यादाएँ आधुनिक संदर्भ में विकृतियों का दूसरा नाम हो गई हैं। विज्ञान और नवीन शास्त्रों के कारण सत्य की सही व्याख्याएँ जैसी-जैसी सामने आ रही हैं, हमारे परम्परागत 'सत्य' असत्य में परिणत होते जा रहे हैं। अब हम इस नतीजे पर पहुँच गए हैं कि हमने जिसे सत्य कहकर पुकारा था वह 'ज्ञान की सीमा थी, और न जानने की मजबूरी थी।'[१]

भारतीय आदर्शों का प्रायोगिक मंच था हमारा धर्म और धार्मिक संस्थाएँ।

जीवन के प्रत्येक पहलू का नियन्त्रण धर्म के अधीन था। संहार और उद्धार धर्म के लिए ही होते थे। आधुनिक युग-बोध में धार्मिक व्यवस्था लगभग समाप्त हो चुकी है। वह अब व्यक्ति की अपनी निजी चीज बन गई है। व्यक्ति के मानस मे धर्म के जो अवशेष बाकी हैं, वे भी मर रहे हैं, टूट रहे हैं। धर्म-परायण भारत देश अब केवल ऐतिहासिक तथ्य मात्र रह गया है। धर्म ने समाज को जिन चार खानो मे बाँटा था आधुनिक सन्दर्भ मे यह विभाजन असंगत, अस्वाभाविक एवं विशिष्ट वर्ग की चालबाजी लगता है। वर्ण व्यवस्था हमे किसी भी कर्म के लिए प्रेरित नहीं कर सकती। जाति व्यवस्था आज भी वास्तविकता है, पर आधुनिकता के बिल्कुल विपरीत है। जातिवाद भी केवल राजनीतिक स्वार्थान्धिता का पूरक मात्र रह गया है। जीवन के अन्य क्षेत्रो मे वह कोई निर्णायक तत्त्व नही माना जाता। धर्म का एक ऊँचा स्तर अध्यात्म और आध्यात्मिक दर्शन था। इस दर्शन के द्वारा मनुष्य जीवन के जन्म, मृत्यु और जिन्दगी का विश्लेषण किया जाता था। अब जन्म मृत्यु के कई रहस्य वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ में उद्घाटित हुए हैं। जन्म-मृत्यु से सम्बन्धित कई उलझने निहायत आसान बन गई हैं। इसलिए हमारी जीवन-सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताएँ और व्याख्यायें अव्यावहारिक हो गई हैं।

परम्परागत मूल्यो का विघटन मानवीय सम्बन्धो की जिन इकाइयो मे बड़ी तीव्रता से महसूस होने लगा है, उनमे 'परिवार' एक ऐसी इकाई है, जहाँ स्थापित नैतिकता के कई मूल्य खोखले एवं नाकारा साबित हुए हैं। धर्म, देश, गाँव, जाति इन जैसी सामूहिक संस्थाओ का पारम्परिक महत्त्व कभी का समाप्त हो गया है, और उसकी जगह युगानुकूल आदर्शों की स्थापना हो रही है। सामूहिक संस्थाओ की आखिरी कड़ी 'परिवार' है, जहाँ व्यक्ति और उससे सम्बन्धित व्यक्तियो के आर्थिक एवं मानसिक और शारीरिक सम्बन्ध परस्पर जुड़े हुए होते हैं। परिवार ही एक ऐसा बिन्दु है जिस पर खड़े रहकर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो को नापा जा सकता है। व्यक्ति और समाज को जोड़ने वाले इस पुल के भीतर अब कई दरारें पड़ गई हैं। परिवार का सशक्त रूप संयुक्त परिवार है, जिसकी ऐतिहासिक आवश्यकता लगभग समाप्त हो चुकी है। परिवार की व्याख्या मे निकम्मे सदस्यो की गिनती नही की जाती। यहाँ भावना, श्रद्धा, आदि बाधायें आड़ नही आती। प्रेमचन्द की कहानी ने ही *संयुक्त परिवार की अव्यावहारिकता को महसूस किया था।* जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल की प्रारम्भिक कहानियाँ संयुक्त परिवार की अस्वाभाविकता का चित्रण करती रही हैं। नई कहानी मे कुछेक कहानियाँ छोड़कर संयुक्त परिवार से

आगे केवल 'परिवार' के सम्बन्धों में टूटते मूल्यों के संघर्ष को चित्रित करने वाली कई कहानियाँ देखी जा सकती हैं। परिवार की यह कड़ी वाप-वेटे, माँ-वेटे तक ही टूटकर रुकी नही है वल्कि परिवार के कई सदस्यों तक टूटने की यह प्रक्रिया जारी है। टूटने का यह सिलसिला अव भी खत्म नही हुआ है। 'पुत्र अव परलोक के लिए नही, इहलोक के लिए जरूरी हो गया है, क्योंकि वृद्धावस्था की कोई सुरक्षा आज के वृद्ध के पास नही है ··· ····इससे सम्बन्धों में अनवरत तनाव और जीवन की व्यर्थता का वोध ही आज की पीढ़ी का वोध है। आज का पुत्र कुछ संवेदना और कुछ दया से भरकर ही परिवार के वृद्ध को स्वीकार करना है।'[५] पारिवारिक मूल्यों का विघटन इतनी तेजी से होता रहा है कि टूटने की प्रक्रिया खत्म होने पर जुड़ने की प्रक्रिया के लिए अवकाश ही शायद नही मिला। वस्तुत: किसी भी स्वस्थ समाज में मूल्यों के टूटने की प्रक्रिया एक विन्दु तक आकर नये सिरे से जुड़ने की ओर मुड़ती है। पर हमारे यहाँ सामाजिक स्वस्थता के कोई आसार आज भी नजर नहीं आ रहे हैं। शायद आज भी मूल्यों के टूटने की प्रक्रिया पूर्णत: समाप्त नहीं हुई है। यही कारण है कि नई कहानी ने टूटते-विखरते मूल्यों के अनेक स्तरीय चित्र ही उपस्थित किये हैं। पिछले दो दशकों की कहानियाँ सम्बन्धों के जुड़ने की कहानियाँ नही हैं, वे टूटने की कहानियाँ हैं।

सामाजिक मूल्यों के विखराव के कारण व्यक्ति-मूल्यों की दिशा समाजगत मूल्यों के विल्कुल विपरीत मोड़ ले रही है। दोनों मूल्य अव परस्पर-पूरक न रहकर परस्पर-विरोधी वन गये हैं। इन तनाव का परिणाम यौन-सम्बन्धों की नई व्याख्याओं में प्रकट हुआ है। शारीरिक पवित्रता आदि की वातें विल्कुल ढकोसला हो गई है। चरित्र और चारित्र्य एवं नैतिकता की पहचान सेक्स-सम्बन्धों से नापने की दकियानूसी परम्परा अव खत्म हो चुकी है। आज यौन-मुक्ति पुरुष और स्त्री के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता वन गई है। कानूनी हो या गैरकानूनी किसी भी प्रकार के यौन सम्बन्ध आज के व्यक्ति के मन में पाप-वोध पैदा नही करते। संक्षेप में स्थापित नैतिक वोध का अनेक स्तरीय विघटन आधुनिक कहानी का कथ्य वनकर चित्रित हुआ है। कही यह चित्रण परम्परागत मूल्यों के साथ संघर्ष का है, कही उनकी आग्रह-मूलकता के खण्डन का है, तो कही उनका मखौल उड़ाने वाले प्रसंगों का है। राजेन्द्र यादव की 'फ्रेंच लेदर', 'अपने पार', 'प्रतीक्षा', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', दूधनाथ सिंह की 'दु:स्वप्न', ऊषा प्रियंवदा की 'वापसी', राकेश की 'मलवे का मालिक' और 'सौदा' भीष्म साहनी की 'भटकती राख', 'काटघरे', रेणु की 'प्रजासत्ता',

गिरिराज किशोर की 'चूहे' और 'पेपरवेट', महीपसिंह की 'सुबह के फूल', जितेन्द्र की 'जमीन-आसमान', निर्मल की 'लवर्ज' आदि कहानियाँ स्थापित नैतिक बोध के अनेक स्तरीय विघटन को रचनात्मक अर्थ प्रदान करने वाली कहानियाँ हैं।

२ भीषण संक्रांति का महत्त्वपूर्ण मोड़

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का नया कोण

हमने ऊपर ही कहा है कि परम्परागत मूल्यों के टूटने की प्रक्रिया परिवार के सारे सदस्यों को लपेटकर आगे बढ़ रही है। यदि यह टूटना अपनी प्रक्रिया पूरी कर लेता और परिवारगत स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के जुड़ने की प्रक्रिया आरंभ होती तो हमारे यहाँ अच्छी प्रेम कहानियाँ लिखी जाती किन्तु विघटन की प्रक्रिया अब भी रुकी नहीं है। कारण कुछ भी हो, भारतीय समाज की यह ऐतिहासिक नियति है। परिवारगत मूल्यों की संक्रांति-अवस्था से गुजरता हुआ भारतीय परिवार स्त्री पुरुष सम्बन्धों के आपसी तनाव को बड़ी तीव्रता से महसूस कर रहा है। इस विघटन का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि भारतीय समाज की आधुनिक नारी परम्परागत 'टैबूज' से ऊपर उठकर एक समस्या के रूप में खड़ी है। पति और पत्नी के परिवारगत सम्बन्धों में आमूलाग्र परिवर्तन उपस्थित हुआ है। एक जमाना था, जब किसी पिता की पुत्री किसी पिता के पुत्र के साथ एक झटके के साथ जुड़ जाती थी। अग्नि और ब्राह्मणों की साक्षी में, जाति के कुछ सदस्यों की उपस्थिति में सात फेरे खाकर पुरुष के साथ जन्मजन्मांतर के लिए हो जाती थी। विवाह एक आकस्मिक घटना थी। वह एक एक्सिडेन्ट मात्र था। अच्छा हो या बुरा, जुल्मी हो या दयालु, शराबी हो या जुआरी, पत्नी के साथ ईमानदार हो या न हो, स्त्री की जीवन-चर्या में वैसे कोई फर्क नहीं पड़ता था। भाग्य और भगवान पर भरोसा रखकर पति सेवा में सारी जिन्दगी बिता देने के अभिशाप को झेलना उसकी मजबूरी थी। वह विवाह से पहले पिता की पुत्री, विवाह के बाद पति की पत्नी, और उसके बाद पुत्रों की माँ इन रूपों में जिन्दगी भर गुलाम बनकर रहती थी। पर आधुनिक नारी कानूनी रूप से और उससे ज्यादा आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है। उसकी आर्थिक स्वावलंबिता ने उसे अपने लायक पुरुष चुनने एवं न चुनने की शक्ति दी है। यही कारण है कि परम्परागत विवाह संस्था नाकारा साबित होने लगी है। एक ओर पुरुष स्वतन्त्र रूप से सत्रस-जीवन की माँग कर रहा है तो दूसरी ओर स्त्री विवाह संस्था को अपने व्यक्तित्व-रक्षा के अनुसार मोड़ना-मरोड़ना चाहती है। इन दो माँगों के आपसी तनाव पर स्त्री-

पुरुष सम्बन्धों के कई प्रश्न और उनके उत्तर दिये जा रहे हैं। हर उत्तर नए प्रश्न का निर्माण कर रहा है और फलतः समस्याओं का नैरन्तर्य बरकरार है।

आधुनिक स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व पुरुष से पूर्णतः मुक्त हो नहीं सकेगा। शायद ऐसा कभी होगा ही नही क्योंकि स्त्री-पुरुषों का एक जगह आना मनुष्य-जीवन की प्राकृतिक आवश्यकता है। इस आवश्यकता को महसूस करती हुई आधुनिक नारी अपने स्वतन्त्र-व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहती है। उसके मन में जन्मजन्मांतर के पतिव्रता धर्म जैसी कोई गलत फहमी अब नही रही है। और इसीलिए स्त्री-पुरुष संबन्धों के लचीले प्रश्नों का हल खोजने की प्रक्रिया ने विवाह संस्था के पुर्नमूल्यांकन की तीव्रता प्रदान की है। इस तीव्रता की उपादेयता का अहसास पुरुष को भी हो रहा है किन्तु पुरुष शायद अब भी स्त्री के पूर्ण व्यक्तित्व को अपने मानसिक स्तर पर स्वीकृति नही दे रहा है। पति-पत्नी सम्बन्धों के महत्त्व को और उसकी पवित्रता को वह मानता जरूर है, इसकी हिमायत भी करता है, किन्तु उक्त पवित्रता को बनाये रखने के लिए केवल नारी से ही मांग करता है। अपनी ओर से किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी ओढ़ने के लिए वह तैयार नही है। इस अर्थ में स्त्री के साथ उसका सहयोग एकतर्फा ही है। अपनी सुविधा और संतोष—शारीरिक एवं मानसिक—के लिए वह 'पत्नी' की अपेक्षा एक 'पार्टनर' चाहता है। अपनी जिन्दगी के तमाम लमहों को उसके साथ बिताने की आरोपित जिम्मेदारी को वह झेलना नहीं चाहता। स्त्री के मानस में 'पति' और पुरुष के मानस में 'पत्नी' के पारंपारिक रूप तहस-नहस हो गये हैं। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि आधुनिक स्त्री-पुरुष संबन्धों को किसी परिपूर्ण इकाई के रूप मे समझना कठिन होता जा रहा है। दोनों के व्यक्तित्व पूर्णत्त्व की खोज में खण्डित होते जा रहे हैं। फल यह हुआ है कि 'पति और पत्नी की इकाई दो अर्द्ध-इकाइयों में बदल गई है और अब ये अर्द्ध-इकाइयां अपने परिवेश से जीवन के संगत मूल्यों और पद्धतियों को चुनकर, साथ रहते हुए, स्वतंत्र और परिपूर्ण इकाई बन सकने की दिशा में अग्रसर है।[८]

स्त्री-पुरुष के बदलते रिश्तों में काम-संबन्धों के विविध संदर्भ चित्रित किये जा रहे हैं। काम-संबन्धों के कई चित्र पुराने दौर की कहानी में भी चित्रित होते रहे हैं, किन्तु आधुनिक कहानी में जो संदर्भ चित्रित हो रहे हैं उनके पीछे परिवेश गत सचाई और अनुभवों की प्रामाणिकता है। प्रामाणिक अनुभवों की शर्तों को न निभा सकने के कारण पुरानी कहानी फार्मूले का

प्रश्रय लेती रही है। नतीजा यह हुआ कि सारे चित्र स्त्री-पुरुष सबन्धों का वास्तव रूप प्रस्तुत नहीं कर सके। आधुनिक कहानीकार जिन्दगी को भोग रहा है, उसका सवेदनशीलता मस्तिष्क स्त्री-पुरुष के आधुनिक परिवेश का अनुभव कर रहा है, वह आज के जीवन्त सदर्भो के साथ प्रामाणिक है। अत पुरानी कहानी की तरह नई कहानी म अभिव्यक्त काम-सबन्धो के कोरे चित्र नहीं, अधिक स्वस्थ, एव स्पष्ट सच्चे रूप हैं, यहाँ भोग का चित्रण विकृत एव कामोद्दीपक नही है। आधुनिक स्त्री-पुरुष परपरागत पापबोध से मुक्त हो गए हैं, यौन मुक्ति एक आवश्यकता मान ली गई है। काम और पापबोध को एक साथ रखकर एक को दूसरे का पर्याय नहीं माना जा रहा है। परिणामत स्त्री-पुरुष सबन्धों के चित्रण में काम सदर्भ अतिरिक्त चित्रण के रूप मे प्रस्तुत न होकर सामान्य संबन्धो की महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप मे प्रस्तुत हो रहे हैं। एक समय था जब हमारे कहानी-साहित्य मे स्त्री-पुरुष सबन्धों का चित्रण करते समय स्त्री को एक अनाकलनीय हवाई शक्ति के रूप मे चित्रित किया गया और कहीं बिल्कुल इसका उल्टा, अनावृत्त स्त्री का चित्रण उपस्थित किया गया। दोनो जगह लेखकीय विकृतियों का ही आविष्कार था। आधुनिक समाज मे स्त्री पुरुष सबन्धो का एक स्तर वह है जहाँ सयोग के शारीरिक सुख की तृप्ति के लिए सामाजिक बन्धनो को चुनौती दी जाती है। दूसरा स्तर वह है। जहाँ स्वावलबी स्त्री-पुरुष बिना किसी कानूनी सबन्धो के, यौनमुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। और कई बार सफल भी होते हैं। इन सब स्तरो से उद्भूत विकृतियो, परिस्थितियों, सामाजिक-मनोवैज्ञानिक समस्याओ को रूब-रू झेलने की क्षमताओ के चित्र भी उक्त स्तरों का हिस्सा बन कर प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यह नहीं कि यौन-मुक्ति के बाद की समस्याओ की आग म अबला नारी को जलने दिया जाय और पुरुष इनसे बचकर निकल जाय। जीवन और साहित्य का जितना अटूट सबन्ध आधुनिक साहित्य मे स्पष्ट हो रहा है, शायद ही कभी हुआ हो। नारी और पुरुष के सबन्ध अब अजनबी या विलक्षण नहीं, बहुत सहज, स्वाभाविक एव यथार्थ बन गये हैं। आधुनिक नारी केवल नारी है, पुरुष की चिता मे जल कर मर जाने वाली सती नहीं है और न उन्मुक्त सेक्स को अर्थार्जन का साधन बनाने वाली वेश्या ही है।

स्त्री और पुरुष अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा के लिए नातो-रिश्तो को सामाजिक-नैतिक धारणाओ से ऊपर उठ कर एक साथ रहते हुए जिन्दगी मे जीने के रहस्य को जानने की कोशिश कर रहे हैं। फिर भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धो के चित्रणो मे "स्त्री सेक्स और सामाजिक ढाचे मे

विद्रोह करने और अपने अस्तित्त्व की स्वतंत्र स्थिति प्रभावित करने के वावजूद 'समर्पिता' की 'मुद्रा' से उवर नही पाई है।"[६] इधर कुछ प्रयत्न जरूर हुए हैं। पता नही प्रत्यक्ष जीवन में 'समर्पिता' की मुद्रा से स्त्री अव तक उवरी है या नही ?

दूधनाथ सिंह की 'सव ठीक हो जायगा' और 'प्रतिशोध', राजेन्द्र यादव की 'मेहमान', 'भविष्य के पार मंडराता अतीत', 'टूटना', राकेश की 'एक और जिन्दगी, मन्नू भंडारी की 'यही सच है' 'चश्मे' और 'तीसरा आदमी', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', कृष्णवलदेव वैद की 'त्रिकोण', निर्मल की 'पिता और प्रेमी', महीपसिंह की 'घिराव', कमलेश्वर की 'राजा निरवंसिया', ममता कालिया की 'अनिर्णय' और 'पत्नी', ऊषा प्रियंवदा की 'जिन्दगी और गुलाव के फूल' आदि कहानियां स्त्री-पुरुष के वदलते सम्वन्धों का सूक्ष्म, प्रामाणिक एवं कलात्मक चित्रण उपस्थित करती हैं।

३. वर्जना-मुक्त स्वतंत्र नारी : नारी समस्या का नयारूप

स्त्री-पुरुष सम्वन्धों की जटिलता का विश्लेषण हमने किया ही है। नारी और पुरुष अपनी-अपनी जगह पूर्णत्त्व की खोज में प्रयत्नशील है, किन्तु खोज की हर दिशा उनके व्यक्तित्वों को खंडित कर रही है। इस खोज में आधुनिक—नारी के कई चित्र उभर रहे है। परंपरागत वर्जनाओं से आधुनिक नारी जैसे-जैसे मुक्त हो रही है, नवीन समस्याओं का सामना करने लगी है। आर्थिक-स्वावलंविता और मानसिक-स्वतंत्रता के कारण वह अपने जीवन को अच्छा या बुरा वनाने के लिए स्वतंत्र है। किन्तु इस आत्मनिर्भरता का यह मतलव नही कि वह विना पुरुष के सम्पर्क के जीवन व्यतीत कर सकती है। पुरुष के साथ रहना उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है, चाहे वह परंपरागत पत्नी-धर्म का निर्वाह न करती हो। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे कई विपरीत स्थितियों का सामना करना पड़ता है। विचित्र वात यह है कि आधुनिक स्त्री, चाहे कितनी ही स्वतंत्र हो अव भी पुरुप-संस्कार से आक्रान्त है। इसका एक कारण शायद यह है कि हजारों वरसों की परंपरा मे पुरुप-संस्कार का प्रभाव स्त्री के मानसिक-संगठन का हिस्सा वनकर रह गया है। इस मानसिक गुलामी से मुक्ति पाना इतनी जल्दी सम्भव भी नही है। दूसरा कारण यह है कि पुरुप अव भी, स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व का हिमायती होकर भी, स्त्री को पुरुप-संस्कार से मुक्त नही होने देता। मतलव यह कि पुरुप स्त्री के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्णतः नही निभा रहा है। वह अपनी वासना, विकृति,

इच्छा और सुखचैन के लिए ही स्त्री-स्वतन्त्रता की घोषणा करता हुआ नजर आता है। पर-स्त्री के साथ अपने सम्बन्ध जोडने से वह बिल्कुल कतराता नही, उलटे इसके लिए कई मनोवैज्ञानिक दलीलें भी पेश करता है। (पुरुष लेखकों की कई कहानियां इस ढग की हैं) किन्तु अपनी स्त्री के पर पुरुष के साथ सम्बन्धो को वह बर्दाश्त नही कर सकता, जबकि यहां भी वही कारण होता है जिसकी मनोवैज्ञानिक-दलीलें पर-स्त्री क सम्बन्धों की प्रामाणिकता के लिए उसी ने पेश की थी। और फिर यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सामाजिक जीवन के हर मोड़ पर पुरुषो की सत्ता है। कम से कम आज तो स्त्री अपने घर के बाहर पूर्णत. सुरक्षित नहीं है और सरक्षित तो बिल्कुल ही नही है।

एक ओर पूर्णव्यक्तित्व की खोज और दूसरी ओर इस खोज के मार्ग मे भीषण बाधाएं इन दोनो दबावों के बीच दबती हुई *आधुनिक नारी* अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा न कर सकने की मजबूरी मे बाधाओ से समझौता कर लेती है और अततोगत्वा समर्पित होकर रह जाती है। अर्थात् आधुनिक नारी का समर्पण भावना, या श्रद्धा से प्रेरित होकर नहीं है, वह उसकी मजबूरी है। परम्परागत वर्जनाओ और टेबूज को तो वह लाघ चुकी है पर अब भी पूर्णत. मुक्त नहीं हुई है, क्योकि वर्जनाओं की व्याख्यायें पुरुषों ने अपने लिए बनाई हैं और अपने लिए ही तोडी हैं।

आधुनिक नारी को केन्द्र बनाकर उसके जीवन की अनेक स्तरीय समस्याओ का चित्रण करने वाली कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियां ये हैं। राकेश की 'जानवर और जानवर', 'ग्लास टैंक', 'फौलाद का आकाश', मन्नू भण्डारी की 'ईसा के घर इन्सान', 'यही सच है', *'बन्द दराजो का साथ'*, 'तीन निगाहो की एक तस्वीर' और 'मैं हार गई', श्रीमती चौहान की *शरत की नायिका'*, कमलेश्वर की 'तलाश', महीपसिंह की 'कील', नरेश मेहता की 'तथापि', रामकुमार की 'समुद्र', ज्ञानरजन की 'कलह', सुधा अरोड़ा की 'बगैर तराशे हुए' उषा प्रियवदा की 'सागर पार का सगीत' और 'पैरम्बुलेटर'।

४. संक्रांति के संकट बोध से घिरा हुआ व्यक्ति

स्वतन्त्रता के बाद सवेदनशील कथाकार ने मोहभग की स्थिति का अनुभव किया जिससे उसके *मानस मे अपने अतराफ के सामाजिक जगत के प्रति भयकर* घृणा निर्माण हुई। किन्तु इसी दुनिया मे उसे जीना पड रहा है, यह उसकी मजबूरी हो गई है। स्वतन्त्र भारत के भविष्य के जो सुनहले सपने उसने सजोये थे,

वे एक झटके के साथ महाभयंकर निराशा में तबदील हो गये । निराशा से ग्रस्त अपनी नियति को भोगता हुआ कथाकार अपने मानसिक जगत से उद्भूत संवेदन को रचना के स्तर पर अभिव्यक्ति देने लगा है । इस अभिव्यक्ति में जिस व्यक्ति के चित्र उभरे हैं वह स्वभावतः घिनौने, निराश, अवसादग्रस्त ही होने थे । कथाकार का बाह्य जगत और आंतरिक जगत् परस्पर विरोधी तनावों के कारण एक ऐसी स्थिति पैदा कर रहा था जिसमें टूटते हुए समाज-जीवन का ही चित्र उभरना अनिवार्य था । कथाकार ने सामाजिक खतरे से और अधिक नीचे जाकर मानव-स्थिति के सम्बन्ध से कई बुनियादी प्रश्न उठाए । सेक्स-सम्बन्धी, स्त्री-पुरुष रिश्तों से सम्बन्धित, धर्म-दर्शन से सम्बन्धित इन लेखकों के प्रश्न बड़े मूलगामी थे । इन प्रश्नों का स्वरूप ही इतना चौंकाने वाला था कि क्षण भर के लिए हम भौंचक्के हो जायें । परम्परा के प्रत्येक मूल्य के संमुख एक प्रश्नार्थक चिह्न लग गया जिससे चारों ओर एक प्रकार की अराजकता महसूस होने लगी । ये प्रश्न खरे थे, इतने खरे कि हम उनपर कुछ देर के लिए विश्वास न करें, किन्तु इन प्रश्नों की सचाई पर अविश्वास प्रकट नही किया जा सकता था क्योंकि इन प्रश्नों के पीछे वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तर्क थे । जीवन-विषयक परम्परागत धारणा टूट रही थी । और नवीन धारणा बनने के लिए कोई गुंजाइश नही थी । दोनों तरफ से हमारा समाज-जीवन दब रहा था । परिणामतः इस समाज में एक ऐसा व्यक्ति उभरने लगा जिसकी संवेदनक्षमता ही जैसे खो गयी हो, उसे जैसे अतराफ की कोई घटना स्पर्श न करती हो, जैसे जिन्दगी उसके हाथ से फिसल रही हो । इस व्यक्ति ने सारी नैतिक मान्यताओं का खण्डन और विघटन अपनी आंखों से देखा है और उनकी व्यर्थता का अनुभव भी किया है । यही कारण है इस व्यक्ति की मुद्रा सदैव 'एण्टी-बोध' से त्रस्त रही है । ऐसा नही कि यह व्यक्ति बिल्कुल ही जड़ बन गया है बल्कि वह एक नयी नैतिकता के लिए छटपटा रहा है, एक ऐसी नैतिकता के लिए जो आधुनिक बोध के साथ समुचित व्यावहारिक संतुलन पैदा कर सके । किन्तु उसकी छटपटाहट निरर्थक होती जा रही है । बाह्य जगत उसके साथ नहीं है । आधुनिक दृष्टि का वरदान उसके लिए भीषण संकट का अभिशाप बन गया है । इस संक्रमण की प्रक्रिया में से गुजरता हुआ यह मनुष्य संकट-बोध के अंतिम छोर पर खड़ा है, चिंतातुर मुद्रा लिए । क्षोभ और उदासीनता के द्वन्द्व की यातनाओं से गुजरता हुआ भारतीय मनुष्य हर जगह अपने आप को अयोग्य एवं मिसफिट पा रहा है । पुराने मूल्यों से चिपका रहना वह नही चाहता और नवीन मूल्यों को वह गढ़ नहीं सकता, इस द्विधा-

त्मक स्थिति का सामना करता हुआ कहीं-कहीं अपनी सहनशीलता को भी खो बैठा है।' 'उसका स्वर है—'अब और नहीं नाउ नो मोर !' वह उसको बर्दाश्त नहीं करेगा, जो असंगत और व्यर्थ है।'[10] नई कहानी के प्रारम्भिक काल मे इस उभरते आदमी के मोह भंग को, जिन्दगी की शिल्प हीनता की स्थिति को पूर्ण निर्ममता के साथ चित्रित किया गया।

इन कहानियो मे चित्रित व्यक्ति का पस्त, बीमार और हताश रूप देखकर तत्कालिक आलोचको ने कई आक्षेप उठाए थे कि स्वतन्त्र भारत के उज्ज्वल भविष्य के सपने इन कहानियो मे क्यों नहीं उभरते ? इस जीवन में क्या केवल घिनौना ही घिनौना है ? क्या कुछ महान् और दिव्य है ही नही ? साथ-साथ यह भी आक्षेप लगाया गया था कि नए कहानीकार अपनी विकृतियो को आविष्कृत कर रहे हैं और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से पलायन कर रहे हैं। इन आक्षेपो का उत्तर सृजनात्मकता के स्तर पर दिया जा रहा था। नए कथाकारो ने अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से पुरानी धारणाओ के मुलम्मे फाड़-कर अदर की सड़ाध को देखा था। वह असली और नकली के भेद को जान रहा था। उसकी संवेदनशीलता अनुभूति की प्रामाणिकता से प्रतिबद्ध थी। इसलिए इन झूठे आक्षेप की उसने कोई पर्वा नहीं की। उसके मानस मे जो कुलबुला रहा था उसे उसने मतली के जैसा उलट दिया। उसके चारों ओर की दुनिया मक्कारो, रिश्वतखोरो, व्यभिचारियो से भरी पड़ी है। इस भीड़ मे ईमानदार, उत्साही और प्रामाणिक युवक एक फालतू की तरह भटक रहा है। खीझता है, चीखता है, पर इस भीड़ मे उसकी चीख कौन सुनेगा ? सचाई तो यह थी कि कथाकार जिस चित्र को अंकित कर रहा था वह भले ही क्षुद्र हो, सच्चा था। और सचाई को प्रकट करते कहानी लेखक घबराया नहीं। अपनी अनुभूतियो को प्रामाणिकता से प्रकट करना ही उसका उत्तरदायित्व था। इस उत्तरदायित्व को निभाने के ईमानदार प्रयत्नो ने नई कहानी का आरम्भ किया है।

अपने प्रति ईमानदार कथाकार आधुनिक जीवन की गहराइयों मे गोते लगाता रहा है। फलस्वरूप मनुष्य का वह रूप सामने आने लगा, जो किसी भी बाहरी आवरण से ओढा हुआ नही है। संकट बोध की प्रक्रिया से गुजरता हुआ नई कहानी का नायक संकट-बोध की आखिरी सीमा को स्पर्श करके खड़ा है और अब वह आक्रान्त है मृत्यु, संत्रास और भयावहता से। इधर कई कहानियाँ इसी व्यक्ति को चित्रित कर रही हैं। अस्तित्व की मजबूरी को झेलता हुआ तटस्था से अपनी बाहरी और भीतरी दुनिया के संत्रास का

अनुभव कर रहा है । अस्तित्त्व का यह संकट उस पर किसने लादा ? क्या वह स्वयं इस अस्तित्त्व-संकट का जिम्मेदार नहीं है ? क्या मृत्युबोध और संत्रास उसे हमेशा के लिए निष्क्रिय बना देंगे ? इन सारे प्रश्नों के उत्तर नई कहानी ने रचनात्मक स्तर पर दिये हैं—दे रही है ।

हमने पिछले कुछ पन्नों में इस बात की चर्चा की थी कि आधुनिक भारतीय समाज जिस संकट बोध का अनुभव कर रहा है, उसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार नही है । जिम्मेदार हैं वे सारे ऐतिहासिक सन्दर्भ, जिनके कारण हमें आधुनिक दृष्टि मिली है । आधुनिक दृष्टिकोण के विकास के साथ ही संकट-बोध की तीव्रता प्रतिभाषित होने लगी है । और आज हम इस स्तर पर आकर रुके हैं, जहां सब डरावना ही डरावना है । मतलब यह कि इस अस्तित्त्व के लिए हम स्वयं जिम्मेदार नही हैं, क्योंकि हमने इसे पैदा नहीं किया, हां अस्तित्त्व के संकट को भोगना हमें पड़ रहा है, इस मजबूरी और सचाई को हम नकार नही सकते । इतिहास–जन्य परिस्थितियों का अनिवार्य निचोड़ होता है यथार्थ और इस यथार्थ को झेलना पड़ता है उस पीढ़ी को जो उस समय जीवन व्यतीत कर रही है—सक्रिय जीवन व्यतीत करती होती है । आधुनिक भारत की युवा पीढ़ी को जिस यथार्थ को भोगना पड़ रहा है, वह भयंकर है । मौत और संकट के भयावह वातावरण का चारों तरफ साम्राज्य फैला हुआ है । मौत केवल प्राकृतिक कारणों से ही नहीं होती, प्राकृतिक मौत तो अनिवार्य होती है जिसका डर प्राय: किसी को नही होता । डरकर भी कुछ लाभ नहीं । दूसरे प्रकार की मौत जो प्राकृतिक मौत से भी कही भयानक होती है वह है, जीवन-मूल्यों के टूट जाने की मौत । आज की पीढ़ी अपने लिए किसी भी मूल्य को चुनने का अधिकार नहीं रखती, उसकी स्वाधीनता (वैचारिक, मानसिक) खत्म हो चुकी है । इसी मौत के कारण आधुनिक पीढ़ी संत्रास और यातना का अनुभव कर रही है और बेहूदी जिन्दगी व्यतीत करने के लिए मजबूर है ।

अस्तित्त्व की मजबूरी का मतलब निष्क्रियता नहीं है । अस्तित्त्व न तो निष्क्रिय है और न स्थिर । अस्तित्त्व के संकटबोध को झेलने का दूसरा अर्थ होता है—अपने बाहरी-भीतरी यातनाओं का स्वीकार करना । इसी स्वीकृति में ही जिन्दगी का चेतन-तत्त्व छिपा हुआ होता है । सही अर्थ में मृत्युबोध मृत्यु को झेलने की क्षमता पैदा करता है । संत्रास, क्षणवादिता, भयावहता, अकेलापन आदि आधुनिक मानव की उस अनिवार्य नियति का फल है, जहां अस्तित्त्व की दारुण यातना सर्वकालिक बन जाती है ।

यथार्थ के इस पहलू का चित्रण नई कहानी में बड़ी सफलता से हुआ है—हा

रहा है। मोहन राकेश की 'जख्म', 'बस स्टैण्ड की एक रात', राजेन्द्र यादव की 'दायरा', कृष्णबलदेव वैद की मेरा दुश्मन', 'दूसरे किनारे से', 'अजनबी' दूधनाथ सिंह की 'आइसबर्ग' और 'सपाट चेहरे वाला आदमी', निर्मल की 'लदन एक की रात', 'जलती झाडी', रवीन्द्र कालिया की 'अकहानी', 'काला रजिस्टर', सुरेश सिन्हा की 'कई आवाजो के बीच', गिरिराज किशोर की *'अलग-अलग कद के दो आदमी'*, श्रीकान्त वर्मा की 'सवाद', विमल की 'विध्वस' ऊषा प्रियवदा की 'नीद' काशीनाथ सिंह की 'सुख' आदि कहानियाँ भूत और भविष्य से कटे अपने वर्तमान के क्षणों को भोगने वाले व्यक्ति की कहानियाँ हैं।

५ जिन्दगी शाश्वत यथार्थ की प्रतीति : कहानियो के बहुचित्रित संदर्भ

जिन्दगी के सकट-बोध *की यातना* को भोगता हुआ आधुनिक व्यक्ति जिन्दगी से पूर्णत कटा हुआ नही है। मृत्यु-बोध, सत्रास की भयावह यातनाओ को भोगता हुआ जिन्दगी के रहस्य को पाने की कोशिश कर रहा है, वह जीना चाहता है, जीवन से चिपका रहना चाहता है। जिन्दगी की यह जिजीविषा नई कहानी के उन *अधिकाश पात्रो मे मौजूद है जो अपनी सीमित जिन्दगी मे* जीवन-बोध के रहस्य को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन व्यक्तियो का जीवन औसत प्रकार का है, लेकिन उनकी यह सीमा ही उनकी उपलब्धि है। जिन्दगी की अनेक-विधि बाधाओ के आवर्त म जीवन के उन केवल क्षणो का वे आनन्द लेते हैं जहाँ पहुँच कर मनुष्य केवल *'मनुष्य'* रह जाता है, *अपने ऊपर के* हर बोझ को उतार फेंक देता है। ऐसे समय उसकी शारीरिक-मानसिक विकृतियाँ, सामाजिक-राजनीतिक पोजिशन आदि आप ही आप गल जाते हैं। झूठी प्रतिष्ठा, नाम, प्रसिद्धि आदि बहिर्गत स्तरो के आधार पर मनुष्य कब तक जी *सकता है ? एक स्तर ऐसा होता है जहाँ ये सारे बहिर्गत केवल उतर जाते हैं।* फिर भी मनुष्य जीना चाहता है। जीने की दुर्दम्य इच्छा मृत्यु को झेलने की क्षमता प्रदान करती है।

जिन्दगी को जीना इतना सरल नहीं है। जीनेवाला प्रत्येक व्यक्ति जीने के विविध बहाने ढूँढ़ता है और अपने अकेलेपन के एहसास को भूलने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी इस जिजीविषा के रहस्य को जानने के लिए वह अपने से और बाहरी दुनिया से लडता रहता है। इस प्रकार अकेलेपन को दूसरो के साथ जोड देता है। इस तरह हर आदमी अपने लिए जीता हुआ दूसरों के लिए भी जीने लगता है। जिन्दगी का शाश्वत यथार्थ किसी भी

बाहरी तत्त्व से जुड़ा हुआ नहीं होता। वह न तो धार्मिक-सांस्कृतिक श्रद्धा में होता है, न गृहस्थी के आकर्षणों में होता है, न सेक्स में होता है। ये सब उस यथार्थ के बाहरी भेस हैं। जिन्दगी की सारी कृत्रिम सामग्री की तह में एक प्रकृत बोध होता है जिसके साथ जुड़कर मनुष्य की अंतरात्मा मचल उठती है और इस समय जीवन की शाश्वत भूमि पर वह खड़ा रहकर जीने की कामना का आनन्द लेता रहता है। रहस्यवादियों ने आत्मा-परमात्मा के मिलन की बात कुछ इसी लहजे में कही है। बात रहस्वादी न हो जाय, इसलिए इतना ही कहना काफी है कि मनुष्य के जीने का रहस्य उसकी उस आस्था में है जिसे मृत्यु बोध भी खत्म नहीं कर सकता, उल्टे मौत का एहसास उसे जीवन के अधिक नजदीक ले जाता है।

अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन', 'जिन्दगी और जोंक', धर्मवीर की 'गुल की बन्नो, भीष्म साहनी की 'खून का रिश्ता', 'मार्कण्डेय की 'दूध और दवा', रमेश बक्षी की 'कुछ माँएँ, कुछ बच्चे', कमलेश्वर की 'नीली झील', रेणु की 'तीसरी कसम', निर्मल की 'परिन्दे', राजेन्द्र यादव की 'सम्बन्ध' और 'एक कटी हुई कहानी,' रेणु की 'लाल्पान की बेगम' और 'आदिम रात्रि की महक', कृष्णबलदेव वैद की 'दूसरे का बिस्तर', रवीन्द्र कालिया की 'क ख ग', ज्ञानरंजन की 'आत्महत्या' आदि कहानियाँ जिन्दगी के शाश्वत यथार्थ को सशक्त अभिव्यक्ति देती हैं।

हमने अब तक नई कहानी का वर्गीकरण लेखकीय संवेदनशीलता के आधार पर करते हुए कहानी के कुछ महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय सन्दर्भों का विश्लेपण प्रस्तुत किया है। इन सन्दर्भों में चर्चित सैद्धान्तिक भूमिकाओं का विश्लेपण प्रायोगिक स्तर पर हम करना चाहेंगे। इस विश्लेपण के लिए हमने जिन कहानियों को चुना है, जरूरी नहीं कि ये सारी कहानियाँ श्रेष्ठ कोटि की ही होंगी, प्रसिद्ध जरूर हैं और विशिष्ट केन्द्रीय संदर्भ की रचना के स्तर पर रूपायित करने में सक्षम हैं। हमने पहले कहा भी है, उसे फिर से दोहराना चाहेंगे कि ये कहानियाँ केवल चर्चित सन्दर्भों को ही व्यक्त नहीं करतीं, कई और संदर्भ इन कहानियों के साथ जुड़े हुए हैं। नई कहानी की एक महत्त्वपूर्ण विशेपता यह रही है कि वह अनेक-संदर्भ-सूचक है। श्रेष्ठ कलाकृति की यह भी एक पहचान है। हमने इन कहानियों के विश्लेपण में विशिष्ट संदर्भों के ऐतिहासिक विकास को सूचित करने का प्रयत्न किया है। इन प्रमुख संदर्भों के चुनाव में भी ऐतिहासिक क्रमिक-विकास का तत्त्व ध्यान में रखा गया है। इसका मतलब यह नहीं कि नई कहानी का विकास एक संदर्भ से फिर दूसरे

संदर्भ में और फिर तीसरे में क्रमशः होता रहा, बल्कि ये सारे संदर्भ समानान्तर चलते रहे। हिन्दी का कहानीकार बदलती हुई दुनियाँ का बोध समानान्तर रूप से करता रहा है और अपनी विशिष्ट संवेदनशीलता के अनुसार कुछ विशिष्ट संदर्भों पर अधिक हावी रहा है। हम इस समानान्तर रचनात्मक जगत से कुछ कहानियाँ चुनकर उनके विश्लेषण में एक संगति खोजने का प्रयत्न किया है।

६ संवेदनशीलता का विश्लेषण : कुछ कहानियों के संदर्भ में

१.स्थापित नैतिक बोध के विघटन की कहानियां

दो पीढ़ियों के पारिवारिक आदर्शों का फर्क : कटघरे [11]

स्थापित नैतिक बोध के अनेक स्तरीय विघटन के अच्छे-बुरे परिणामों को महसूस किया परिवार ने। मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया पारिवारिक आदर्शों के टूटने-जुड़न की प्रक्रिया में देखी जा सकती है। एक ही परिवार की दो पुश्तों के पारिवारिक-बोध में अंतर आ गया है, जिसके कारण दो पुश्तों में मानसिक संघर्ष की तीव्रता दिन-ब-दिन अधिक तीव्र होती जा रही है। परिवार में कुछ घटनाएं घटित होती हैं, जिनका आधार लेकर परिवारगत सदस्यों की प्रतिक्रियाएँ किस प्रकार पारिवारिक आदर्शों के फर्क को सूचित करती हैं इसका बड़ा मार्मिक चित्रण भीष्म साहनी की 'कटघरे' कहानी में हुआ है। पिता ने कटघरे जैसा स्थिर और परम्परागत जीवन व्यतीत किया है दोनों पति-पत्नी अपने बुजुर्गों के आदेशों का एवं संकेतों का सही-सही पालन करते रहे हैं। यहाँ तक कि पहली सुहागरात के समय भी उसने केवल पत्नी से उसका नाम पूछा था और वह रो पड़ी थी। उसके बाद की सारी क्रियाएँ इस तरह चलती रहीं जैसे इनकी रिहर्सल पहले हो चुकी थी। यहाँ तक की रोना सजाना और अन्त में पति का कहा मानना ये सब पद्मा ने उसकी मां के आदेश के मुताबिक किया था। अगले जीवन की सारी घटनाएँ निश्चित ढर्रे पर चलती हैं। शादी के फौरन ही बाद गृहस्थी की चक्की चलने लगी थी और इसमें वे दोनों अपनी-अपनी भूमिकायें अदा करने लगे थे। 'पद्मा गृहस्थी के साँचे में ढलने लगी थी। गृहस्थी का कटघरा भी वैसा ही

बाहर से बन्द और अनिवार्य था जैसा सुहागरात का वह कमरा, जिसे मां बाहर से बन्द कर गई थी।' बड़ी बेटी दिव्या पढ़ने लगी और शिक्षा के कारण उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व उभरने की कोशिश करने लगा। दिव्या शायद किसी के प्रेम में फंस गई थी और उसके नाम एक लिफाफा आ गया है। दिव्या की मां ने लिफाफा देख लिया, अपनी बेटी को खूब पीटा। 'ऐसी बेटी को तो जहर देकर मार डालना चाहिए--हमने भी जवानी देखी है। हमने तो ऐसी बेशर्मी की बातें कभी नहीं की थीं। बहुत पढ़ लिया, अब इसकी पढ़ाई छुड़ाओ और इसके ब्याह की चिन्ता करो--आजकल हवा में जहर घुला है।' पद्मा के ये वाक्य दो पीढ़ियों की प्रतिक्रियाओं के फर्क को सूचित करते हैं। दिव्या ने अपने मां-बाप के कटघरे को तोड़ा है। दिव्या का यह करना समय-संगत यथार्थ का एक पहलू है। पारिवारिक आदर्शों में और स्थापित नैतिक बोध में दरारें पड़ने की यह कहानी बड़ी प्रारम्भिक एवं स्थूल मिसाल है। किन्तु मूल्यों के विघटन का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ था। दिव्या ने उस समय जो क्रांति की थी, वह आज के सन्दर्भ में बहुत छोटी बात है। क्योंकि हर क्रांति परम्परा का अंग बनकर सामान्य घटना बन जाती है। 'दिव्या को काटो तो खून नहीं, उसने आंख उठाकर ऊपर देखा, वह मुझे बेहद डरी हुई जान पड़ी। उसकी बड़ी-बड़ी त्रस्त आंखों में मुझे कुछ वैसा ही भाव नजर आया, जो आज से बीस बरस पहले, उस सुहागरात को, भागते छिपते मेरी पत्नी की आंखों में रहा था।' पिता के ये वाक्य मूल्यों के संक्रमण की प्रक्रिया को और उसकी अनिवार्यता को सूचित करते हैं। एक पुश्त का जीवन कटघरा बन जाता है, दूसरी पुश्त उस कटघरे को तोड़ती है, शायद दूसरा कटघरा बनाने के लिए।

२. दो पुश्तों में स्वतन्त्र निर्णय की चेतना का स्वरूप : 'सुबह के फूल'[१२]

'कटघरे' की चेतना से महीपसिंह की 'सुबह के फूल' कहानी एक कदम आगे की चेतना का नुस्खेबाज विश्लेषण करती है। पारिवारिक आदर्शों के प्रभाव में परिवार के सदस्य मानसिक दासता से मुक्त नहीं हो सकते। स्वतन्त्र-निर्णय की क्षमता उनमें नहीं होती। इस दासता का अक्सर परिणाम यह होता है कि इनमें दबा हुआ व्यक्ति जीवन-मूल्यों से दूर चला जाता है उसका व्यक्तित्व बड़े-बुजुर्गों के हाथों अचेतन-सा दबा रहता है। अपने बुजुर्गों के उपकारों का बदला चुकाने के लिए ऐसे कृतज्ञ (?) सदस्य जिन्दगी के आकर्षक

क्षणों का चुनाव नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे चुनाव का आदेश उन्हें बड़े-बूढों द्वारा मिलता नहीं। समय निकल जाता है और फिर अपनी कर्तव्य परायणता की दुहाई देते हुए अपने आपको जीवन प्रवाह की परम्परागत धारा मे फेंक देते हैं। इसके विपरीत नयी पीढ़ी की आधुनिक दृष्टि है। आधुनिक बोध के आगमन के साथ पारिवारिक सम्बन्धों की व्याख्याएँ बदल गई हैं। नई पीढ़ी का बेटा अपने बाप के प्रति कृतज्ञता के बोझ से भीगी भावनाओं का इजहार नही करता। वह अपनी स्वतन्त्रता पर विश्वास रखता है। अपने लिए अपने मार्ग का चुनाव वह किसी दूसरो पर नही छोडता। नई पुश्त का लडका हो या लडकी अपनी जिन्दगी की दिशा स्वय निश्चित करते हैं। विवाह जैसी गम्भीर घटना मे तो वह किसी को भी मदाखलत बर्दाश्त नहीं कर सकता। पुरानी और नई पीढी मे यह फर्क है। स्वतन्त्र निर्णय न ले सकने के परिणामो और स्वतन्त्र निर्णय ले सकने के परिणामो के बीच उत्पन्न विरोधाभास को व्यग के स्तर पर इस कहानी मे व्यक्त किया गया है।

घोष बाबू प्रौढ हो गए हैं, फिर भी शादी नही कर रहे हैं। शादी न करने का कारण यह है कि उनके बडे भाई अब तक अविवाहित हैं। बडे भाई ने घोष बाबू को पढाया-लिखाया और परिवार की परवरिश की। जब तक बडे भैया की शादी नही होगी, घोष बाबू भला कैसे शादी करते! एक दिन ऐसा आया, जब घोष बाबू की किस्मत जागी। बडे भैया, घोष बाबू के लिए लडकी देखने गये। घोष बाबू बहुत खुश थे। इधर घोष बाबू के एक दोस्त जो नई पुश्त की आधुनिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं, अपने लिए लडकी देखने गए। लडकी देखने की घटना के बाद दोनो दोस्त मिले। घोष बाबू कुछ उदास दिखाई पडे। दोस्त ने पूछा 'क्यों क्या हुआ ?' घोष बाबू ने कहा 'क्या बताऊँ ? जिस लडकी को भाई साहब मेरे लिए देखने गये थे, वह उन्हें अपने लिए पसद आ गयी और उन्होंने उससे विवाह कर लिया है।' घोष बाबू ने अपने जवान दोस्त से पूछा कि उनका क्या हाल है ? तो दोस्त ने कहा कि 'क्या बताऊँ घोष बाबू, जिस लडकी को मैं देखने गया था, उसने मुझे नापसद कर दिया, शायद वह किसी और से प्रेम करती थी।' कहना नहीं होगा कि दोनों दोस्तों के जवाब दो पुश्तो की चेतना को और उसके अच्छे-बुरे परिणामो को व्यग्यात्मक भाषा मे सूचित करते हैं।

३. पारिवारिक शक्ति के हाथों नवचेतना की हत्या 'जहा लक्ष्मी कैद है'[१]

पुरानी श्रद्धाओं के परिणाम कितने भयंकर हो सकते हैं इसकी एक झलक 'सुबह के फूल में' देखने को मिलती है। परम्परागत धारणाओं का लाभ उठाकर स्वार्थांध तथा कथित बुजुर्ग अपने स्वार्थ के लिए क्या नहीं करते इसका बड़ा दर्दनाक चित्रण राजेन्द्र यादव की 'जहां लक्ष्मी कैद है' कहानी में प्रस्तुत हुआ है। पुरानी धारणाएँ कितनी स्वार्थमूलक है, कितनी भयंकर हैं, कितनी झूठी हैं और इन धारणाओं के चंगुल मे फंसे हुए नव-चैतन्य का गला कैसे घोंटा जाता है इसकी दर्दनाक कहानी लक्ष्मी' की विकृतियों में देखी जा सकती है। स्वार्थान्ध लाला रूपाराम अपनी इकलौती जवान बेटी लक्ष्मी को घर में रख लेता है, यह समझकर कि लाला की सारी दौलत बेटी के कारण ही जुटी रही है और बढ़ती रही है। अगर लक्ष्मी की शादी कर दी जाए तो लाला का दिवाला निकला ही समझो, जैसे उसके भाई का हाल हुआ। इसलिए जरूरी है कि लक्ष्मी' को लक्ष्मी की वृद्धि के लिए पिता के घर में ही रख लिया जाय। इस प्रकार लक्ष्मी अपने स्वार्थान्ध पिता के घर में कैद हो गई। उसका स्कूल बन्द कर दिया गया, उसे बाहर की हवा भी लगने नही दी जाने लगी। लक्ष्मी की उम्र पच्चीस-छब्बीस से ऊँची हो गई। 'लक्ष्मी' पर पहरा बिठा दिया गया। लाला घर में किसी को आने देता है न जाने देता है। लक्ष्मी खूब रोई-पीटी, लेकिन लाला ने उसे भेजा ही नही। 'लाला लक्ष्मी की हर बात पर पुलिस के सिपाही की तरह नजर रखता है। उसकी हर बात मानता है। बुरी तरह उसकी इज्जत करता है, उसकी हर जिद पूरी करता है, लेकिन निकलने नही देता।' लाला के मिस्त्री ने लाला के मुंशी गोविन्द को लक्ष्मी की यह कहानी सुनाई। मिस्त्री कहता है कि लक्ष्मी को अब दौरे पड़ने लगे हैं। ऐसे समय वह बुरी बुरी गालियां देती है, बेमतलब हंसती-रोती है, मारपीट करती है और सारे कपड़े उतार कर फेंक देती है, नंगी हो जाती है और जांघे और छाती पीट-पीट कर बाप से कहती है—'ले, तूने मुझे अपने लिए रखा है, मुझे खा, मुझे चबा, मुझे भोग ·····।

लक्ष्मी की इस विकृति के लिए कौन जिम्मेदार है ? उसका बाप, परम्परागत श्रद्धाओं का लाभ उठानेवाला राक्षस। लक्ष्मी की इस स्थिति को देख सुनकर कहानी के गोविन्द के मन में जो प्रतिक्रिया उठी, शायद यही प्रतिक्रिया किसी भी संवेदनशील पाठक की होगी। गोविन्द के मन में अपने-आप एक सवाल उठा- 'क्या मैं ही पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर

ऐसा व्याकुल हो उठा है, या औरों ने भी इस आवाज को सुना है और सुनकर अनसुना कर दिया है ? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज को सुनकर अनसुना किया जा सकता है ?' परपरागत 'टेबूज' को ठोकर मारने की क्षमता जब पैदा होने लगती है तब 'लक्ष्मी' की आवाज को अनसुना नहीं किया जा सकता।

४ परिवारगत मूल्यों के पराजय की कहानी 'वापसी'[१]

धीरे-धीरे परिवारगत नवचेतना की आवाज मे शक्ति आती गई और उसके साथ ही परपरागत धारणाएँ एक एक करके समाप्त होने लगी। जो शक्ति समूचे परिवार की सचेतना को अपनी मुट्ठी मे मसल देती थी वही शक्ति क्षीण होती गई। नई पीढ़ी क परम्परागत मूल्यों के पराजय की कहानी आरम्भ हुई। 'वापसी' के पिता गजाधर बाबू उक्त पराजय की यातना को भोगने वाले प्रतिनिधि व्यक्ति हैं।

गजाधर बाबू अपने परिवार के एक बूढ़े सदस्य हैं, जिन्होंने अपने परिवार को अपनी कमाई और कर्तृत्व से ऊँचा उठाया, आज स्वयं अपने परिवार के बीच *अस्थायित्व का अनुभव कर रहे हैं। वे रिटायर्ड स्टेशन* मास्टर हैं। नौकरी के दौरान अपने परिवार को छोड़कर कई वर्षों अकेले रहे है। उसी समय छुट्टी के दिनों मे जब भी घर जाते तो सारा परिवार उनकी उपस्थिति मे कितना खुश होता, गजाधर बाबू धन्यता का अनुभव करते। आज वे रिटायर हो गए हैं और अपने घर शीघ्र लौटना चाहते हैं। *आज उन्हें इस उम्र मे भी मारी सुखद स्मृतियां छेड़ रही हैं।* अपनी जवानी के दिनों का पत्नी का सौंदर्य तथा प्रेम उन्हे याद आता है। अब बच्चे पढ़े-लिखे हो गये हैं, एक की शादी भी हो गई हैं। लड़की कालेज मे पढ़ रही है। गजाधर बाबू आज बहुत सतुष्ट हैं और घर लौटने के लिए आतुर हैं। घर आते हैं। *आशाएं लेकर घर घर अपने ही घर मे उन्हें जगह नहीं है।* बेटा पिता के लिए अपनी बैठक मे जगह देना पसन्द नहीं करता, बहू को, ससुर की उपस्थिति खलती है, क्योंकि ससुर के सामने वह अपनी स्वच्छन्द चेतना को प्रकट कर नहीं सकती। लड़की अब पड़ोसियों के यहां जब चाहे तब जा नहीं सकती है। गजाधर बाबू की पत्नी ने इस वातावरण के साथ समझौता कर लिया है। वह अपने मन को तसल्ली देती रही है कि कुछ भी हो घर की मालकिन वही तो हैं। किन्तु गजाधर बाबू को इस परिवार मे कोई शरीक करना नहीं चाहता बल्कि एक जवान परिवार की खुशियों मे उनका अस्तित्व बाधा बना हुआ है। अब उनकी 'वापसी' ही परिवार मे

आनन्द और बहारें ला सकती है।

गजाधर बाबू ने वापस लौटने का निर्णय ले लिया और धीमे स्वर में अपनी पत्नी से कहा 'मैंने सोचा था कि बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद अवकाश पाकर परिवार के साथ रहूँगा। खैर, परसों जाना है। तुम भी चलोगी ? 'मैं' ? पत्नी ने सकपकाकर कहा, 'मैं चलूंगी तो यहां क्या होगा ? इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सयानी लड़की--' गजाधर बाबू का टांगा चल दिया। पत्नी ने अन्दर जाते ही बेटे नरेन्द्र से कहा 'बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।'

गजाधर बाबू की 'वापसी' उनके अपने लिए बड़ी यथार्थ है, ट्रेजिक है जरूर, किन्तु पिता के रूप में परिवार के परंपरागत शक्ति का अंत इसी प्रकार होना था, वह हो गया। पारिवारिक सम्बन्धों की बदलती हुई व्याख्या की सूचना यह कहानी हमें देती है। सुखी परिवार की व्याख्या बदल गई है, उसमें बूढ़ा पिता बाधा- स्वरूप ही है। पिता की वापसी करुणाजनक है, पर यह सचाई है। सचाई निर्मम होती ही है।

५. विगत मूल्यों की असारता : 'मलवे का मालिक'[१०]

पुरानी नैतिक मान्यताएँ टूट रही हैं, कुछ तो बिल्कुल ही नष्ट हो गई हैं, पर कुछ अब भी जर्जरी अवस्था में खंडहर के समान खड़ी हैं। इन जर्जर मूल्यों से चिपके रहने का आग्रह अपने आप में बड़ा करुण लगता है, जबकि बदलते हुए जीवन में कई नवीन मूल्यों के भवन खड़े हुए हैं। टूटा-गिरा मलवा अब इतिहास का हो चुका है। इस मलवे का वैसे कोई मालिक नही, पर फिर भी रक्खे पहलवान और बुड्ढा गनी इस पर अपना हक जता रहे हैं। विभाजन की विभीषिका ने एक तरह से सारी स्थापित व्यवस्था ही नष्ट कर दी है। इस ध्वंस के बाद नव-निर्माण की स्थिति में यह 'मलवा' बड़ा अजीब लग रहा है। मूल्य विघटन और नव निर्माण के बीच अपनी वृद्धावस्था को लिए खड़ा यह मलवा नई इमारतों के सौंदर्य को बिगाड़ रहा है, और खुद भी अजीब लग रहा है। अब मलवे के ढेर को हटा देना ही चाहिए।' यह मलवा ही टूटते और टूटे मूल्यों की सारी कहानी सुना देता है। रक्खे पहलवान की तरह हमारा एक वर्ग आज भी इन टूटे मूल्यों के मलवे पर उसे ही अपनी जागीर समझता हुआ बैठा है, जबकि वह मलवा न तो उसका है न गनी का, वह तो इतिहास का हो चुका है, अब तो उसे हटना चाहिए, क्योंकि यही इतिहास और युग जीवन की प्रतिक्रिया है।'[११]

६. पुरानी पीढ़ी की एकतर्फा दृष्टि 'चूहे'[१९]

नयी पुश्त में आधुनिक दृष्टि और स्वतन्त्र वृत्ति का संचार हो रहा है, किन्तु माता पिता जो पुरानी पीढ़ी के प्रतीक हैं, इस संक्रमण के आड़े बाधा बनकर आते हैं, वे अपने बच्चों को स्वतन्त्रता देना नहीं चाहते, किन्तु एक ओर अपने अधिकारों का प्रयोग करने वाली पुरानी पीढ़ी अपनी जिम्मेदारी को नहीं निभाती। बच्चे पैदा करने म उन्हें मजा आता है, पर सन्तानों को स्वतन्त्रता देते हुए, उन्हें हिचकिचाहट, चल्लाहट का अनुभव होना है। पुरानी पीढ़ी का यह डबल रोल इस कहानी म व्यंग विनोद के स्तर पर व्यक्त हुआ है। कुलबुलाते 'चूहे' सन्तानों का प्रतीक हैं। कहानी की नायिका 'सविता' अपने माँ-बाप के ढोंग को स्वयं देखती है, प्रकट करती है।

७. राजनीतिक आदर्शों की निरर्थकता 'दुःस्वप्न'[१८]

दूधनाथ सिंह की यह कहानी राजनीतिक आदर्शों का भंडा फोड़ती है और सिद्ध करती है कि इस क्षेत्र म भी, कितनी अराजकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद संवेदनशील व्यक्ति का जो भ्रमभंग हुआ उसके मूल म ये सब स्थितियाँ थीं जिनकी असारता एवं निरर्थकता को हमने देखा है। कहानी का नायक 'मैं' इस अराजकता में उलझा हुआ है, उसे भोग रहा है और अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कर रहा है। मनुष्य के सारे आदर्श, गुण और नैतिकता कितनी झूठ है, इनके पीछे कितना भयंकर मनुष्य ? छिपा हुआ है ! 'वे लोग' जो नए लड़के का इम्तहान ले रहे थे, उसका खून गर्म कर रहे थे—क्या कर रहे थे ? वे कौन सी नैतिकता चाहते थे ? सुबह-सुबह झण्डा लेकर कवायत करने वाले लोग, क्यों जमा होते हैं ? किशोर अवस्था के बच्चों को लेकर क्या करना चहते हैं ? और क्या ? सब मनोरंजन —'वह' बिचारा मर गया, उसे मारा गया। किसने ? उन्होंने उसे मारा जो खून गर्म करने की बात कर रहे थे।

नैतिकता और आदर्शों के दिखाव के पीछे कितनी क्रूरता छिपी हुई है इसका बड़ा निर्मम और तटस्थ वर्णन इस कहानी म है। घटनाएँ एक के बाद एक हटती चली जाती हैं। लेखक एक दुःस्वप्न, जैसे देख रहा हो और स्वयं उसका भागीदार हो।

८. राजनीतिक संस्थाएँ और स्वार्थ 'पेपरवेट'[१९]

लोकतन्त्र म प्रत्यक्ष जनता के कल्याण की अपेक्षा, व्यक्तिगत स्वार्थ, अहंकार एवं पोजिशन को बरकरार रखने की प्रवृत्ति पर तीखा व्यंग इस कहानी

में है मृणाल बाबू जैसा एकाध ईमानदार मिनिस्टर अपनी अकेली शक्ति के बल पर व्यापक अराजकता से लड़ नहीं सकता। अन्ततोगत्वा उसे मुख्यमंत्री की चाल का शिकार होना ही पड़ता है। समसामयिक राजकीय स्थिति का भयंकर यथार्थ, व्यंग के स्तर पर व्यक्त हुआ है। आदर्शवादी व्यक्ति अनादर्शों की भीड़ में यदि मजबूरन भीड़ का अंग नहीं हुआ तो आश्चर्य की बात नहीं।

९. नए नैतिक बोध की तलाश : 'प्रतीक्षा'[२०]

आधुनिक व्यक्ति, विगत सारे नैतिक मूल्यों की असारता का अनुभव करता हुआ एक ऐसे बिन्दु पर आकर खड़ा है जहां नीति-अनीति की सारी समस्याएँ लगभग समाप्त हो चुकी हैं। समाज जीवन के नैतिक-बोध से हट जाने के कारण आज का व्यक्ति एक भयंकर क्षति का अनुभव कर रहा है। इस क्षतिपूर्ति के लिए वह जिन्दगी की उस स्थिति से जूझ रहा है जहां प्रत्येक अवसर अवसरहीनता की स्थिति पैदा करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति एक साथ कई स्तरों पर जीने की कोशिश कर रहा है। कई तनावों, यातनाओं को एक साथ भोगता हुआ, आगे बढ़ रहा है या पीछे हट रहा है। किन्तु क्या मूल्यविहीनता की यह स्थिति अपने आप में किसी नए मूल्यों के उदय की स्थिति नहीं है ? 'अमॉरल' अवस्था एक अर्थ से किसी नए मूल्य की शुरुवात ही तो होती है। राजेन्द्र यादव की यह कहानी जीवन के इस 'व्हयूम' को ही सूचित करती है। कहानी की नायिका गीता कई प्रकार के तनावों को भोगती है। नंदा के प्रति उसका समलिंगी आकर्षण, और कभी हर्ष के प्रति उसका तादात्म्य कई अन्तरद्वन्द्वों को व्यक्त करता है। कहानी का कोई भी एक पात्र दूसरों से किसी भी नैतिकता-बोध से जुड़ा हुआ नहीं है। फिर भी किसी भी पात्र में पापबोध जगता नहीं है। सब पात्र मूल्यहीन भूमि से आगे 'अमॉरल' की 'नो मैन्सलैंड' पर खड़े हैं। किन्तु अनजाने ही ये सब लोग नए नैतिक बोध की तलाश में हैं। किसी ऐसी भूमि की प्रतीक्षा है उन्हें जहां वे विगत मूल्यों की चुंगुल से निकल कर नए मूल्यों का स्वीकार कर सकें।

कहानी की नायिका गीता द्वारा लेखक ने सामाजिक-मानसिक स्थितियों का अन्तर्द्वन्द्व व्यंजित किया है जिससे यह 'प्रतीक्षा' केवल गीता की नहीं हमारी है, आधुनिक समाज की है।

१०. प्रजा सत्ता नहीं, झुण्ड-सत्ता : 'प्रजासत्ता'[२१]

सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर तेजी से बदल ही रहे हैं। नैतिकता के माप एवं मान भी बदल गए हैं। राजकीय और सामाजिक स्तर

पर इस देश ने प्रजासत्ता का एक महान् प्रयोग किया है। हमें भास हुआ कि अब जनता का राज्य स्थापित हुआ है, सब आलवेल होगा। चारों तरफ समानता का राज्य होगा। पर हमारा भ्रम भग हुआ। प्रजासत्ता प्रजा की सत्ता नहीं रही, उसका अर्थ बदलकर क्षुण्ड-सत्ता मे परिणत हो गया। यह क्षुण्ड-सत्ता कुछ ही सशक्त (आर्थिक एव शारीरिक) हाथों में केंद्रित हुई। केवल सामाजिक स्तर पर ही नहीं, नैतिकता के स्तर पर भी यही हुआ। प्रजासत्ता अराजकता मे बदल गई और किसी निश्चित अनुशासन का अभाव सम्पूर्ण समाज मे व्याप्त हो गया। जिसकी चलती है, उसके पीछे सब कुछ, फिर तो सारे पापकर्म भी जायज माने जाते हैं। प्रजासत्ता के बदले हुए अर्थ के प्रतीक को लेकर रेणु ने नीति-अनीति की समस्या को इस कहानी मे बडे साहस के साथ उठाया है। ऐसी सत्ता मे जब नेता (माँ-बाप) अपनी बेटियो को बेचते हैं, तब अनु-यायी (बेटा) नेता के कदमो पर कदम रखकर क्यो न चलें ? हाँ कुछ दिनो तक अनुयायियो के मन मे हल्की आदर्शवादिता रह सकती है। वे कुछ घब-राते भी हैं, हिचकिचाते हैं, अपनी ओर से नेता को समझ देने की नाकाम कोशिश भी करते हैं। पर जब उनकी सारी कोशिशें बेकार हो जाती हैं, तब उनकी आदर्शवादिता हवा हो जाती है, और वे स्वय नेता की नीति का अनु-सरण करने लगते हैं।

कहानी का नायक 'मैं' अत मे अपने नेता (माँ-बाप) का सच्चा अनुयायी बन जाता है। अपनी बहनो की अनीति को, जिसके लिये माँ-बाप जिम्मेदार हैं, अब वह बर्दाश्त कर सकता है। अब वह स्वय पापबोध का शिकार नहीं। 'मैं सीढियों से नीचे उतर रहा हूँ, चोर की तरफ नही, एकदम निडर होकर • मैं चाहता हूँ कि माँ, बाबूजी, विमला, निर्मला सभी जाने कि मैं नीचे के उस कमरे मे जा रहा हूँ।' उस कमरे म दो मर्दों को धोखा देकर भाग आई जवान लड़की सोयी हुयी थी।

उपर्युक्त कहानियों के अतिरिक्त उषा प्रियवदा की 'जिन्दगी और गुलाब के फूल'[22] कहानी जिन्दगी के उस कटु व्यावहारिक सत्य को प्रकट करती है, जहाँ पारिवारिक सम्बन्धो की सारी पुरानी व्याख्याएँ ही बदल गई हैं, वहाँ माँ-बेटा या बहन-भाई के वे भीगे भीगे सबध नही रह सकते। जिन्दगी बहुत 'बिटर' है, व्यावहारिक है। माँ या बहन का प्यार तभी पिघ-लता है जब लड़का आर्थिक रूप से परावलबी न हो। वरना निकम्मा लड़का अवसाद के क्षणों में किसी चमन मे जाकर भूखा पडा रहे तो माँ उसे कोई ढूँढने नहीं आएगा।

राजेन्द्र यादव की 'अपने पार'[२३] कहानी समाज की उस विकृत स्थिति पर प्रकाश डालती है जहाँ नैतिक बोध पूर्णतः समाप्त हो गया है। पारिवारिक संबंधों में भयंकर तनाव उपस्थित हो रहे हैं। व्यक्तिवादिता के प्रभाव में प्रत्येक व्यक्ति अपने पार जाने की कोशिशों में है, जिसके कारण वह कहीं भी जुड़ा हुआ नहीं है। कटे रहने की यातना और जुड़ने की अकुलाहट इस कहानी में व्यक्त हुई है। पति के सही प्यार से अछूती पत्नी, पिता के सही प्यार से अछूता लड़का, और पत्नी के सही प्यार से वंचित पिता अपनी-अपनी जगह कुछ चाहते है, पर पा नहीं सकते। सब ओर जैसे 'इम्पोटेन्सी' नपुंसकता आ गई-सी लगती है। आधुनिक परिवार का और उस आधुनिक समाज का जिसका अंग यह परिवार है, बड़ा सत्य चित्रण 'अपने पार' में हुआ है।

स्थापित नैतिकता के विघटन के कुछ प्रमुख सूत्रों का विश्लेषण ऊपर की कहानियों में प्रस्तुत हुआ है। परिवार, राज्य, धर्म आदि सामाजिक संस्थाओं का आधुनिक रूप क्या है, पहले क्या था आदि प्रश्नों को लेकर इन कहानियों में विगत मूल्यों की निरर्थकता का ही चित्रण प्रस्तुत हुआ है। मूल्यों के इस बिखराव में स्त्री-पुरुषों के बदलते रिश्तों का हम विश्लेषण करना चाहेंगे।

ब. बदलते स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की कहानियाँ

१. पत्नी का चारित्र्य और पति का चरित्र : 'राजा निरबंसिया'[२४]

परंपरागत विश्वासों के अनुसार स्त्री-चरित्र की पवित्रता का सारा सिला (क्रेडिट) पुरुष को ही मिलता था, और अपवित्रता का इल्जाम स्त्री के मत्थे मढ़ने की परंपरा हमारे समाज में चली आयी है। कमलेश्वर की यह कहानी उक्त परंपरागत विश्वास को गलत साबित करती है। एक कहानी के साथ दूसरी कहानी चलती है, एक राजा की कहानी और दूसरी वर्तमान के इन्सान की कहानी। दोनों कहानियाँ एक दूसरे को सार्थकता प्रदान करती हुई आगे बढ़ती हैं। दोनों कहानियों में घटनाओं की समानता की अपेक्षा दृष्टिकोण का विरोध अधिक तीव्र और अर्थपूर्ण होता जाता है।

रानी के सतीत्व की परीक्षा राजा निरबंसिया ने ली, रानी परीक्षा में खरी उतरी। पर इधर वर्तमान का राजा (जगपति-मोहरिर) ही दोषी है जिसने अपने स्वार्थ के लिए अपनी रानी चंदा को बच्चनसिंह कम्पाउंडर के हाथों बेंच दिया है। चंदा के निर्दोष चरित्र की कौन दुहाई देगा ? जब राजा का चरित्र ही दोषपूर्ण है तो रानी चंदा की तथाकथित चरित्र विहीनता का

जिम्मेदार वह राजा ही है । स्त्री-पुरुष सबधो मे अब अकेली स्त्री या अकेला पुरुष परिवार के अच्छे बुरे परिणामों का जिम्मेदार नही होता, इस सत्य को गल्प और कहानी के समानातर प्रयोग से व्यक्त किया गया है ।

२. स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में हीन-ग्रंथि का भाव । 'टूटना'[२१]

शिक्षा और आधुनिक दृष्टि के कारण स्त्री-पुरुष अपने जीवन के मोड स्वय निर्धारित करने लगे हैं । हर स्त्री अपना जीवन साथी ढूढने का अधिकार रखती है । इस चुनाव मे गरीब-अमीर जात-परजात आदि भेद लगभग मिट चुके हैं । आधुनिक युग मे इस प्रकार के वैवाहिक उदाहरण कई हैं । किन्तु जीवन मे सुखी होने की समस्या यही हल नहीं होती । स्त्री पुरुष अपनी-अपनी जगह जिन सस्कारों में पले हुए होते हैं, उनकी जड़ें काफी दूर तक फैली हुई होती हैं । विवाह के पहले लड़की जिस वातावरण मे और जिन सस्कारो मे पली हुई होती है, यदि वह अपने पति के व्यक्तित्व से उन सस्कारो के कारण मेल नहीं खा सकती तो नई तरह की कई समस्याएँ पैदा हो जाती हैं । पति-पत्नी का वैवाहिक-जीवन केवल शिक्षा-विषयक या सौंदर्य आदि की समानता के कारण पूर्णत सफल होता ही, ऐसा नही है । इस सफलता के लिए सस्कार-गत समानता आवश्यक होती है, वरना दोनो अपनी-अपनी जगह हीन ग्रथि के शिकार हो जाते हैं । यदि दोनो में से कोई एक-एक समझौता कर ले तो जैसे-तैसे निभ जाती है, पर जैसे-तैसे निभना व्यक्तित्व को खडित करना ही है, जिसके लिए न तो आधुनिक युवक तैयार है न आधुनिक युवती । सस्कार-गत असमानता के कारण पति पत्नी सबधो मे पैदा होने वाली समस्या का एक महत्वपूर्ण कोण राजेन्द्र यादव की 'टूटना' कहानी में स्पष्ट हुआ है ।

गरीब घर का, निम्न मध्यवर्गीय सभ्यता मे पला हुआ बुद्धिमान युवक किशोर अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण एक तहजीबयाफ्ता, उच्चभ्रू कमिश्नर की लड़की लीना को आकृष्ट करने मे सफल होता है । कमिश्नर दीक्षित साहब के विरोध के बावजूद लीना किशोर के साथ विवाह-बद्ध हो जाती है । किन्तु दोनो के बीच सस्कारगत विशिष्टता का जो अन्तर था, मिट नही रहा था बल्कि बढ ही रहा था । दीक्षित साहब ने लीना को विदा करते समय पाँच हजार का चेक देकर किशोर को हमेशा के लिये नीचा दिखा दिया था । यह बात किशोर को आखिर तक खलती रही । वह दीक्षित साहब की उन आँखों को कभी नहीं भूल सका—यह डर उसकी रग-रग मे व्याप्त हो गया । लीना के साथ पटना मुश्किल था । लीना के अंग्रेजी उच्चारण, मी मिक्सिंग, बड़प्पन का एहसास, सोचने-रहने के तरीके आदि से किशोर का मन असह-

मति प्रगट करने लगा। वह हीन ग्रंथि का शिकार हो गया। अपनी कमी के एहसास के कारण वह दिन-ब-दिन घँसने लगी। दोनों के बीच एक मनोवैज्ञानिक खाई निर्माण होती गई। समझौता करने के लिए कोई तैयार नहीं था। लीना अलग हो गई। किशोर हीनग्रंथि के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका। इस मनोग्रंथि ने उसे एक प्रकार की शक्ति दी। वह जिन्दगी से लड़ता रहा ऊँचा और ऊँचा बढ़ता रहा। धन, पोजिशन पद आदि भौतिक प्रतीष्ठा की अब कोई कमी नहीं रही। वह दीक्षित साहब को एक बार दिखा देना चाहता है कि वह क्या नहीं हो सकता ? अब वह एक बड़ी कम्पनी का जनरल मैनेजर है। आठ बरसों के बाद लीना का पत्र आया है। उसने लिखा है 'कान्ट वी फारगेट द पास्ट ?' उसे क्षण भर इस बात की खुशी हुई कि लीना ने हार मान ली है। लेकिन ताकत आजमाती पसीने से पसीजी एक सख्त हथेली का स्पर्श उसकी चेतना से ओझल नहीं हुआ। 'लीना के हाथ को मेज पर झुके हुए पाया है· · · ·फिर लगा वह हाथ लीना का नहीं, एक दूसरा सख्त हाथ है।' लीना तो सिर्फ मेज का तख्ता है और उस पर कोहनियाँ टिकाकर वह और दीक्षित साहब पंजा लड़ा रहे थे—अपनी-अपनी शक्ति आजमा रहे थे।

दूसरों द्वारा सौंपा गया भय कितना घातक और प्राणान्त हो सकता है—इसका अनुभव किशोर कर रहा था। उसकी सारी शक्तियाँ इन आठ बरसों में सिर्फ उसी भय से लड़ने में लगी रही हैं· · · नौकरियाँ बदलना, दुनिया की दृष्टि में सफल होते चले जाना तो सिर्फ उस भय के सामने बार-बार पराजित होकर नये-नये हथियारों से लड़ने जैसा रहा है। इस प्रकार अपनी इस कमजोरी का एहसास एक अनवरत, अघोषित युद्ध के समान हर पल अस्तित्व के रेशे-रेशे में चल रहा था। और उसकी उपस्थिति ही उसकी जीवनी शक्ति का पर्याय बन गई थी। लीना का पत्र और दीक्षित साहब के मृत्यु की खबर पाकर उसे लगा उसकी सारी ईर्ष्या, आकांक्षा समाप्त हो गई। उसे लग रहा था—वह बूढ़ा हो रहा है। अब नई कंपनी में बड़े पद पर जाने से क्या फायदा ? जिन्दगी का ढर्रा बदलने से क्या लाभ ? आखिर उसे अब जरूरत ही क्या है ? वह अब रह ही कहाँ गया है ? 'टूटने' की प्रक्रिया की भयंकर यातना को भोगता हुआ किशोर के रूप में आज का व्यक्ति अस्तित्व के सलीब पर टंगा है। भौतिक रूप से ऊँचा उठना आंतरिक रूप से टूटना ही है। वह हीन-ग्रंथि का शिकार है, यह उसकी नियति है।

३. पति की अधूरी दृष्टि मे पत्नी 'तीसरा आदमी'[२१]

बदलते स्त्री-पुरुष सम्बन्धो मे शायद अब भी पुरुष किसी हीन मनोग्रथि का शिकार है। वह स्त्री व्यक्तित्त्व की कद्र करता है स्त्री की स्वतत्रता का हिमायती भी है, किन्तु इस सहानुभूति की उसकी एक सीमा है। वह अपनी हद तक पूर्ण स्वतत्रता की माँग करता है पर स्त्री को पूर्ण स्वतत्रता देने के पक्ष मे अब भी नही है। मतलब यह है कि जब सेक्स स्वातन्त्र्य की वह बात करता है तब उसका मतलब होता है कि उसे अपनी पत्नी के अलावा और किसी भी स्त्री से साथ सबध रखने का अधिकार है। किन्तु अपनी पत्नी को दूसरे पुरुष के साथ सबध स्थापित करने की बात वह बर्दाश्त नही कर सकता। एक ओर स्त्री के स्वतत्र व्यक्तित्व का विकास और दूसरी ओर पुरुष का एकतर्फा दृष्टिकोण इन दोनो के तनावो के बीच आधुनिक स्त्री-पुरुष सबध पनप रहे हैं। कभी-कभी ये तनाव इतने तीव्र हो जाते हैं कि सबध टूट जाते हैं। कई बार इन तनावो के कारण पुरुष के मन मे अपनी पत्नी को लेकर निराधार भ्रम एव सदेह पैदा होने लगते हैं जिसका परिणाम सबधो के बिगडने में भी हो सकता है या पुरुष म हीनग्रथि के निर्माण मे भी हो सकता है। ऐसे समय पुरुष अपनी पत्नी के किसी दूसरे पुरुष से पवित्र सबधो का गलत अर्थ ले सकता है और हर शक के लिए कोई न कोई दलील ढूढता हुआ, अपने सदेह को जस्टीफाई करने की कोशिश करता है।

स्त्री पुरुष सम्बन्धो की इस समस्या को मनू भडारी की कहानी हल्के व्यग और हास्य के स्तर पर रूपायित करती है। सतीश इसी हीनग्रथि का शिकार है। आत्मविश्वास के खो चुकने के बाद सतीश अपनी पत्नी शकुन पर शक करने लगता है—उस पत्नी पर जिसने उसके जीवन मे प्यार दिया है, जो उसकी बाहो के आगोश के बिना एक रात भी नही सो सकती। दो साल तक कोई बच्चा न होने के कारण शकुन डाक्टर की राय लेती है। डाक्टर के बताने पर कि वह उसके पति को एक बार डाक्टर के पास मशवरे के लिए भेज दे, सतीश के मन मे स्वय के प्रति एक हीन ग्रथि घर कर लेती है—कभी कभी वह अपने आपको नपुंसक समझने लगता है। शकुन के एक परिचित लेखक आलोक जब उसके घर शकुन से मिलने आता है तब सतीश के मन म शकुन को लेकर कई गंदी शकाएँ निर्माण होन लगती हैं। वह दफ्तर मे निश्चिन्त बैठ नही सकता। लौट आता है, पर बन्द घर मे दाखल होने की हिम्मत नही करता। भ्रम और सदेह के भयानक चक्र मे सतीश इतना फँसता चला जाता है कि उसमे से निकलना उसके लिए कठिन हो जाता है। आलोक

और शकुन के बीच किसी भी सामान्य वार्तालाप का वह गंदा अर्थ लगाने लगता है। उसे लगता है वह सचमुच ही पौरुष-हीन है। कोई मर्द का बच्चा होता तो दो लात मारता दरवाजे पर और झोंटा पकड़कर बाहर कर देता शकुन को, और दो झापड़ मारता उस लफंगे को।

सतीश के सारे अस्तित्व को बुरी तरह मथता हुआ उसका शक पूरी तरह उसके मन में जम गया और उसे विश्वास होने लगा कि वह पुरुष नहीं है··· इसीलिए तो उसने स्वयं को डाक्टर को नहीं दिखाया······ठीक ही है, कौन औरत ऐसे नामर्द की पत्नी होकर रहना पसंद करेगी ? जब उसके निराधार शक को और कोई दलील नहीं मिलती तो संतोष कर लेता है कि आलोक ने यह सब 'ऐक्टिंग' की थी, जैसा कि स्वयं आलोक ने ही उसे बताया था कि लेखकों को कहानी लिखने के लिए 'ऐक्टिंग' करके अनुभवों की सामग्री जमा करनी पड़ती है।

इस प्रकार इस कहानी में नए जमाने के पति की मानसिक कमजोरी का एक पहलू स्पष्ट हुआ है। वस्तुतः सचाई कुछ भी नहीं होती, सब शक ही शक होता है और उसका भी कोई ठोस आधार नहीं होता। पर किया क्या जाय, पुरुष अब भी इस मानसग्रंथि से मुक्त नहीं हुआ है।

४ः संबंधों की विसंगति से उभरे पति के कुछ रूप

अप्रामाणिक पति : 'भविष्य के आसपास मंडराता अतीत'[२७]
लाचार पति : 'प्रतिशोध'[२८]
असमर्थ पति : 'सब ठीक हो जायगा'[२९]

युवा अवस्था में पत्नी के साथ आपसी संबंधों में कई बार दरारें पड़ने लगती हैं। वजह होती है पति की अप्रामाणिकता या पत्नी की बेइमानी। पर कई बार पति की अप्रामाणिकता ही सम्बन्धों के बिगड़ने का कारण होती है। स्वतन्त्र वृत्ति की स्वावलम्बी पत्नी, सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है और यदि कोई सन्तान हो तो, उस सन्तान को अपने आपसी सम्बन्धों की आँच न लगे, इसलिए बहुत प्रयत्न करती है। पत्नी यह जानती है कि इसका बहुत बुरा असर सन्तान के विकासशील व्यक्तित्व पर पड़ने वाला है। बदफैल पति अपनी युवावस्था में तो नहीं, पर वृद्धावस्था में पश्चाताप से जलने लगता है और अपनी सन्तान द्वारा आदर की कामना करता है किन्तु उसके मन में कहीं यह आशंका होती है कि उसकी सन्तान उसका स्वीकार करेगी या नहीं क्योंकि

उसने उस सन्तान की माँ को कभी मानसिक समाधान नहीं दिया था ।

'भविष्य के पास मंडराता अतीत' ऐसे ही एक पश्चाताप बूढे बाप की व्यथा को रेखांकित करती है । बूढा, विद्रूप पिता अपनी बच्ची बुलबुल को जो कानवेन्ट में पढती है, मिलने की इच्छा से वहाँ जाता है । बुलबुल ने अपने पिता को कभी देखा ही नही था । और अब बाप म वह शक्ति नहीं है कि वह बता दे कि वही उसका बाप है, जिसने उसकी माँ को बहुत दुख दिया है, कि वह अप्रामाणिक रही है ।

'प्रतिशोध' इस कहानी मे दूधनाथ सिंह ने मध्यवर्गीय जीवन की दर्दनाक कहानी सुनाई है । पत्नी की नौकरी पर परिवार की परवरिश करने वाला मध्यवर्गीय परिवार और उस परिवार का प्रमुख (?) सदस्य 'पति' लाचार विवश और मजबूर हो गया है । कई बार पत्नी के दफ्तर मे उसकी तनख्वाह लाने के लिए जाता है पर दफ्तर के तमाम लोग हर रोज एक ही तरह के उत्तर देते हैं और पति को लौट जाना पडता है । आफिस के सारे कर्मचारियो को उस जरूरतमन्द पति को सताने मे बहुत मजा आता है । लाचार पति चौथी बार भी नाकामी का आनन्द या दुख लेकर चला आता है । पर उसे आशा है जरूर कि वादे के मुताबिक एक न एक दिन चेक जरूर मिल जायगा । आखिरी बार 'पति' का धीरज टूट गया, वह गुस्से मे आ गया । बाबुओ ने देखा कि उनके नाटक पर कलक लगा जा रहा है उन्होने पैसे दिये, पर उसमे कटौती करने के बाद । जिस बिल की आशाओं पर पति कठिनाइयो का सामना कर रहा था, वह बिल इतना कटकर मिला कि न मिलता तो कोई गम नहीं था । प्रतिशोध की भावना उसके मन म जाग आई । उसने देखा 'उसके जैसे कई चेहरे हैं—उनमें उसे लगा 'पराभव म वह अकेला नहीं है' प्रतिशोध उसने ले लिया था । अस्तित्व की मजबूरी को ढोता हुआ जिन्दगी से लड रहा है, टूट रहा है । टूटना ही उसकी शक्ति है ।

'सब ठीक हो जाएगा' एक असमर्थ पति की कहानी है । वह असमर्थ है दोनो अर्थो से—शारीरिक और आर्थिक । इसका स्वाभाविक परिणाम उसके वैवाहिक जीवन पर पडता है । उसके एक पत्नी है—मिसेज मिश्रा । मिसेज मिश्रा अपने घर रात मे कई लोगो से उलझी हुई रहती हैं । पैसे कमाती हैं—और सब हो जाने के बाद छत पर बैठे मरीज मिश्रा को उठा लाती हैं । मिश्रा सब समझता है । सब देखकर भी अपनी 'रानी' पर गुस्सा नहीं करता । उसे लगता है, 'सब ठीक हो जायगा' । मिश्रा एक पस्त, बीमार, निकम्मा आदमी है, जिसमे औरत को तसल्ली देने की क्षमता नहीं है । जीना तो चाहता है ।

औरत को भी 'एक आदमी' की जरूरत है, एक नाम (अनाम) की। इसीलिए आदमी के मन में आशा है 'सब ठीक हो जायगा'। इस कहानी की मिसेज मिश्रा हमारे मन में अपने लिए सहानुभूति पैदा करती है और मिस्टर मिश्रा के प्रति हममें घृणा का भाव जागृत होता है।

५. सम्बन्ध और सम्बन्ध-विच्छेद : 'एक और जिन्दगी'[३०]

आर्थिक एवं मानसिक स्वतंत्रता के कारण स्त्री-पुरुषों का वैवाहिक जीवन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी जरूर हुआ है, पर इन्हीं गुणों के कारण कई बार दोनों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक दूसरे के आड़े आते हैं और डायवर्स जैसे कानूनी हल के तहत एक दूसरों के मार्ग से हट जाते है। किन्तु समस्या का अन्त यहीं नहीं होता। डायवर्स के कारण सन्तान आदि की कई समस्याएँ पैदा होती हैं जिससे छुटकारा पाना असम्भव-सा हो जाता है। 'एक और जिन्दगी' का नायक प्रकाश, निर्मला के लिए अपनी पत्नी बीना से डायवर्स ले लेता है। किन्तु दोनो के बीच में बच्चा एक ऐसे आकर्षण के रूप में खड़ा है, जिससे दोनों पूर्णतः अलग नहीं हो सकते। पूर्णतः जुड़ न सकना, और पूर्णतः अलग भी न हो सकने की द्वियात्मक व्यथा और अन्तर्द्वन्द्व की यातना आधुनिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की अवांछनीय पर अनिवार्य नियति है।

६. रोमांटिक भावबोध का मजाक : 'नौ साल छोटी पत्नी'[११]

आधुनिक शिक्षा के कारण स्त्री-पुरुषों के विवाह उम्र और मस्तिष्क की परिपक्वता के बाद ही होते है। इसलिए विवाह-पूर्व जिन्दगी की किशोर अवस्था में लड़के-लड़कियाँ रोमानी भावुकता के कई अनुभव लेते रहते है। कहीं-कहीं इश्क-विश्क के चक्कर में भी पड़ जाते है। दरअसल इस उम्र में किया हुआ इश्क सच्चे अर्थ में प्रेम की अनुभूति नहीं होता। इस रोमानी दुनिया में प्रेमपत्र, सिसकियाँ, आहें, रंगीन सपने आदि छायावादी–पलायनवादी 'चीजें' बहुतायत से पाई जाती है। आजकल शायद प्रत्येक लड़का-लड़की इस स्थिति का अनुभव करता ही होगा। अक्सर ऐसे रोमानी प्रेम परस्पर विवाह में शायद ही परिणत होते हैं। विवाह कहीं और ही हो जाता है। फिर विदाई के क्षण आते हैं जहाँ सिसकियाँ, आहें फिर से दुहराई जाती हैं। पुराने प्रेम-पत्र, तस्वीरें, आदि कुछ दिनों तक सुरक्षित रखे जाते है।

नई दृष्टि रखने वाले स्त्री-पुरुष बाद में शायद इस स्थिति को जानकर भी अनजान हो जाते हैं। क्योंकि उनमें विचारों की प्रौढ़ता तब तक आ जाती है। वे शक-शुबाह आदि बचकानी बातों से परे होते हैं। पुरुष को इस बात

का क्रोध या क्षोभ नहीं होता कि उसकी पत्नी विवाह से पहले कहीं प्यार-व्यार के चक्कर में पड़ी थी। उलटे इस बात का जब उसे पता चल जाता है, तो उसे पत्नी पर दया ही होती है। कहीं कहीं तो उसे मजाक भी सूझता है। उसे इस बात को लेकर पत्नी को सताने में मजा आता है। वह समझता है कि उसकी पत्नी अब भी छोटी है कि वह अब तक अपने 'छायावादी प्रेमो' के पत्र सभालकर रखती है और ऊपर से कोशिश करती है कि पति को इस बात का पता न चले। ऐसी लड़की अपने आपको अधिक विशुद्ध बनाने की फिक्र में दूसरे लड़कियों के चारित्र्य को लेकर बड़ी फब्तियाँ कसती है। इन हरकतों का प्रमुख कारण यह होता है कि वह अब भी किशोर अवस्था को पार नहीं कर सकी है।

रवीन्द्र कालिया की इस कहानी का नायक कुणाल अपनी पत्नी 'तृप्ता' को इसी वर्ग में रखता है। कुणाल के लिए तृप्ता अब भी 'नौ साल छोटी पत्नी' है। इस प्रकार रोमांटिक भावबोध का हास्य-व्यंगपूर्ण मजाक उड़ाने के लिए यह कहानी लिखी गयी है। यह कहानी सिद्ध करना चाहती है कि आधुनिक स्त्री-पुरुष अब उस स्तर को पार कर चुके हैं जहाँ किशोर अवस्था के रोमानी अर्थात् बचकाने प्रेम को लेकर नीति अनीति की धारणाएँ बनती हैं। आधुनिक दृष्टि के कारण स्त्री पुरुष संबंधों में अधिक उदारता, पक्वता और तटस्थता आई है।

७ स्त्री पुरुष सम्बन्धों का एक कमजोर पहलू 'घिराव'

आधुनिक स्त्री पुरुषो के व्यक्तित्वो का एक पहलू यह भी है कि वे अपने मानसिक स्तर पर एक अजीब सा स्थिति का निरंतर सामना करते रहते हैं। उनके व्यक्तित्वो में कई व्यक्तियो के सम्बन्धो की स्मृतियाँ, सफलता विफलता की विविध घटनाएँ, जय पराजय की स्थितियाँ चिपकी रहती हैं। उनके जीवन मे घिरने और मुक्त होने के अनगिनत क्षण आते जाते रहते हैं। प्रत्येक नए सम्बन्धो के साथ पुराने सम्बन्ध टूट से लगते हैं पर पूर्णत नहीं टूटते। उन विगत सम्बन्धो से वे सदैव घिरे रहते हैं। किन्तु हर नये सम्बन्ध से घिरने से पहले पुराने घिराव से छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है किन्तु जताया इस तरह जाता है कि पुराने सम्बन्ध बिल्कुल ही खत्म हो गए हैं, और नए सम्बन्ध ही केवल उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बने हुए हैं। किन्तु कभी कभी कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जो तह मे छिपे विगत-सम्बन्धों को सतह पर उठा लाती हैं और फिर बुरी तरह 'घिराव' का अनुभव किया जाता है।

महीपसिंह के इस कहानी की नायिका मुम्मी ओमी के प्यार में पड़ने से पहले अमर के प्यार में पड़ चुकी थी। अमर के प्यार का 'घिराव' कहीं दूर उसके मानस-स्तर पर गहरे पैठा हुआ है, पर वह ओमी के साथ रहकर यह जतलाने का प्रयत्न करती है कि अमर से सम्बन्धित उसकी सारी स्मृतियाँ अब तक खत्म हो चुकी हैं। मुम्मी और ओमी के प्यार का राज जब समाज के सम्मुख प्रकट हो जाता है तो 'ओमी' तटस्थ होकर यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि जैसे राज खुलने की वह घटना उसके साथ नहीं किसी और के साथ घटी है। शायद ओमी यदि भविष्य में किसी दूसरी स्त्री के साथ प्यार करने लगे, तो वह भी मुम्मी की तरह अपनी नई प्रेमिका को यह दिखाने का प्रयत्न करेगा कि उसका और ओमी का सम्बन्ध पूरी तरह खत्म हो चुका है। सच तो यह है कि दोनों अपनी विगत-स्मृतियों से बुरी तरह घिरे हुए हैं और आगे भी घिरे रहेंगे। 'घिराव' के चक्र से किसी भी स्त्री-पुरुष को मुक्ति नहीं मिल सकती। उसकी यह अनिवार्य मनोवैज्ञानिक मजबूरी है।

८. पिता और प्रेमी का फर्क : 'पिता और प्रेमी'[११]

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का एक स्तर ऐसा भी है जहाँ 'चाहना' के क्षणों में दोनों एक दूसरों के प्रति भयंकर आकर्षण का अनुभव करते हैं। वे 'चाहना' के दिन होते हैं। किन्तु जब इन गर्म और उत्साही क्षणों की परिणति विवाहोपरान्त नये 'जीव' के आगमन में होती है, तब पुरुष शायद अधिक अलिप्त होता है। उस पर नई तरह की जिम्मेदारी आयद हो जाती है—पिता और प्रेमी का फर्क स्पष्ट होने लगता है। प्रतीक्षा अब भी रहती है, एक–दूसरे के लिए नहीं, बल्कि एक–दूसरे के साथ, चाहना से मुक्त खाली! इस स्वाभाविक सत्य को निर्मल की यह कहानी बड़ी बारीकी से अभिव्यंजित करती है।

९. पति, पत्नी और तीसरा आदमी : 'त्रिकोण'[१२]

यौन-सम्बन्ध अब उस स्तर को प्राप्त कर चुके हैं—जहाँ उनकी पुरानी सारी व्याख्याएँ समाप्त हो चुकी हैं। चरित्र और चारित्र्य के प्रश्न सेक्स के साथ अब कतई जुड़े हुए नहीं हैं। यौनमुक्ति एक आवश्यकता बन गई है। फिर वहाँ यह प्रश्न उठता ही नहीं कि सम्बन्ध किसके साथ है। यौन संबंधों की पवित्रता वाली बात खत्म हो चुकी है। पर-स्त्री या पर-पुरुष के साथ सेक्स-सम्बन्धों के वे कारण भी खत्म हो चुके हैं जिनके सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक कारणों का आधार ढूँढा जाता था। पत्नी पति के अलावा दूसरे किसी पुरुष के साथ इसलिए सम्बंधित नहीं होती कि वह विकृत है, कि पति उसे सन्तोष नहीं दे

पाता, कि वह विषय लोलुप है, कि वह कमजोर है। उसका सम्बन्ध पर-पुरुष से किसी दूसरे ही कारणो से होता है। शायद अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता एव परिपूर्णता की खोज मे वह पर-पुरुष से सबधित होती है।

इधर पति अपनी पत्नी के इन सम्बन्धो से न तो परेशान होता है, न अपने को कमजोर महसूस करता है न क्रोधित होता है। उसे कही इस बात का सतोष होता है कि वह 'पति' के परम्परागत बोध से, और उसके बोझ से मुक्त है। अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा का आनन्द उसे मिलता रहता है। पति-पत्नी दोनो किसी अपराध-बोध या पापबोध से ग्रस्त नही होते, अपनी जगह दोनो परम्परा के बोझ से मुक्ति का आनन्द लेते हैं। इधर तीसरा आदमी जो किसी पति की पत्नी के साथ सेक्स-सम्बन्ध जोडता है वह भी उक्त प्रक्रिया मे से गुजर रहा होता है। सक्षेप मे आधुनिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धो मे एक नया-त्रिकोण उभर रहा है। पुराने 'शाश्वत प्रेम-त्रिकोण' की कल्पना से आधुनिक स्त्री-पुरुष मुक्त हो रहे हैं। पुराने त्रिकोण की एक भुजा प्रेमी की, दूसरी प्रेयसी की और तीसरी खलनायक की होती थी। इस त्रिकोण रूप सघर्ष मे खलनायक की मृत्यु और प्रेमी-प्रेमिका का पुनर्मिलन होता था। नये त्रिकोण मे न किसी की जीत होती है न किसी की हार। इस त्रिकोण की प्रत्येक भुजा त्रिकोण का हिस्सा होकर भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखना चाहती है।

बैद की 'त्रिकोण' कहानी स्त्री पुरुष सम्बन्धो की बिल्कुल नई दिशा की ओर सकेत करती है। किसी पति का दोस्त अपने दोस्त (पति) की पत्नी के साथ सभोग करता है जिसे पति देख लेता है। सभोग के उत्कट क्षणो मे खो जाने वाले दोनो 'पति' को नही देखते। इस घटना के सम्बन्ध मे तीनो ने अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं जिसमे यह सूचित किया गया है कि तीनो मे से कोई भी किसी पापबोध का अनुभव नही कर रहे हैं बल्कि तीनो अपनी-अपनी जगह व्यक्तित्व की सम्पूर्णता का आनन्द ले रहे हैं।

तीसरे आदमी के मुँह से अचानक निकल गया, 'देखो मैं बरसों से तुम्हारे लिए तडपता चला आ रहा हूँ।' यह उसने अपने दोस्त की पत्नी से क्यो कहा ? पता नही, कोई कारण नही था। उसकी अपनी पत्नी बदसूरत नही है, न वह स्वयं विकृत है, न यह औरत बहुत खूबसूरत है। वह न तो उसका इम्तहान ले रहा था, न अपना। उसने इस औरत के साथ इसके पहले मजाक भी किया था, यह मज़ाक भी बिल्कुल पहला भी नहीं था—कुछ नहीं। उसने उसे बाहो मे कस लिया। वह कसमसायी नही। उसके मुख से भूखी-सूखी आवाजें निकल रही थी। उनके जिस्म एक दूसरे को मथ रहे थे। भोग के इस

उत्कट क्षण की अनुभूति में दोनों अपना रिश्ता भी भूल गये। वह कोई भी औरत हो सकती थी या यह कोई भी मर्द। उस समय कोई भी आ सकता था—उस समय दोनों के जिस्म बागी हो चुके थे।

स्त्री के लिए, किन्तु यह जिस्म की बगावत नही थी। वह यह भी नही सोचती कि उसे उस पुरुष के बारे में कोई ख्वाहिश रही हो। यह भी नही कि उसने दया दिखाई हो, यह भी नही कि उसका पति कमजोर है। शरीर भी उसका तृप्त रहा है। पता नही क्या कारण था कि उसने उसे अपना शरीर समर्पित कर दिया। लगभग सारा समय वह अपने पति के बारे में सोचती रही यह नही कि उसके और उसके पति के सम्बन्धों में एकरसता आ गई है, क्योंकि सब सम्बन्धों में कुछ दिनों के बाद एकरसता आ ही जाती है। मन में लग रहा था कि यदि इस समय उसे पति देख ले तो उसे गहरी चोट पहुँचेगी। हर पत्नी कही न कही अपने पति को गहरी चोट पहुँचाने की ख्वाहिश दबाये रखती है। जरूरी नही कि उसे अपने पति से कोई खास शिकायत रही हो, कि किसी दूसरे से खास लगाव। कही यह इच्छा भी थी कि उस समय उसका पति आ जाये। क्या होगी उसकी प्रतिक्रिया, वह देखना चाहती है। वह स्वयं क्या करेगी—हँसेगी या कुछ और। कहा जा सकता है कि यह औरत विकृत है, भीतर से पति से असंतुष्ट है। कहा कुछ भी जा सकता है। पर यह सब गलत है। सिर्फ वह इतना जानती है कि उस घटना से वह क्षुब्ध नहीं, बल्कि खुश है। वह किसी अपराधभाव से पीड़ित नही है। इस घटना के प्रति उसकी कोई खास प्रतिक्रिया नही है, पर इस संबंध में वह सोचती है, तब उसे इत्मीनान जरूर होता है। एक मुस्कुराहट, जो उसकी अपनी है—उस मुस्कान को कोई नही देख सकेगा, न किसी ने देखा है। वह खुश है।

पति ने अपनी पत्नी को दोस्त के साथ देख लिया है। वह अपनी जगह खुश है। उदारता पर नही, न चालाकी पर। यह भी नहीं कि वह खुद अपवित्र है। बस यूँ ही—शायद खुश इसलिए है कि वह भिन्न है। शायद इस आत्म-सन्तुष्टि का कारण उसका अहम् हो--शायद उसे दुख पहुँचा हो, और वह खुश है। शायद बीमार जहनियत पर खुश है, अपने तर्क की अकाट्यता पर खुश है। शायद इस राज को जानकर अपनी उदारता प्रकट करने की ख्वाहिश पर खुश है। शायद बताना चाहता है कि यह देखकर भी उसमें कोई फर्क नहीं पड़ा, क्योंकि वह किसी सीमा में बँधना नही चाहता—उसके लिए

इसका कोई महत्त्व नहीं। न उसे हंसी आयी, न गुस्सा, न जलन, न शर्म। केवल यही ख्वाहिश कि वह भिन्न है–किसी सांचे मे नहीं बंध सकता। उसे खुशी है कि वह उस कड़ी आजमाइश से बेदाग बच गया है। इस सबके पीछे शायद वह अह, जो साधारण नहीं, बल्कि उल्टा अहम् है, जिसका सहारा उसकी खुशी के लिए चाहिए।

आधुनिक नारी का उभरता व्यक्तित्त्व

प्रस्थापित नैतिक–बोध के विघटन के कारण स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के कई स्तर उभर रहे हैं। इस प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि स्त्री और पुरुष अपने–अपने व्यक्तित्त्वो की खोज मे स्वनिर्मित और स्थिति–निर्मित अव–स्थाओ मे से गुजर रहे है। इस खोज की प्रक्रिया मे एक नई स्त्री का व्यक्तित्व उभर रहा है। अन्तर्बाह्य स्थितियों से जूझती–टूटती–जुड़ती नारी के कई चित्र नयी कहानी मे प्रस्तुत हुए हैं। हम यहाँ कुछ प्रसिद्ध कहानियो के सदर्भ मे आधुनिक नारी की उक्त यात्रा को स्पष्ट करना चाहेंगे।

१. अपने स्वतत्र व्यक्तित्व की खोज मे नारी को सबसे पहले उन परम्परागत मूल्यो के साथ झगड़ना पड़ा है, जिनके बोझ से दबी वह अपने स्व–निर्णय की शक्ति को खो चुकी थी। व्यक्तित्व–विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे नारी मे वह क्षमता एव शक्ति नहीं आई थी कि वह परपरागत आदर्शो से पूर्णत मुक्त हो सके। वह प्रयत्न करती रही पर हर बार नाकाम होती गई। अपने आप को कमजोर महसूस करती गई। हर बाहरी दबावो से मुक्त होने की कोशिशो मे लगी हुई, फिर भी विफल होती हुई, कमजोर स्त्री की कथा "एक कमजोर लड़की की कहानी"[15] इस कहानी मे मन्नू भडारी ने रूपायित की है। पिता, माता, परिवार और अन्त मे पति के सस्कारो से आक्रान्त यह कमजोर लड़की अपने प्रेमी के साथ हो लेने की हिम्मत नही कर सकती।

२ आधुनिक सामाजिक जागृति और नए नैतिक बोध के कारण नारी समस्या का रूप ही बदल गया है। आधुनिक नारी रूढ़िमुक्त होना चाहती है। किन्तु परिस्थितियाँ उसके प्रतिकूल हैं। वर्तमान की विषम परि–स्थितियो से विद्रोह करती हुई कृत्रिम बन्धनो के पीछे छिपी क्रूरता और सत्ताधीशो की वासनामय दृष्टि का भडाफोड कर रही है। 'ईसा के घर इसान'[16] कहानी मे चर्च का पादर आत्मशुद्धि के नाम पर सिस्टरो पर अपनी विकृत–वासना का प्रयोग कर रहा है। पादर के जाल मे कई फँस जाती हैं पर एंजिला विद्रोह करती है। अपनी मुक्ति की छटपटाहट को व्यक्त

करती हुए वह कहती है, "मैं अपनी जिन्दगी को, अपने इस रूप को चर्च की दीवारों के बीच नष्ट नहीं होने दूँगी। मैं जिन्दा रहना चाहती हूँ, आदमी की तरह जिन्दा रहना चाहती हूँ।" ईसा के घर इन्सान घुट रहा है, कितना विरोधाभास है इसमें।

३. 'कील'[11] महीपसिंह की यह कहानी स्त्री-मुक्ति की छटपटाहट और मुक्ति को रूपायित करती है। मुक्ति किससे ? पिता के अपने बेटी पर अतिरिक्त प्यार से। एक अफसर पिता अपनी⋯सुन्दर युवा बेटी मीना पर हद से ज्यादा प्यार करते हैं। दौरे में और अवकाश में उसे अपने साथ रखते हैं। और बराबर अपनी बेटी की प्रशंसा करते रहते हैं कि उनकी बेटी लाखों में एक है, उसके योग्य मैच मिलना मुश्किल है। मीना पिता की इस अतिरिक्त तारीफ का शिकार बन जाती है और कई पैगामों को अस्वीकृत कर देती है। वस्तुतः पिता कहीं न कहीं अपने मन की तह में घबराते हैं कि यदि मीना की शादी हो जाय, तो वह अकेले रह जायेंगे। मीना के बिना वे अपने अकेलेपन से लड़ नहीं सकेंगे। स्वार्थी पिता द्वारा की गई प्रशंसा से उत्पन्न भ्रम में मीना कई बरसों तक पलती रही, किन्तु उसे इस बात का पता चला कि इस झूठी तारीफ के कारण उसका जीवन समाप्त होता जा रहा है। वह स्वयं अपने ग्रंथि से मुक्त हो जाती है और पिता के उस पर लगाई हुई भ्रम की 'कील' को निकाल बाहर फेंक देती है।

४. भावनात्मक मैच न मिलने के कारण आधुनिक नारी जिन मानसिक व्यथाओं को भोग रही है उसका कलात्मक चित्रण मोहन राकेश की 'फौलाद का आकाश'[12] इस कहानी में हुआ है। शिक्षिता नारी का वैवाहिक जीवन योग्य पति के न मिलने के कारण व्यथापूर्ण बन जाता है। योग्य पति का मतलब खूब सूरत, पोजिशन वाला आदि नहीं, क्योंकि आधु-निक युग में अब यह समस्या लगभग खत्म हो चुकी है। हर स्त्री या पुरुष अपनी कुव्वत के अनुसार भौतिक एवं शारीरिक संपन्नता बिना देखे विवाह-बद्ध होते ही नहीं। समस्या तो बाद में पैदा होती है। स्त्री को यदि अपने वैवाहिक जीवन में पति के द्वारा भावनिक आत्मीयता न मिले तो उसकी जिन्दगी में 'फौलाद' का आकाश घिरा हुआ रहता है। मीरा और रवि की जिन्दगी ऐसी ही है। रवि लेबर अफसर है, सदैव आंकड़ों में उलझा हुआ रहता है। मीरा को वह मानसिक-तृप्ति नहीं दे सकता। उसकी हर प्रति-क्रिया ठंडी और तटस्थ होती है। उसकी प्रत्येक हरकत एक आटोमेशन है। यही कारण है कि मीरा को राजकृष्ण मिनिस्टर की भेंट में कुछ निराला ही

अनुभव मिला । वह राजकृष्ण की कुछ अतिरिक्त हरक्त को रोक नहीं सकी ।

५. स्त्री-विषयक नीति या अनीति की सारी व्याख्याएँ पुरुष-स्वार्थ को मद्देनजर रखकर शायद पुरुषों ने ही बनाई हैं । स्त्री समर्पिता है, पुरुष के भाग्य पर उसे जीना चाहिए । कमजोर पुरुष की सेवा करते हुए, मर जाना चाहिए । इस परम्परागत धारणा को आधुनिक स्त्री तोड़ रही है, पर कई बार उसके पल्ले विफलता ही पड़ती है । मन्नू भंडारी की 'तीन निगाहों की एक तस्वीर'[16] यह कहानी उक्त धारणा की असारता को एवं असत्यता को प्रकट करती है । एक स्त्री का जीवन पति की निगाह में परिवार की, और स्वयं उस स्त्री की निगाहों में अलग-अलग तस्वीरों को उभारता है । इन तीनों निगाहों में कौन सी निगाह सही है ? सही निगाह उसकी ही होगी, जिसने जिन्दगी भोगी है और अस्तित्व के लिए अंत तक लड़ती रही है । कहानी की नायिका 'मौसी' अपने पति की नजरों में कुलटा, परिवार की नजरों में पापिनी है किन्तु मौसी की डायरी में मौसी ने अपनी सचाई और मजबूरी को अंकित किया है । समाजगत-विरोध को सहती हुई जिन्दगी के रू-ब-रू खड़ी हुई एक नारी की कहानी परंपरागत धारणाओं को झूठ साबित करती है ।

६ आधुनिक युग में भी पुरुष अपनी पत्नी की खुशियों को या दुखों को समझने की कोशिश नहीं करता । शायद वह इस जरूरत को महसूस ही नहीं करता । वह आज भी स्त्री को अपनी खुशियों का खिलौना समझता है । उसके सोचने का ढंग ही कुछ ऐसा ही है । वह केवल अपनी हद तक सोचता है । गृहस्थी के पिंजड़े में फँसी हुई अपनी पत्नी को पिंजड़े से मुक्त कराने की बात उसे शायद सूझती ही नहीं । हाँ, जब अपनी खुद को खुशियों के लिए पत्नी को बाहर खुली हवा में निकालने की जरूरत पड़ती है तब बड़ी उदारता से अपनी पत्नी को ऐसे मौके देता है । बेचारी पत्नी पति की इच्छा को अनिच्छा से क्यों न ही स्वीकार कर लेती है । पति की खुशी में खुशी, उसके दुख में दुख, उसकी हाँ में हाँ मिलाकर पति की आकांक्षाओं की अधानुयायी बनकर रहने का अभिशाप आधुनिक युग की नारी आज भी कैसे ढो रही है इसका बड़ा मार्मिक चित्रण रामकुमार की 'समुद्र'[17] कहानी मे हुआ है ।

७ पुरुष अब भी अपने स्वार्थ एवं पूर्वाग्रहों पर खड़ा हुआ है । शायद स्त्री-चरित्र को लेकर उसके मन में आत्मविश्वास की कमी है । वह

स्त्री की पारंपरिक गुलामी पर चिढ़कर बात तो करता है, पर यह तब तक, जब तक यह बात उसके व्यक्तिगत स्वार्थ के आड़ न आये। प्रेमी अपनी प्रेमिका को बिलकुल 'औरिजिनल' एवं विशुद्ध देखना चाहता है। उसकी इच्छा होती है कि उसकी हर प्रेमिका वगैर तराशी हुयी होनी चाहिए, जब कि वह खुद तराशा हुआ होता है। स्त्री--पुरुष संबंधों की इस विसंगति पर सुधा अरोड़ा की 'वगैर तराशे हुए'[४०] यह कहानी सही जगह वार करती है।

८. दो पुरुषों के आकर्षणों के बीच एक ऐसी नारी है जो संयत है, फिर भी आंतरिक स्तर पर उबल रही है। समर्पित होने की कामना करती है पर पुरुष की तटस्थता के कारण संदेह के कगारों पर खड़ी है। कुछ विचित्र अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करती हुई आधुनिक नारी स्व–निर्णय के अपने अधिकारों से किस प्रकार वंचित रहती है, इसका बड़ा सूक्ष्म चित्रण नरेश मेहता की 'तथापि'[४१] कहानी मे हुआ है। विपिन और पाटल के बीच पारुल निर्णय–अनिर्णय की द्विधात्मक स्थिति का सामना कर रही है। वैसे वह अपने हर प्रश्न का उत्तर दे सकती है, पर हर उत्तर अधूरा लगता है। क्योंकि प्रत्येक उत्तर के बाद 'तथापि' जुड़ा हुआ है।

९. आधुनिक शिक्षिता नारी आर्थिक दृष्टि से परावलंबी न होकर भी पुरुष की आश्रित है। पुरुष के साथ उसकी जिन्दगी में कुछ ऐसे क्षण आते हैं जब उसे बड़ी भयंकर स्थिति का सामना करना पड़ता है। ऐसे समय एक ओर अपनी स्वतंत्र दृष्टि के कारण वह न तो किसी की आश्रित बनकर रहना चाहती है, न रहने दी जाती है। ऐसे समय कई बार वह बड़ी निर्ममता से सम्बन्ध–विच्छेद करते हुए नहीं घबराती है। यहाँ तक तो ठीक है। किन्तु इसके बाद की कई ऐसी समस्याएँ उसके सामने होती हैं, जिनसे जूझना उसके लिए असम्भव तो नहीं, कठिन जरूर हो जाता है। शायद, आधुनिक नारी की यही नियति है। उसका स्वावलम्बी होना ही उसके लिए अभिशाप है।

मंजरी को अपने पति विपिन की कुछ ऐसी योजनाओं का पता चल जाता है, जिसमें विपिन मंजरी से 'डायवर्स' लेना चाहता है। इस राज के फाश होते ही जाने-अनजाने दोनों के बीच तनाव शुरू हो जाते हैं। ये वे तनाव नहीं हैं, जहाँ रोना-धोना, क्रोध, आत्महत्या आदि भावनिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं, बल्कि इन तनावों में अधिक पक्वता है तथा एक दूसरे को समझने की क्षमता है। दुःख और व्यथा जरूर है, पर स्थिति को स्वीकार करने की तैयारी भी है। जिन्दगी का हर पहलू और हर संबंध एक समाधानहीन समस्या बन-

कर ही आता है, जिसे सुलझाया नही जा सकता है । केवल भोगा जा सकता है । दोनो एक दूसरो के निर्णय को उतनी ही तटस्थता से स्वीकृत कर लेते हैं । अपने निर्णय को व्यावहारिक रूप देने के लिए मजरी अपना सारा सामान बटोर कर छुट्टी पर निकल जाती है । दोनो के एक बच्चा भी है । विपिन ने बच्चे को बहुत प्यार किया था । मानसिक तनावो के ऐसे विकट क्षणो मे उसकी व्यावहारिक बुद्धि कुठित नही होती । प्रत्यक्ष विदाई के समय उनकी सूखी आँखों ने कोई नाटक नही किया । मजरी ने विपिन की स्मृतियो से युक्त सारी चीजें आँखो के सामने से हटा दी । वह अब अकेलेपन का जीवन व्यतीत कर रही है । उम्र बीत रही पर भावनाएँ तो आज भी अछूती हैं । वह कोशिश कर रही थी कि बच्चे के सहारे अकेले तन से लडा जा सके । पर जीवन की स्वाभाविकता किसी को भी स्थिर रहने नही देती । उर्मिला और यशोधरा के आदर्श मर चुके हैं । मजरी ने दो निर्णय लिए । अपने बेटे असित को होस्टेल भेजेगी और अकेलेपन को समाप्त करने के लिए सही और स्वाभाविक मार्ग ही अपनाएगी । उसकी जिन्दगी मे दिलीप आया और फिर वे ही क्षण, मदहोश कर देनेवाली रातें । नौकरी छोड दी गई । इतिहास को भुला दिया गया । किन्तु एक दिन असित की फीस को लेकर दिलीप ने आर्थिक कठिनता की बात उठाई और उसी क्षण मजरी के चेहरे पर हल्की-सी छाया तैर गई । अपनी परावलबिता का अभाव तीव्रता के साथ खुलने लगा । फिर से मानस की मेज मे दो दराजें बँठ गई । एक व्यक्तिगत और दूसरी पारिवारिक, जबकि पहले तीन थी । बाहर से कुछ नही था । पर अनजाने और अनचाहे भीतर से जैसे मन बँट गये थे । इस बार, हालाकि प्रसग और स्थितियाँ दूसरी थी, पर बँटने की पीडा वही थी, वैसी ही थी । 'विपिन ने अपने और मजरी के जीवन को कितने कौशल से टुकडो मे बाँट दिया था । आगे की उसकी सारी जिन्दगी इन टुकडो की अभिशप्त छाया मे कटगी । अब भी वह अपनी सपूर्ण जिन्दगी नही जी पाएगी । मनू भडारी की 'बद दराजों के साथ'[१७] इसी सत्य को प्रकट करती है ।

१० आधुनिक स्त्री का एक रूप विधवा का है, जो आधुनिकता के कई तत्वों को लेकर विकसित हो रहा है । वैधव्य अब घुट घुटकर जीने या मरने के लिए नही है । जीवन की स्वाभाविक वृत्तियाँ वासनाएँ, भावनाएँ दबाई नही जा सकती । अब पापबोध का अर्थ ही बदल गया है । समाज से डरने की बात दूर ही रही, अपने पुत्र-पुत्रियो के होने हुए युवा विधवा अपने-आपको रोक नही सकती । यदि इस स्थिति म बेटी रुकावट बनकर

आती है, तो उसे किसी वहाने अलग करने में कहीं भी हिचकिचाहट नहीं होती। वदलते सम्वन्धों में आधुनिक नारी की यही सच्चाई है। सुमी को अपनी विधवा माँ के अनैतिक सम्वन्धों का पता है। फिर भी वह अनभिज्ञ-सी वनकर माँ के प्रति आत्मीयता प्रदर्शित करती है। वह एक ऐसे विंदु पर पहुँच जाती है, जहाँ अलग रहकर, माँ को अधिक खुला वातावरण दे सके। अलग रहकर माँ-वेटी के सम्वन्ध कुछ ऐसे निर्मम एवं आलिप्त हो जाते हैं, जैसे दोनों में कोई रिश्ता ही नहीं रहा हो। कमलेश्वर की 'तलाश'[१३] आधुनिक नारी के इस अनिवार्य व्यक्तित्व-कोण को रूपायित करती है।

११. अपने पूर्ण व्यक्तित्व की खोज में नारी कई वार ऐसे विविध विन्दुओं पर आकर रुक जाती है, जहाँ उसके लिये यह फैसला करना कठिन हो जाता है कि उसका मार्ग किस दिशा को जाता है। आधुनिक नारी अव उस पारंपारिक पत्नी-वोध-से मुक्त हो गई है जिसमें केवल पतिव्रता-धर्म ही उसके जीवन का प्रमुख सार था। अव वह पति और प्रेमी इन दोनों में वैसे कोई भेद नहीं करती। पति के होते हुए किसी पर-पुरुष से प्रेम करना उसके लिये पतिव्रता-भंग नहीं है। यौन-भुक्ति जहाँ जीवन की आवश्यकता है, वहाँ एक ही पुरुष के साथ सारी जिन्दगी विताने में क्या स्वार्थ है। किन्तु ऐसी स्थितियों में आधुनिक नारी एक अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करती है और अनिश्चितता की यातनाओं को भोगती हुई, उसी निर्णय पर पहुँच जाती है, जो निर्णय उसका अपना होता है, उसकी अंतरात्मा का होता है। मन्नू भंडारी की 'यही सच है'[१४] यह कहानी आधुनिक नारी के उक्त अन्तर्द्वन्द्व को और उसके स्वाभाविक निर्णय को अभिव्यंजित करती है।

दीपा अपने दो प्रेमियों के वीच अनिर्णय की स्थिति का अनुभव कर रही है। पहले प्रेमी निशीथ से अपमानित होकर संजय के प्रेम में उलझ जाती है। कुछ दिनों वाद फिर से निशीथ से भेंट होने पर संजय को भूल जाती है। यह मानकर कि पहला प्यार ही सच्चा होता है। किन्तु निशीथ द्वारा उसका अपेक्षा-भंग होता है और फिर से संजय से प्रेम करने लगती है, यह मानकर कि पहला प्यार किशोर अवस्था की एक अपरिपक्व किंतु अनिवार्य स्थिति होती है। इसीलिए वह सच्चा नहीं होता। अनिश्चितता की इस अवस्था में सच क्या है, इसका उत्तर दे पाना कठिन है। निशीथ का प्यार सच्चा है या संजय का? या जो व्यक्ति उन उत्कट क्षणों के समय उसके सामने होता है उसका? सच तो यह है कि स्पर्श का क्षण ही सत्य है, वाकी सव वकवास। 'और मुझे' लगता है यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है। वह सव

झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था।" दीपा के ये वाक्य उस सत्य की ओर इशारा कर रहे हैं जो किसी भी बाहरी मूल्य को अस्वीकृत कर देता है। जिन्दगी की सचाई वर्तमान के उसी क्षण सत्य पर टिकी हुई है जिसका कोई ओर-छोर नहीं है।

ड पूर्ण व्यक्तित्व की खोज मे, जिन्दगी से कटा हुआ व्यक्ति

आधुनिक समाज-जीवन के लिये आधुनिकता की दृष्टि एवं नवीनता का बोध एक नए सकट बोध को जन्म दे रहा है। आधुनिक व्यक्ति एक ओर परंपरागत मूल्यो से मुक्त होता जा रहा है पर दूसरी ओर किसी भी नए मूल्य को स्वीकृत नही कर पा रहा है। शायद उसके सामने जिन्दगी का कोई मूल्य है ही नही। क्योंकि हर मूल्य उसके व्यक्तित्व को दबाना चाहता है। अत मूल्यहीनता की स्थिति उसकी नियति है। जिन्दगी उसके हाथो से जैसे फिसलती जा रही है। और एक अजीब रिक्तता को भोगता हुआ अकेलेपन के अभिशाप को वह ढो रहा है। जिन्दगी का सत्रास न जाने उसे कहाँ ले जायगा। इस स्थिति के कगर खड़ा हुआ आधुनिक व्यक्ति अतीत और भविष्य से बिल्कुल कटा हुआ है। अपने सीमित वर्तमान को भोगता हुआ अधेरे म कुछ टटोल रहा है। उसके सामने केवल शून्य है, फिर भी उसकी जिजीविषा खतम नहीं हुई है। नई कहानी मे ऐसे व्यक्ति के बहुचिचित सदर्भ अभिव्यक्त हो रहे हैं। हम कुछ प्रसिद्ध कहानियो के सदर्भ म इस नये व्यक्ति की जीवन-यात्रा को विश्लेषित करना चाहेगे।

१ जिन्दगी की विभीषिका को बडी तीव्रता से भोगने वाला मध्य-वर्गीय समाज सबसे अधिक जीवन के सत्रास से अभिशप्त है। मध्यवर्गीय जीवन मे पले हुए व्यक्तित्व झूठी प्रतिष्ठा को सभालने की नाकाम कोशिश करते हैं, जिससे कई बार उनके जीवन मे करुण अकुलाहट और दारुण दर्द की छाया फैल जाती है। राजेन्द्र यादव की 'दायरा'" एक ऐसे मध्यवर्गीय जीवन की करुणा बडी विनोद गर्भित भाषा मे अभिव्यक्त करती है। कहानी का नायक हरि सारे दिन नकली मुस्कराहटें, स्वागत, विदाइयाँ आदि करता फिरता है और शाम को सोने समय अपने शरीर के जाड जोड़ मे एक भयकर दर्द का अनुभव करता है। एक ओर झूठी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए डीगें मारनी पडती हैं, जिसका नतीजा यह होता है कि लोग उसकी डीगो को सही मानकर उसके गले पड जाते हैं। इसके अलावा खर्च और मेहनत इतनी हद से ज्यादा हो जाती है कि अपने लिये, अपने बच्चो के लिए उसे न वक्त मिलता है, न पैसा, न आराम।

२. परंपरागत नैतिक मूल्यों के दबाव में सचाई को स्वीकृत न करने की असमर्थता के कारण आधुनिक व्यक्ति के जीवन में सदा के लिए एक क्षति पैदा हो जाती है, जिसके कारण उस आदमी को एक अजीब-सी छटपटाहट गलाती रहती है आइसबर्ग की तरह। दूधनाथ सिंह की 'आइसबर्ग'[४१] यह कहानी प्रतीकात्मक रूप में आधुनिक व्यक्ति की छटपटाहट को रूपायित करती है। विनय इसी प्रकार की छटपटाहट का अनुभव कर रहा है। बड़े परिवार का सदस्य होते हुए भी पारिवारिक आनन्द से वंचित है। पहली ही रात पत्नी ने उसे सच-सच कह दिया, जिसके कारण वह चित्रा से अलग हो जाता है। सचाई को झेल न सकने की असमर्थता के कारण वह अपने परिवार से भी टूट जाता है। छोटा भाई, बड़ा भाई, बहन सब होकर भी जैसे उसका कोई भी नहीं है। वह सबको बुलाता है सब आते भी हैं। पर कोई उसके साथ अपने-पन से पेश आता नहीं। उसका घर जैसे उसके लिए एक होटल है। होटल के मालिक से उसका कोई रिश्ता नहीं है। विनय चाहता है कि उसके चारो ओर आदमी हों, ताकि वह अपने-आपको आदमियों के बीच महसूस कर सके। किन्तु उसकी इस अकुलाहट को समझने की कोई कोशिश नहीं करता। उसकी उपस्थिति में सब लोग विषयांतर कर जाते हैं। यहाँ तक कि छोटे बच्चे भी उससे नफरत करते हैं। भाई सुबोध जाते समय एक सौ पच्चीस रुपये का चेक देकर विनय को लज्जित करता है और उसका यह सुख भी छीन लेता है। जाते समय उसकी बहन चित्रा के मृत्यु की खबर देती है और वह अकेलेपन की यातना को भोगता हुआ घर लौट आता है।

३. जिंदगी के बढ़ते हुए संत्रास के कारण आधुनिक व्यक्ति एक अजीब-सी निरर्थकता का अनुभव कर रहा है। निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात'[४२] यह कहानी इस बोध को संवेदना और रचना के स्तर पर अभिव्यक्त करती है। लंदन की जगमगाती रात में तीन अलग-अलग देशों के युवक महाभयंकर रिक्तता-बोध से ग्रसित हैं। वे अपने को कहीं भी जोड़ नहीं पा रहे हैं। बेरोजगारी के कारण उनकी जिन्दगी में एक विचित्र-सी मस्ती जरूर आ गई है पर इस मस्ती का नशा क्षणिक है। व्यावहारिक जीवन उनके लिए एक अनोखी घटना है। यह तीनों बेरोजगार व्यक्ति लंदन की बुंद रातों में खो गये हैं। जो लोग, और जो बहुत कम हैं, इस बुंदी को पा सकते हैं, लंदन उन्हीं का है। जो उससे वंचित हैं, लंदन उनके लिए मौत का कुँआ है। तीनों एक दूसरों के संग होकर भी अचानक अकेले पड़ गये हैं। तीनों

मे से कोई एक, शेष मे से किसी एक को भी आपत्तियो से बचा नही सकता। वीती घडियो की एक भी स्मृति उनके इस अकेलेपन मे हाथ नही बँटा सकती। हर एक को स्वय का और स्वय से परे किसी दूसरे का डर लग रहा है। इस डर के कारण वे और भी अकेले होते चले जा रहे हैं। बाहर जगमगाती लदन की रात और भीतर इस जगमगाहट की क्रूरता से निर्मित डर इन युवको को खाये जा रहा है।

४ आधुनिक व्यक्ति के रिक्तता–बोध को अभिव्यक्त करने वाली निर्मल की और एक कहानी 'जलती झाडी'[76] प्रतीकात्मक ढग से आधुनिक जिन्दगी के क्षय को बहुचित्रित सदर्भो मे व्यक्त करती है। हर रोज किसी तलाश मे निश्चित जगह आकर बैठने वाला बूढा, पर हर रोज निराशा होकर लौट जाता है। रोजाना उसी जगह पर दौडते हुए आकर बूढे की निराश मुद्रा को देखने वाले दो लडके, उसी जगह झाडी मे यौन–मुक्ति का अनुभव करने वाले लडका और लडकी और स्वय कहानी देखने और भोगने वाला कहानी का नायक "मैं" एक ही जिन्दगी के अलग–अलग पहलू हैं। ये सब लोग कही भी जिन्दगी से चिपके रहने का आनन्द नही ले सकते हैं। कोई किसी के प्रति जवाबदेह नही है। इस सत्रास से किसी का छुटकारा नही हो सकता। "मैं" भागने लगता हूँ और पीछे मुडकर नही देखता। मेरे पीछे झाडी है और उसकी वीभत्स मुतेली हँसी, जो देर तक मेरा पीछा करती रही है, लहू के कतरो की तरह मेरे भागते पैरो के पीछे टपकती रही है·····"मैं" का यह अनुभव अपने–आपमें काफी स्पष्ट है।

५. आधुनिक जिन्दगी के सारे सूत्र झुलस गये हैं। कही भी आर्द्रता नही रही। सब सवाल स्थगित हो चुके हैं या बहुत पीछे छूट गये हैं। धीरे–धीरे फीके पडते जा रहे हैं। कृष्ण बलदेव वैद की 'अजनबी'[77] यह कहानी अपने नायक के अनुभवो के आधार पर जिन्दगी की अजनबियत को स्पष्ट कर रही है। कहानी का नायक अनुभव कर रहा है कि उसे किसी से भी कोई बात करके निराशा ही होती है। बीच मे अचानक उठ जाने की ख्वाहिश होती रहती है। हर बात बेईमान और खोखली प्रतीत होती है और उस प्रतीति की सचाई पर सन्देह होने लगता है। उस सन्देह को दूर करने के लिए कहानी का नायक बार–बार अपनी खामोशी और अकेलेपन का अनादर करने लगता है। हर कोशिश के बाद उसका सन्देह और पक्का हो जाता है। उसके समेत सभी लोग अपना अधिकतर समय परस्पर बेईमान सवालों और अधूरे सम्बन्धो में नष्ट करते रहते हैं। उनमें अल्पसंख्या उन बदकिस्मतो की

है, जो इस व्यर्थता को पहचानने के लिए दूषित हैं—नायक उनमें से एक है। कहना नहीं होगा कि कहानी के नायक के रूप में आधुनिक व्यक्ति ही बोल रहा है।

६. पूर्ण व्यक्तित्व की तलाश में निकला हुआ आधुनिक व्यक्ति जीवन की भीड़ में खोता हुआ चला आ रहा है। उसे अपनी 'पहचान' (आइडेंटिटी) नहीं दिखाई दे रही। कमलेश्वर की "खोई हुई दिशाएँ"[५] आधुनिक व्यक्ति की इस निरर्थक खोज को अभिव्यंजित करती है। आधुनिक व्यक्ति के रूप में कहानी का नायक चन्दर अपने--से परिचित की तलाश में इधर--उधर घूम रहा है, किन्तु जिन्दगी के उफनते सैलाब में उसका परिचित उसे नहीं मिल रहा है! यहाँ तक कि "यह" "उसे" भी नहीं मिल पा रहा है। चन्दर को अपने वालों की खोज है। वह परिचय की माँग करता है, प्रतीति चाहता है। किन्तु हाल यह है कि चौक, चमन, होटल, दोस्त यहाँ तक कि अपनी बीवी उसे पहचान नहीं पा रही है। उसकी प्रेमिका इन्द्रा ने उसके साथ रहने की कसम खाई है पर वह भी उसे पहचान नहीं पा रही है। अपनी बीवी निर्मला से संभोग करते समय उसे भ्रम होता है कि वह उसे पहचानती है पर उन उत्कट क्षणों की समाप्ति पर फिर से वह अपने--आपको अकेला महसूस करता है। एक विलक्षण अजनबी सम्वेदन का अनुभव उसे होता है। उसे लगता है उसके अतराफ का हर आदमी हर किसी दूसरे से पूछ रहा है "मुझे पहचानते हो? मुझे पहचानते हो?" सारी जिन्दगी जैसे एक भयानक यांत्रिकता से ग्रसित है। सबके मिलने का एक निश्चित समय है। हँसने--बोलने की ट्रेनिंग है, यहाँ तक कि अपने आपसे मिलने के लिए "अपाइंटमेंट" लेना पड़ता है। झुंड का एक अंग होते हुए भी झुंड से निकाल कर फेंका हुआ चन्दर आधुनिक इन्सान की ट्रेजिडी को देख रहा है, भोग रहा है।

७. आधुनिक मनुष्य कुछ ऐसी स्थिति से गुजर रहा है, जहाँ का प्रत्येक क्षण उसे रिक्तता का बोध दे रहा है। आधुनिक व्यक्ति की यह शोकांतिका है कि वह सच बोलना चाहता है, ऐसा सच जिसका जायका खराब है। क्योंकि सच कभी कड़ुवा नहीं होता। उसकी जिन्दगी महज वक्त काटने के लिए है। वह मर भी नहीं सकता और जी भी नहीं सकता। स्थिति को भोगता हुआ, जिन्दगी की हर व्याख्या की असारता का अनुभव करता है। कभी कभी अपनी ट्रेजेडी या कामेडी किसी श्रोता को सुनाना चाहता है, किन्तु कुछ देर के बाद श्रोता से भी वह ऊब जाता है। उसे

लगता है सब सम्बन्धियों को गोली मार दे, कम से कम गोली के डर से सहमे हुए उनके चेहरे तो देखें और उनके डर पर हँसकर खुद अपने ऊपर गोली चला दें। शायद अपनी हद तक सबको मार दें। जीवन की इस असारता को कृष्ण बलदव वैद की 'दूसरे किनारे मे'[४१] यह कहानी बडी बारीकी से व्यक्त करती है।

८ भीड में खोये हुए और अपनी पहचान की खोज में घूमते हुए आधुनिक व्यक्ति की बिफल यात्रा को रवीन्द्र कालिया की "अ–कहानी"[४२] मूर्त करती है। इस कहानी के सारे पात्र अपनी पहचान की खोज मे बस चले जा रहे है। इनका कोई व्यक्तित्व नहीं है। इनके सारे सभाषण बेईमानी से भरे और बेतुके–से लगते हैं। बस गुजरना है, इसलिए गुजर रहे हैं। आज का व्यक्ति–जीवन व्यक्तित्व की तलाश में है, पर उसे अपना व्यक्तित्व नहीं मिल रहा है। जीवन की निरर्थकता का ढोता हुआ यह व्यक्ति बिना किसी कारण के एक दूसरे की गतिविधि को अपनी चर्चा का विषय बना रहा है और इस प्रकार किसी तरह समय बिताना चाहता है। इस कहानी के दो लडके यूँ ही घूमते रहते है। जब भूख लगती है, तब उन्हे पता चलता है कि उन्हे खाना खाना है और उस समय सारी फाल्तू बाते समाप्त हो जाती हैं। विषय और शैली मे कटा–कटा–सा भाव स्पष्ट झलक रहा है।

९ रवीन्द्र कालिया की और एक कहानी "काला रजिस्टर"[४३] आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्वहीन जीवन को स्पष्ट करती है। यह कहानी अनाम एवम् विकलाग मध्यवर्गीय जीवन की लाचारी की कहानी है। भैगा, मोटा, छोटा ये पात्र व्यक्तित्वहीन मध्यवर्गीय जीवन के प्रतिनिधि हैं। किसी आफिस मे पेट के लिए मजबूर होकर अपनी बुद्धि को बेचते हैं। आफिस के "केबिन" की हर सनक पर अस्वस्थ हो जाते हैं। नौकरी के लिए अर्थात् पेट के लिए लाचारी और बेबसी को ढोने वाले एक जमाने के क्रांतिकारी व्यक्तित्व इस दफ्तर मे आकर समाप्त हो जाते हैं और फिर यहाँ का प्रत्येक जीव "केबिन" करने की कोशिशो मे लग जाता है। मँझले ने कुछ क्रांति का परिचय दिया था। कई नौकरियाँ छोडी थी, पर अन्त मे मजबूर होकर खुशामद का पल्ला पकडा था। अब अपना गुस्सा टेबुल–कुर्सी पर निकालने के अलावा वह कुछ नही कर सकता। यहाँ का हर व्यक्ति "केबिन" के काले रजिस्टर से घबराता है। सबके व्यक्तित्वहीन व्यक्तित्वो पर काले रजिस्टर की

डरावनी छाँह पड़ी हुई है । इन सारे जीवों का कोई नाम नहीं है । कहानी में हल्के विनोद के कारण ट्रेजेडी और तेज हो गई है ।

१०. आज का संवेदनशील मध्यवर्गीय व्यक्ति जिन्दगी के संत्रास को भोग रहा है । वह अपने से ही जूझ रहा है, किन्तु बाहर की जुल्मी शक्तियों से विद्रोह नहीं कर पा रहा है । वह "डेड" है । राजनीति रिश्वत--खोरों का अड्डा है । विद्यार्थी अपनी "एनर्जी" को ध्वंस में बरबाद कर रहे हैं । व्यापारी "स्मगलर" हैं । समाज--जीवन की प्रत्येक संस्था अन्दर से खोखली है । इस खोखलेपन से निर्मित भयावहता का अनुभव सुरेश सिन्हा की "कई आवाजों के बीच"[७४] यह कहानी हमें देती है । कहानी के तीनों मित्र जो तीन अलग--अलग प्रांतों के हैं, जीवन--विषयक अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते हैं और खुद उस जीवन के अंग बने हुए हैं । उन्हें लगता है, "क्या सचमुच हम मर गये हैं और जिन्दगी के संत्रास ने हमें निगल लिया है । इसमें से किसी को नहीं मालूम कि हम क्या हैं, कहाँ जा रहे हैं--क्या कर रहे हैं--बस मशीन की तरह घिसटते चले जा रहे हैं, जैसे हमारी जिंदगियाँ बेवा हो गई हों ।"

११. आज की जिन्दगी सपाट चेहरे की जिन्दगी है । इसमें रहने वाले जीव बिना चेहरे के हैं । यहाँ के व्यक्ति अपनी एकरसता से त्रस्त जीवन की जिजीविषा का रहस्य न पा सकने वाले अनाम लोग हैं । दूधनाथ सिंह की "सपाट चेहरे वाला आदमी"[७५] इस कहानी का नायक जिन्दगी के रहस्य को जानने के लिए एक डाक्टर से सवाल पूछता है । पर, वहाँ भी उत्तर न पाकर आत्म हत्या करने के लिए उद्यत हो जाता है । पर, आत्म--हत्या भी वह कर नहीं सकता । अपने अनुभव को सुनाने के लिए किसी श्रोता की तलाश में वह एक वेश्या के घर पहुँचता है, किन्तु वहाँ भी उसके प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता । उसे वहाँ एक सपाट चेहरे वाला आदमी मिलता है । इस आदमी के आँखें नहीं है, पर वह अंधा नहीं है । यह सपाट चेहरे--वाला आदमी जो उस वेश्या का बेटा है, अपनी माँ की व्यथा को सहलाने की कोशिश करता है । इस कहानी का डाक्टर, शायद उस वैज्ञानिक ज्ञान का प्रतीक है, जो इतना प्रगत होकर भी जिन्दगी के रहस्य को नहीं बता सकता । वेश्या एक और प्रतीक है, जो आधुनिक जिन्दगी के सेक्सबोध को व्यक्त करती है, किन्तु यह सेक्स--बोध आज के व्यक्ति को संतुष्टि नहीं दे सकता । यहाँ भी एक प्रकार का "आटोमेशन" है । और इस "आटोमेटिक" जिन्दगी की संतान है--वह सपाट चेहरे वाला आदमी । जीवन की बाँझ स्थिति का

डरावना चित्र इस कहानी मे बडी सफलता से उभरता है ।

१२. अपने अस्तित्व से झगडता हुआ और बराबर हीन-ग्रंथि का अनुभव करता हुआ मनुष्य श्रीकांत वर्मा की 'सवाद' [११] इस कहानी मे चित्रित हुआ है । कहानी का एक पात्र 'वह' हीन-ग्रंथि से बुरी तरह पछाडा हुआ है । उसका एक पुराना साथी प्रसाद, जो अब उसका अफसर है सदैव अपनी उदारता का परिचय देता हुआ, अपने मुलाजिम दोस्त की हीन-ग्रन्थि को अनजाने ही अधिक तीव्र करता रहता है । कहानी का 'वह' अपने-आपको 'सुपिरियर' करार देने की फिक्र मे पडा है । किन्तु हर बार अधिक "इन्फिरियर" होता चला जा रहा है । इन दोनो दोस्तो का सवाद केवल दो व्यक्तियो का सवाद नही है बल्कि आज के जीवन का अपने ही भ्रम के साथ होता हुआ सवाद है । हम कई बार बिना किसी कारण के अपने मे हीनता का अनुभव करते हैं और उस फर्जी हीनता को दूर करने के लिए कृत्रिम बडप्पन को ओढने की कोशिश करते हैं, किन्तु हमारी यह हास्यास्पद कोशिश बेकार जाती है और उसमे से फिर एक विलक्षण व्यर्थता का बोध पैदा होता है और फिर इस चक्र से मुक्ति नही मिलती ।

१३. आधुनिक जीवन एक मशीन की तरह चल रहा है । व्यक्ति इस मशीन का पुर्जा बना हुआ है । आज के मनुष्य ने अपने सुख के लिए वैज्ञानिक आविष्कार किये और एक सार्थक अभिमान से वह सिर तानकर शायद अपने से कह रहा था कि उससे बडा कोई नहीं है । अपनी नियति को बनाने और बिगाडने का वह एकमात्र अधिकारी है । किन्तु उसका यह अभिमान मर गया है । आज स्वनिर्मित युग मे वह स्वय पराया है । उसके सामने कोई ऐसी दिशा नही है, जिधर मुडकर उसे कुछ तसल्ली मिल सके । चारो ओर मृत्यु-भय, सत्रास, अकेलापन और अजनबीयत का बोध उसे निगल रहा है । भौतिक सुखो के वह इस हद तक अधीन हो गया है कि उसने इस तथाकथित सुखों के पजो मे फँसकर अपना हुलिया ही खो दिया है । उसका 'वह-खुद' जो किसी भी बाहरी, भौतिक या अधिभौतिक के दबावो मे आने से इन्कार कर देता था, वह खुद आज अपने साधनों का साध्य बन गया है । स्वनिर्मित इस क्रूर भौतिक जिन्दगी के हाथो वह अपना सब कुछ बेच चुका है । उसका स्वय (सेल्फ) मुक्ति के लिए छटपटा रहा है । पर अब उसे मुक्ति नही है । जिन्दगी के हर कोण पर वह इन दो 'खुद' के अतर्द्वन्द्व का अनुभव कर रहा है । इस अतर्द्वन्द्व का अनिवार्य फल उसकी अपनी उस बाहरी 'स्वय' के सम्मुख शरणगति मे होता है । यहाँ तक कि उसका वह स्वतत्र 'स्व' जो आज परतत्र हो

गया है, उसे अपना दुश्मन लगता है। और इस दुश्मन को वह हमेशा खत्म करने की फिक्र में रहता है। कई बार उसका यह दुश्मन उसके सामने खड़ा हो जाता है, उसे डराता है। क्षण भर के लिए उसे लगता है कि यह दुश्मन उसे खा जायेगा और फिर अनथक कोशिशों के बाद वह अपने दुश्मन को जहर देकर मारने में सफल होता है और फिर जीवन की नीरस एकरसता को अपनी आदर्श स्थिति मानकर भौतिक एवं मानसिक गुलामी में धन्यता का अनुभव करता है। कृष्ण बलदेव वैद की 'मेरा दुश्मन'[५७] यह कहानी व्यक्ति के दो 'खुद' के अन्तर्द्वन्द्व को प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त करती है। पारिवारिक एवं भौतिक सुखों को जीवन का आदर्श मानने वाला कहानी का नायक, यह सोचता है कि वह सचमुच बहुत सुखी है। हालांकि, उसने इन भौतिक, मानसिक सुखों के हाथों अपने 'स्व' को बेच दिया है। किन्तु अब इससे छुटकारा नहीं। इसीलिए शायद अपने पुराने दोस्त के रूप में मिले हुए उस आंतरिक 'स्व' को वह अपना दुश्मन समझता है और कई कोशिशों के बाद अपने दुश्मन को जहर पिलाकर खत्म कर देने में सफल हो जाता है।

ई. जिन्दगी के शाश्वत यथार्थ की प्रतीति

जिन्दगी की कई विसंगतियों को भोगता हुआ आधुनिक व्यक्ति जीवन के बहु-स्तरीय संत्रास का अनुभव कर रहा है। वह दिशाहीन है, व्यक्तित्वहीन है और मानसिक दृष्टि से कुंठित भी है। जीवन के अभावात्मक स्वरूप को झेलता है, फिर भी वह जीना चाहता है, जीता चला जाता है। उसकी जिजीविषा का आखिर क्या रहस्य है, जो इतने सारे अभावपूर्ण जीवन-तथ्यों के बीच से गुजरता हुआ हर घड़ी, हर समय मृत्यु से झगड़ता है। अस्तित्व की दुर्दम्य आकांक्षा उसके मृत्यु-बोध को क्षमता-बोध बना देती है। जिन्दा रहने का आकर्षण इतना जबरदस्त है कि इन्सान किसी भी हालत में जिन्दगी से चिपका रहना चाहता है। ऐसे समय किसी भी प्रकार की विकलांगता उसकी जीने की आकांक्षा को कुचल नहीं सकती। वस्तु-सत्य से परे एक ऐसी आंतरिक सूक्ष्म अनुभूति के सहारे वह जिन्दगी के डरावने मार्ग का आक्रमण करता है। इस प्रक्रिया से शायद यही एक-मात्र तथ्य स्पष्ट होता है कि मनुष्य कटा हुआ होकर भी कटा हुआ नहीं है। वह अपने अस्तित्व का जिम्मेदार नहीं होगा, लेकिन अस्तित्व में 'होने' के बाद उसे वह भोगता ही है और निरंतर अंतर-बाह्य द्वंद्वों का सामना करता हुआ आगे बढ़ता है। अपने या किसी और के बनाये हुये आवर्तों में फँसता है, फिर उन्हें तोड़ता है, फिर फँसता है। यही उसकी नियति है, इसी में उसका चेतनत्व समाया हुआ है।

नई कहानी उक्त शाश्वत यथार्थ को कई स्तरों पर अभिव्यक्ति दे रही है। अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' [9] यह कहानी एक ओर अभावात्मक जिन्दगी को ढोते रहने की मजबूरी की कहानी है, तो दूसरी ओर उसी अभावात्मक जिन्दगी को झेलते हुए जीने की कहानी है। सिद्धेश्वरी के तीनों बेटे और पति आर्थिक दरिद्रता के अभिशाप में परिवार को जैसे-तैसे चला रहे हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य दूसरे से परिवार के अभाव को छिपाने का विवश प्रयत्न करता है। और जैसे सिद्धेश्वरी इन सबको पेटभर (?) रोटियाँ खिलाना चाहती है और मन ही मन एक अच्छे जीवन की कल्पना कर लेती है।

भीष्म साहनी की 'खून का रिश्ता' [9] यह कहानी एक विकलांग व्यक्ति मंगलसिंह के हीन-ग्रंथि का चित्रण करती हुई इस सत्य को प्रकट करती है कि हर आदमी अपने अभावात्मक जीवन में, कल्पना में क्यों न हो, अपना रिश्ता बड़ों के साथ जोड़कर सारे अभावों को भुला देने की कोशिश करता है। किन्तु सपनों का यह नशा क्षण भर का ही होता है। फिर भी मंगलसिंह की करुण अकुलाहट क्षण भर के लिए हमारे मन में व्यक्ति-जीवन की जिजीविषा को कौंधा देती है।

धर्मवीर भारती की 'गुल की बन्नो' की नायिका गुलकी [10] शारीरिक विकलांगता के बावजूद जिंदगी से चिपटकर रहना चाहती है और अंत में उसी जुल्मी पति के साथ हो लेती है, जिसके कारण ही शायद उसकी जिन्दगी बरबाद हो चुकी थी, फिर भी गुलकी का अपने पति के संग चला जाना और एक नववधू की सी भावना को आविष्कृत करना अपने-आप में जीने के रहस्य को अभिव्यंजित करते हैं। मार्कण्डेय की 'दूध और दवा' [11] जीवन की इसी इच्छा को व्यक्त करती है। मनुष्य, जबकि दरिद्रता से घिरा हुआ है, मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से विकृत है फिर भी जीना चाहता है। कहानी का नायक पारिवारिक संकटों के होते हुए भी जी रहा है। पता नहीं वह पत्नी के लिए जीता है या बच्चों के लिए या अपने लिए, पर जीता जरूर है।

'जिन्दगी और जोंक' [12] अमरकान्त की यह कहानी एक दुर्दमनीय मानवीय जिजीविषा को मूर्त करती है। रजुआ की पीड़ा एक ओर आज की सामान्य जिन्दगी के समाजीकरण की पीड़ा है, तो दूसरी ओर केवल जिन्दगी से जोंक की तरह चिपके रहने की पीड़ा है।

रवीन्द्र कालिया की 'क ख ग' [13] जिन्दगी और मौत के बीच खड़े हुए उन मरीजों के जीने की इच्छा को प्रकट करती है, जो मृत्यु-बोध से छुटकारा पाने के लिए दवाखाने के नर्स-डाक्टरों के कई धपलों पर चर्चा करते हैं।

कमलेश्वर की 'कसबे का आदम' [१४] यह कहानी एक ऐसे व्यक्ति की व्यथा को अभिव्यंजित करती है, जो जीने की इच्छाएँ और जीने के साधनों के बीच एक सीमा रेखा पर खड़ा है। महाराज ने जिंदगी में कई अच्छे-बुरे स्थित्यन्तर देखे हैं पर फिर भी वे कतराये नहीं। अंतिम समय में एक सहारा मिल गया—संत तोता। पर वह भी बोली बोलता ही नहीं था। महाराज को आशा थी कि यदि तोता बोलता रहे तो उन्हें मुक्ति मिलेगी, पर महाराज की आखिरी साँस निकलने तक तोता बोला ही नहीं। वह बोलेगा इस आशा पर महाराज जीते रहे।

अभावात्मक जीवन से मुक्ति पाने का एक भयंकर साधन मनुष्य के लिए उपलब्ध है और वह है आत्महत्या। लेकिन अस्तित्त्व का आकर्षण इतना जबरदस्त होता है कि मनुष्य आत्महत्या करना चाहकर भी नहीं कर पाता। ज्ञानरंजन की 'आत्महत्या' [१५] कहानी का नायक आत्महत्या के लिए तत्काल तत्पर हो जाता है। वह मृत्यु को बहुत कठिन मानता है। इसलिए अपने दुख को उससे भी दुष्कर समझता है और इसलिए मरना चाहता है। आत्महत्या से पहले वह सोचता है कि उसे यूं ही नहीं मरना चाहिए। क्योंकि वह साधारण आदमी नहीं है। उसके मरने का अर्थ है। वह आत्महत्या से पहले एक मर्मस्पर्शी तथा चुनौती भरे वक्तव्य को लिखना चाहता है जिसमें अपने आत्मा की तड़फड़ाहट व्यक्त हो और समाज के प्रति क्षोभ की अभिव्यक्ति हो। उसने वक्तव्य लिखा, लिखकर लिखे को दोहराया। दोहराते समय वह अपने अंदर एक बृहद् खालीपन का असर बढ़ता हुआ अनुभव करने लगा। उसे लगा कि जिस अस्तित्त्व को उसने अभी थोड़ी देर पूर्व रौंद देना चाहा था, वह सामने के वक्तव्य में खिलखिला रहा है। कहानी के नायक का यह अनुभव किसी और प्रतिक्रिया की आशा नहीं करता है।

जिन्दगी के प्रति आकर्षण को बनाये रखने के लिए मनुष्य कई बहाने और सहारे ढूंढा करता है। यह जरूरी नहीं कि ये सहारे वस्तु-सत्य के हों। कई बार मनुष्य वस्तु-सत्य से परे अपने अंतर्मन की गहराइयों में किसी घटना को, किसी व्यक्ति को या किसी स्मृति को महफूज रखता है। और अभावात्मक जीवन की यातनाओं को भुलाने के लिए अपनी उस आंतरिक धरोहर को अंतर्मुख होकर स्पर्श करने लगता है। फणीश्वर की 'ठेस' [१६] 'लालपान की बेगम' [१७] 'आदिम रात्रि की महक' [१८] और 'तीसरी कसम' [१९] कहानियाँ मनुष्य जीवन की उस संवेदना को अभिव्यक्त करती है, जहाँ मनुष्य अंतर्मुख होकर बहिर्गत

यथार्थ से दूर रहता हुआ अपने किसी मानसिक आसगो से जुड जाता है और भूल जाता है अपने सारे अभावो को । 'ठेस' का सिरचन अत मे मानो को अपने हाथ की बनाई हुई चिक भेंट करता है । 'लालपान की बेगम' की बिरजू की माँ अपने बीते यौवन की स्मृतियो को जगाकर स्वय दुवा बन जाती है और जिन्दगी के अभावात्मक क्षणो को पूर्णत भूल जाती है । 'आदिम रात्रि की महक' का करमा अपने परिवेश की माटी से जुडकर उसका एक अग बन जाता है । खेत खलिहान, पेड-पौधे, नदी पोखरे, चिरई-चुरमुन सभी उसके अपने हो जाते हैं । मगहिया डोम की छोडी उसके झबरे केश, वे नहायी हुई देह की गध करमा के प्राण मे आदिम रात्रि की महक की तरह समायी हुई है । वह इन्हे छोडकर और कही भी जाना नही चाहता । 'तीसरी कसम' का हीरामन सवेदन की अभूतपूर्व घडियो से निर्मित स्मृति को सजोता रहता है । उनकी जिन्दगी मे घटनाएँ या चरित्र गौण हो जाते हैं और केवल सम्वेदनाएँ प्रमुख बनती हुई एक आर्त एव उत्कट गति के रूप मे उसके अतर्मन को झकृत करती हैं ।

कमलेश्वर की 'नीली झील' [60] एक ऐसे सौंदर्यानुभूति को सध्वनित करती है, जहाँ जिन्दगी के वस्तु-सत्य, अनुभूति की वास्तविकता और विषय की तथ्यात्मकता गौण हो जाते हैं । वातावरण के साथ उत्कट सम्पृक्ति जीवन जीने का राज बनकर प्रकट होती है ।

जिन्दगी को जीना इतना सरल नही है । जीनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी आतरिक व्यथाओ को झेलने के लिए जिंदा रहने के अलग-अलग बहाने ढूढता रहता है और अपने अकेलेपन के एहसास को भूलने की कोशिश करता है। इसके लिए वह एक से एक खतरनाक हथियार लेकर चलता है, वह इन हथियारो की भयकरता से घबराता नही है । शायद इसके कारण उसका भीतर 'अहवचुरिस्ट इगो' सतुष्ट होता है । 'एक कटी हुई कहानी' [61] के नीता, शुभा, वीरेश्वर, मवाचा, अवतार, कुलवत—ये सब पात्र इन्ही खतरनाक हथियारों को लेकर जीते हैं । कभी लगता है, ये सब लोग एक-एक कहानी के शुरू या अत के सिरे हैं और समानातर चलने लगे हैं । हर सिरा एक दूसरे को अपने अकेलेपन से लडने का हथियार बनाता है । और बदले मे दूसरे से उलझ जाता है । लगता है, जिन्दगी भी एक कटी हुई कहानी है । पर, आतरिक सत्य तो यह है कि जीवन की एक ही कहानी है–जीने की इच्छा । इस एक ही कहानी को बीच-बीच से कैंची से काटकर एक जगह रख दिया हो, हर हिस्सा कटे केंचुए की तरह अलग-अलग गुडमुडाने लगा हो । कुलवत जैसी निस्सकोच

औरत फूहड़पन की हद लांघ देती है। फिर भी आंतरिक रूप से एक निहायत ही सच्ची स्त्री है जो जीवन की अकथ व्यथाओं को भूलने के लिए अपने आपको दूसरों के दुख-दर्द एवं खुशियों के साथ जोड़ देती है। वह कहती है–दो दिन का साथ है। लोग दो दिन को आते हैं, चले जाते हैं। हमें तो अकेले ही रहना है। जाड़ों में तो आदमी की शकल देखते तरस जाते है। इसलिए जीना और जिये हुये पर बैठकर कुढ़ना उसे पसंद नहीं है। मित्रता स्थायी हो, या अस्थायी अपना-अपना अकेलापन काटने का माध्यम नहीं तो और क्या है ? कुलवंत के अश्लीलता की सीमा तक आ जाने वाले पुरुषोचित परिहासों के पीछे एक और जिन्दगी है, जहाँ सुबह पूजा-पाठ और निरामिष भोजन है। और जहाँ आधुनिक सज्जाओं वाली काटेज के पीछे एक निहायत सादा-सा कमरा है। दीखता है, उसके पीछे एक जिन्दगी है।

इसके अलावा सेक्स की निरर्थकता की सार्थक अनुभूति का साहसपूर्ण एवं निस्संग चित्रण महेन्द्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स' [७२] में हुआ है। कृष्णा सोवती की 'मित्रो मर जानी' [७१] में एक ऐसे नारी का चित्रण हुआ है जो पारंपारिक नैतिकता-बोध के सारे विश्वासों से मुक्त है, केवल हाड़-मांस की बनी उन्मुक्त नारी। 'मित्रो' के रूप में एक नारी की प्राकृतिक वासना जैसे सारे अहं और सुग्राह्य के गिलाफों को फाड़कर बाहर आ रही है। फिर भी मित्रो केवल वासना की अवलती सरिता नहीं है, उसमें सुसंकृत नारी जैसा स्नेह, ममता आदि मानवीय गुण हैं। लगता है प्रत्येक नारी के हृदय में कहीं दूर 'मित्रो' बैठी हुई है।

सेक्स-संबंधी सभी पूर्वाग्रहों और परंपरागत धारणाओं से मुक्त नारी का यथार्थ रूप 'वेश्या' के विशिष्ट व्यक्तित्व में देखा जा सकता है। किन्तु वेश्याओं की जिन्दगी में भी करुणा, अपनेपन का बोध, यहाँ तक किसी विशिष्ट व्यक्ति के प्रति पत्नी-रूप समर्पण की भावना दिखाई देती है। ऊपर-ऊपर से लगने वाले अनैतिक जीवन में 'पेशे' की पवित्रता को कायम रखा जाता है। वृद्धावस्था में जब शारीरिक आकर्षण खत्म होते जाता है, वेश्या अपनी जिन्दगी में भयंकर रिक्तता के बोध की यातना को भोगती हुई उस किसी के लिए जिसने उसे समझने की कोशिश की है, तड़पती रहती है।

कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' [७४] कहानी जगनू वेश्या की ऐसी ही व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित करती है।

शेखर जोशी की संवेदनशीलता ग्रामांचल के परिवेश में व्यक्ति-जीवन के बहु-स्तरीय दुख-सुखों का विश्लेषण रचना के स्तर पर बड़ी सफलता से करती

है। उनकी 'कोसी का घटवार' [*] एक रिटायर्ड मिलिटरी-जवान, जो किसी के प्यार में अविवाहित रहा है, अपनी प्रेयसी को जो अब तक विवाहित होकर विधवा हो चुकी है, विशिष्ट हालत मे मिलता है। दोनो अपनी-अपनी जगह भयकर करुणा-जनक व्यथाओ को भोग रहे हैं और परस्पर मानवोचित व्यवहारों में *अपनी अन्तरात्मा की आवाज एक दूसरे को सुना रहे हैं।*

६. समकालीन कहानी : नई कहानी का नया रचनात्मक मोड़

स्वरूप एवं संभावनाएँ

पिछले बीस बरसों की कथा-यात्रा में हिन्दी कहानी ने अनुभव एवं शिल्प के स्तर पर कई प्रयोग किए हैं। इस यात्रा के प्रत्येक छोटे-मोटे मोड़ को सूचित करने के लिए कहानी लेखकों-आलोचकों ने विविध नाम भी दिये हैं। नई कहानी, सचेतन कहानी, अ-कहानी, वैज्ञानिक कहानी, अगली शताब्दी की कहानी जैसे कई नाम कहानी के बहुस्तरीय रूप को प्रकट करते हैं। वैसे दस-बीस बरस, साहित्य के किसी नवीनतम दृष्टिकोण के पनपने के लिए बहुत ज्यादा नहीं हैं, और इसीलिए नामकरणों की जल्दबाजी में दृष्टिकोण का अर्थसंकोच होने का खतरा बराबर बना रहता है। किन्तु कई बार किसी साहित्य-विधा की विशिष्ट धारा को विविध नामों से संबोधित करने का मतलब उस धारा के प्रयोग-धर्मी व्यक्तित्व की सूचना में भी हो सकता है। आधुनिक युग यथास्थिति से चिपके रहने का युग नहीं है। युगीन संवेदनशीलता इतनी तीव्र गति से बदलती जा रही है कि हर नई व्यवस्था के जन्म के साथ ही उसकी मृत्यु के आसार नजर आते हैं। इस अर्थ में किसी भाषा के साहित्य में, बहुत कम अवधि में विविध मोड़ों का निर्माण होना उस भाषा के साहित्य की जीवन्तता का लक्षण माना जाना चाहिए। हिन्दी कहानी के सम्बन्ध में यदि उक्त विश्लेषण सही माना जाए तो बीस बरसों की छोटी अवधि में हिन्दी कहानी की गतिशीलता, जो उसके विविध नामकरणों से सूचित हुई है, हमारे लिए अभिमानास्पद होनी चाहिए।

किन्तु बड़े अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि स्थिति ऐसी नहीं है। हमारे यहाँ कहानी की जीवंतता जैसी भी रही है, मात्र नामकरणों की विविधता से उसकी गतिशील शक्ति का परिचय कतई दिया नहीं जा सकता। हमारे यहाँ साहित्य के क्षेत्र में बदकिस्मती से आज भी कई दलबन्दियाँ हैं। आलोचक-

ही बोध की स्तरात्मक मात्राओं का फर्क है छठे और सातवें दशकों के कहानी साहित्य का अनुभव-जगत एक ही है, उनके अनुभवों के संदर्भ भी वही हैं। इसलिए यदि हम ऐसा कहें कि सन् पचास से साठ के दरमियान नई कहानी का विशिष्ट स्तर था और साठोत्तरी कहानी का एक विशिष्ट स्तर है, तो उतना खतरा नहीं है। सन् साठ के बाद जिस ढंग की कहानियाँ लिखी गई, उन्हें नई कहानी के अंतर्गत रखकर उसके विशिष्ट अलगाव को विश्लेषित किया जाय, तो हिन्दी कहानी की समकालीन धारा का स्वरूप कहीं अधिक वैज्ञानिक धरातल पर स्पष्ट हो सकेगा। एक ही धारा के अलग अलग स्तरों को मात्र पाश्चात्यों के कदमों का अनुकरण करके नये-नये नाम देने की अपेक्षा इस दशक की कहानी को 'आज की कहानी" या समकालीन कहानी कहना अधिक उचित होगा।

आज की हिन्दी कहानी जिसमें पिछले दोनों दशक शामिल हैं, निश्चित रूप से नये युग की सृष्टि है। अतः स्वभाव से ही उसमें संक्रांतिकालीन चेतना का स्वर सबसे तीव्र है। इसके अंतर्गत हर परंपरा की अस्वीकृति, प्रयोग-शीलता, वैज्ञानिक दृष्टि और बौद्धिक जटिलता के साथ युग-संत्रास को अस्तित्व के रूप में झेलने की क्षमता भी है। स्पष्ट है, नई कहानी आधुनिक जीवन की ह्रासोन्मुखी प्रक्रिया एवं विघटन के प्रति अपना तीव्र क्षोभ प्रकट कर रही है। आज की पीढ़ी जो किसी निश्चित दिशा को प्राप्त नहीं कर सकी है, निरंतर दमघोंटू अकेलेपन को और उससे पैदा होने वाले ठहराव पर अपना आक्रोश व्यक्त कर रही है। इस दिशाहीन स्थिति के बीच संभाव-नाओं के स्वर बिल्कुल ही हैं नहीं ऐसा नहीं है, किन्तु जीवन का क्रूर एवं विरूप चेहरा ही इसमें अधिक तीव्रता से स्पष्ट हो रहा है, इसमें बिल्कुल संदेह नहीं। स्वतंत्रता के बाद परिवर्तन के जिस सत्य को तात्कालिक लेखकीय संवेदना अनुभूतियों का हिस्सा बनाकर व्यक्त करना चाह रहा था, उसी संवे-दन को समकालीन कहानी अधिक सफलता से प्रकट कर रही है—करना चाहती है।

प्रश्न यह है कि नई कहानी के प्रारंभ से लेकर आज तक कहानी की धारा आधुनिक भाव-बोध को कितनी सफलता से प्रकट कर सकी है जिसे समझना इसलिए आवश्यक हो जाता है क्योंकि नई कहानी के ही अंतर्गत समकालीन कहानी का चेहरा बहुत कुछ बदला हुआ-सा दिखाई होता है। इस बदलाव के स्पष्ट आसार पिछले चार बरसों की कहानियों में दिखाई दे रहे हैं। यहाँ फिर से हम दोहराना चाहेंगे कि यह बदलाव महज दृष्टि का

न होकर दृष्टि को पचाकर व्यक्त करने का है। साहित्य की श्रेष्ठता एवं सफलता तभी सिद्ध होती है, जब लेखकीय-बोध रचना द्वारा कला के स्तर को प्राप्त कर लेता है। जहाँ जीवन-बोध की नवीनता अपने आप में परपरा से हर मानें में असगत हो, वहाँ तो जीवन-बोध का साहित्य में रूपान्तरण और भी कठिन हो जाता है। एक ओर इस प्रक्रिया को पूर्ण होने देर भी लगती है और दूसरी ओर सक्रातिकालीन अनुभूतियो के साथ ईमानदार रहने मे भयकर यातनाओ से गुजरना पडता है। परिणाम यह होता है कि साहित्य निर्मिति की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है और उसकी जगह असाहित्यिक प्रक्रिया आरोपित की जाती है, और फिर उसी धारा के अन्तर्गत रचनात्मकता का नया प्रवाह ऊपर उठने की कोशिश करता है। यह नया प्रवाह पुराने प्रवाह की प्रेरणाओं को लेकर ही आगे बढता है, और गलत दिशा मे जाने वाले अपने ही प्रवाह के पिछले हिस्से को सही दिशा देता है। हम लगता है कि नई कहानी की धारा के अन्तर्गत सातवें दशक की हिन्दी कहानी इस प्रकार के रचनात्मक मोड को स्पष्ट करती है। चाहे इसे हम सचेतन कहानी, अ-कहानी या कोई और कहानी कहकर पुकार लें, इन नामों की विशिष्टता नई कहानी की समग्र पृष्ठभूमि मे ही समझी जा सकती है। साठोत्तरी हिन्दी कहानी नई कहानी का ही प्रकारान्तर है। वह उसी का नया रचनात्मक मोड है।

क्या कारण है कि सातवे दशक की कहानी मे यह नया मोड लक्षित हो रहा है ? समकालीन कहानी के स्वरूप को समझने के लिए हमे उन परिस्थितियो का विश्लेषण करना चाहिए जो समकालीन कहानी की निर्मिति की पृष्ठभूमि मे हैं। छठे दशक का अन्तिमचरण और सातवें दशक के प्रारभिक चरण के बीच की ऐतिहासिक एव साहित्यिक परिस्थितियो मे नई कहानी का ठहराव-स्तर परिलक्षित होता है जहाँ से समकालीन कहानी नया मोड धारण कर लेती है। इन परिस्थितियो का विश्लेषण नई कहानी के गत्यावरोध एव समकालीन कहानी की गतिशीलता को समझने मे सहायक होगा।

अ. नई कहानी मे गत्यावरोध : ऐतिहासिक सदर्भ

छठे और सातवें दोनो दशको के साहित्यकारो के जीवन सदर्भ अलग-अलग रहे हैं, अत रचना के कथ्य और कला-सचेतना के तत्वो के सबध मे इनकी धारणाएँ भी कुछ हद तक अलग अलग रही हैं। इस अलगाव का कारण प्रमुखतया, दोनों दशको के अलग मानसिक व्यक्तित्वो मे ही खोजना चाहिए। दोनो दशको के प्रारभिक वर्षों की मानसिकताएँ इतनी भिन्न रही हैं कि प्रत्येक दशक के साहित्यिक मिजाज मे स्पष्ट फर्क दिखाई देता है। दोनो के आरम्भ

में रोमानी जीवन-बोध से मुक्ति पाने की संघर्षशीलता का तत्त्व विद्यमान रहा है, किन्तु प्रथम दशक में इस मुक्ति की कामना में कहीं न कहीं अतीत के साथ संस्कारगत लगाव कायम जरूर रहा है । दूसरे दशक में, किन्तु, किसी भी प्रकार की दुविधा या द्वन्द्व नही रहा है । छठे दशक के साहित्यकारों के संमुख अतीत की एक लम्बी परंपरा थी, जीवन मूल्यों के संस्कारों की जड़ें बहुत दूर तक लेखकों के मानस में समा गई थीं । अतः इन साहित्यकारों के संमुख एक ऐसा जबरदस्त आह्वान था कि कैसे अतीत की ठोस परम्परा से संस्कार मुक्त हों ? इन साहित्यकारों की पीढ़ी ने परंपरागत जीवन-मूल्यों की आगोश में जीवन संदर्भों को स्वीकार किया था, और इसी पीढ़ी ने परंपरागत मूल्यों के विघटन का अनुभव भी किया था । अत. अपनी ही परंपरा से अलगाव के लिए उन्हें अपने में एक ऐसी चुनाव-शक्ति का निर्माण करना था जिसके आधार पर नए और पुराने के बीच युगानुकूल संदर्भों का चुनाव किया जा सके । इस अर्थ में 'नई कहानी' को परंपरा से मुक्त होकर अपने आपको स्थापित करने का प्रयास करना पड़ा । मुक्ति और स्थापना के बीच कई ऐसी स्थितियों और संघर्षों के दायरों से 'नई कहानी' को गुजरना पड़ा जिससे तत्कालिक कहानीकारों को अपना नया व्यक्तित्त्व प्रस्थापित करने के लिए लगभग एक दशक की अवधि लग गई । इस दशक के कहानीकारों को एक ओर अपनी जीवन-दृष्टि को स्थापित करने के लिए स्वयं की मानसिकता से लड़ना पड़ा तो दूसरी ओर परंपरावादी स्थापित कहानीकारों और आलोचकों की विरोधी आलोचनाओं का सामना करना पड़ा । इसलिए 'नई कहानी' के लेखक परंपरा से सम्पूर्ण मुक्ति भी नहीं पा सके और न 'नई कहानी' का मुक्कमिल साहित्यशास्त्र भी निर्माण कर सके । परिणाम यह हुआ कि 'नई कहानी' की उपलब्धि को पूरे एक दशक तक समझा नहीं गया । मजेदार बात यह है । कि सन् ५० से आरंभ होने वाली 'नई कहानी' सन् ६० के बाद प्रतिष्ठति होकर लेखकों, पाठकों, एवं आलोचकों द्वारा मान्य हुई । नव-लेखन की केंद्रीय विधा के रूप में 'नई कहानी' को मान्यता उस समय प्राप्त हुई जब समय निकल चुका था और 'नई कहानी' समय-सापेक्ष्यता के कुछ पीछे रहने लगी थी । 'यह विलंब इसलिए अधिक लक्षित किया गया कि दस वर्षों के भीतर ही समय का मिजाज़ बिल्कुल बदल गया और नए सचेतन हुए रचनाकार के सामने 'नई' कही जाने वाली कहानी पुरानी प्रतीत होने लगी और कहानी की एक नई शुरुवात की सम्भावनाएँ उभरकर सामने आईं ।'[१] नई कहानी के लिए ये नए सचेतन रचनाकार एक दुर्घटना के रूप में सामने

आये और "नई कहानी" के समुख कई प्रश्न चिह्न लगाये गये, जिनका उत्तर न दे सकने की स्थिति जन्य मजबूरी का अनुभव करती हुई 'नई कहानी' अपने को समयानुकूल सिद्ध करने का अतिरिक्त प्रयत्न करने लगी । अपनी टूटती अवस्था को बनाय रखने का एक ही विकल्प उसके सामने बच गया कि जैसे तैसे प्रस्थापित जीवन स्थितियों से समझौता कर लिया जाय । इसकी परिणति यह हुई कि नई कहानी' जिन्दगी के सत्य से कटकर इकहरे व्यक्तिगत सत्यों की पुनरावृत्ति करने लगी । रचनाशील रहने की कृत्रिम कोशिशों में वह स्वय को दुहराने लगी । 'नई कहानी की रूढि बन गई, जिससे उसकी सवेदनशीलता स्थिर होकर गतिहीन बन गई ।

इस स्थिति के दायरे मे फँसी हुई 'नई कहानी' के आत्मग्रस्त लेखकों के लिए जीती जागती स्थितियाँ भावनात्मक प्रतिक्रियाओं का पुज बनकर सामने आने लगी, तब इनकी कहानियों में जीवत चित्रों के स्थान पर केवल अरूप प्रतिक्रियाएँ व्यक्त होने लगती हैं । अपने द्वारा निर्मित एव पुरस्कृत फतवो-फिकरों की अति-व्याप्ति के कारण एक नयी किस्म की रूढि-जडता और ऊब पैदा हो गयी । नई कहानी क पतनकाल मे उसका एक पैटर्न बनने लगा । 'वैयक्तिक सामाजिकता' की दुहाई देने वाली 'नई कहानी' निरे-रूमानी अतिरेक और अतिशय अर्थहीन आवृत्तियों के कारण मात्र नारेबाजी को ही सर्जनात्मक लेखन समझने लगी ।" बदलती जीवन स्थितियों को झेल न सकने की विवशता के कारण इसमे एक नयी तरह की पलायनवादिता आने लगी । यहाँ आकर नई कहानी व्यावसायिक इस्टाब्लिशमेन्ट का अग बन गई ।

परपरागत सेक्स-वर्जनाओ को तोडकर 'नई नैतिकता प्रस्थापित करने की कोशिशो मे 'नई कहानी' के प्रारभिक चरण न जो हाथ बँटाया था, व्यावसायिक इस्टाब्लिशमेन्ट का गुलाम बनकर अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने की चरम कोशिशो मे 'नई कहानी' का अतिम चरण रुग्ण विकृतियों के पाम्फ्लेटस् प्रकाशित करने लगा । ऐसी रचनाओं मे "आरोपित मुद्रा का आभास मिलने लगता है, जो जीवनानुभवों की सत्य अभिव्यक्ति में दरार पैदा करता हुआ लगता है और इसीलिए अप्रमाणिक भी होने लगता है ।"[१]

अनुभूति और अभिव्यक्ति के हर स्तर पर अप्रमाणित रहने वाला कहानीकार "मृत्यु बोध", "सत्रास" जैसी गभीर एव जटिल अनुभूतियो पर कहानियाँ लिखने लगा । यह तथाकथित अस्तित्ववादी लेखक सत्रास के नाम पर या तो जीवन का निषेध करने वाली किताबी बातें लिखता रहा, नही तो आत्महत्या

के भयावह काल्पनिक चित्र निर्माण करने लगा। इन चित्रों में सार्त्र--कामू का अनुकरण ही अधिक था, भारतीय परिवेश और जीवन--संदर्भों की सचाई बिलकुल ही नहीं थी। मात्र वैचारिक स्तर पर 'संत्रास' की अभिव्यक्ति कहानी का फार्मूला बना देती है, और हुआ यही। अपनी कहानियों में यातना--संत्रास जैसे शब्द चिपकाकर आधुनिक बनने की करुण कोशिश होती रही।

छठे दशक की कहानी उपर्युक्त दायरे में फँस गई और उसी बिन्दु पर रुक गई। समकालीन कहानी का आरम्भ उक्त परिस्थितियों का अनिवार्य परिणाम है। सातवें दशक के कहानीकारों के मानसिक--ऐतिहासिक संदर्भ अलग थे। यह पीढ़ी जीवन के साथ किसी पूर्व निर्धारित धारणाओं एवं पूर्वाग्रहों से प्रतिबद्ध नहीं थी बल्कि इस पीढ़ी का अपने जीवन से जैविक सम्बन्ध रहा है। यह पीढ़ी जीवन के साथ संबद्ध हर रोमानी धारणा से मुक्त है। सातवें दशक के कहानीकार ने स्वतंत्रता पूर्व भारतीय जीवन की यातनाओं को प्रत्यक्ष नहीं भोगा था, और न उस 'मोहभंग' की स्थिति का अनुभव किया था जिसे पिछले दशक के कहानीकार जी चुके थे और अपने क्षोभ को प्रकट कर चुके थे। यही पीढ़ी समकालीन जीवन की बहुस्तरीय अराजकता में जी रही है, उस जीवन का अटूट हिस्सा बनी हुई है। अतः यह पीढ़ी भारतीय जीवन के विकृत रूप को अनुभवों के स्तर पर झेल रही है, जब कि पुराने कहानीकार का इस जीवन से केवल बौद्धिक संबंध रहा है। दोनों पीढ़ियों के अपने जीवन के मानसिक संदर्भ बिलकुल अलग--अलग रहे हैं। यही कारण है कि सम--कालीन कहानीकार किसी भी तरह की स्थापित व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता जबकि पुराना कहानीकार प्रस्थापित मूल्यों के साथ समझौता करने के लिए विवश होता रहा है। फलतः जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार कर लेने का साहस उसके मोह रहित और संस्कार मुक्त होने का सबूत है। इसी साहस में वह पिछले दशक के कहानीकार से अलग है।'[५] इन कहानी--कारों ने जिस सामाजिक वातावरण में होश संभाला था उसमें मानवीय संबंधों के सारे सूत्र टूटे हुए थे और जो बचे हुए थे वे किसी स्थिर व्यवस्था से चिपके हुए थे। इन कहानीकारों ने यह महसूस किया कि मानवीय संबंधों की शोकान्तिका उस 'व्यवस्था' में है जो सम्बन्धों को अपने क्रूर पंजों में दबा रही है। इसलिए ये कहानीकार 'व्यवस्था' पर जितना टूट कर प्रहार करते हैं, उतना 'संबंधों' पर नहीं। सम्बन्धों की अराजकता के प्रति वे अपना क्षोभ एवं आतंक भी प्रकट करते हैं किन्तु सम्बन्धों के विघटन से टूटकर किसी कटी

हुई शून्यवत दुनिया मे प्रश्रय नही लेते । इसका मतलब यह नही कि ये कहानीकार मानवीय सबधो के कुछ अपने आदर्शवादी सिद्धांत बनाना चाहते हैं, बल्कि यह कि सबधहीन रहते हुए सम्बन्धो की कल्पना करते हैं। 'सम्बन्धो से इन्कार का मतलब मिथ्या सम्बन्धो और सम्बन्धो के मिथ्यात्व को तोड देना है।'[1]

आ समकालीन कहानी का स्वरूप

उपर्युक्त मानसिक सदर्भो के परिप्रेक्ष्य मे समकालीन कहानी की सवेदनशीलता रचना के स्तर पर प्रकट हो रही है। हमने पिछले अध्याय मे, नई कहानी मे उभरते हुए बहुस्तरीय मानवीय सबधो का विश्लेषण करते हुए समकालीन कहानीकारो की कई सशक्त रचनाओ के उदाहरण दिये है। इन कहानियो मे जिस आधुनिक मनुष्य को हमने देखा है, वह टूटा हुआ है, ऊबा हुआ है, पस्त है पर निष्क्रिय नही है। वह जी रहा है, जीना चाहता है। इस मनुष्य के पास तर्काधिष्ठित जीवन दृष्टि है। यह मनुष्य पिछले दशक की कहानी के नायक से इसी अर्थ मे अलग है। बिचले पीढी के कहानीकारो ने अपने रचना ससार मे उस पस्त आदमी को उभारा था जो दिशाहीन निष्क्रिय और विकृत है। जीवन की पीडा, सत्रॉस से और मृत्यु बोध से आतकित उनका कथा नायक अपने ही परिवेश से कटकर किसी भयकर धुद मे खो गया–सा लगता है। किन्तु समकालीन कथा–नायक अपनी जिन्दगी की विभीषिका से आतकित है जरूर, लेकिन उससे हारकर भागा नही है। इस प्रकार समकालीन कहानी जीवन यथार्थ से सीधे टकराती है। इस टकराव के पीछे एक ऐसी पूर्वाग्रह रहित दृष्टि है जो किसी भी परम्परागत मूल्य–परिपाटी को नकारती हुई अस्तित्व–बोध की गहरी जटिलता की अभिव्यक्ति करती है। 'मार्क्सीय, मनोवैज्ञानिक, समाज शास्त्रीय और मूल्यपरक दृष्टियाँ अब आरोपित न रहकर उसकी मानसिकता का अंग बन चुकी हैं।'[2] पिछली कहानियाँ किताबी एव आरोपित बोध का शिकार बनकर 'व्यवस्था' के सम्बन्ध म एक 'समझदार चुप्पी' अख्तियार कर लेती रही हैं। लेकिन समकालीन कथा ने "व्यवस्था" के प्रति जो प्रचण्ड आक्रोश व्यक्त किया है उसका स्तर बेहद तल्ख एव बेलाग होना हुआ, आधुनिक मनुष्य के सम्बन्ध मे एक व्यंग्य और करुणा का एहसास कराता है।

सातवें दशक की कहानी के स्वरूप को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए छठे दशक की कहानी से इसकी तुलना करनी चाहिए। हमने ऊपर के विवेचन मे यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि समकालीन कहानी सीधे जिन्दगी

के यथार्थ से टकराती है इसलिए उस यथार्थ को शब्दों में पकड़ने का प्रयत्न करती है जो इतना आसान नहीं है। यहाँ शब्दों से बाहर निकलकर प्रत्यक्ष अनुभव को अपने आप उभरने देने का प्रयत्न किया जाता है। हर बाहरी एवं प्रस्थापित माध्यम को अस्वीकृत करने की छटपटाहट रहती है। कहानी का पिछला दशक भले ही क्रांतिकारक चीजें देता रहा हो, पर जिन्दगी के उस तथ्य को पकड़ने में नाकाम ही रहा है, जिसके लिए प्रत्येक माध्यम का लगाव अस्वीकार्य होता है। आज का लेखक स्थितियों से प्रत्यक्ष रूप से मिला हुआ है। भीड़ में गुजरता हुआ, भीड़ से दूर हटकर अपनी 'होनी' को 'होते' हुए प्रकट करता है। वह अनुभवों में "इन्काल्वड" हैं। पिछले दशक का कहानीकार किसी न किसी 'ऑबसेशन' का शिकार जरूर था। 'आबसेशन की स्थिति में समस्या' अनुभव हो जाते हैं और प्रश्न दिखलाई नहीं पड़ते। ठीक इसके विपरीत 'इन्वाल्वमेंट' की स्थिति होती है जिसमें समस्या समस्या की तरह होती है और प्रश्न दिखाई पड़ते हैं।

इस ढंग से ७० की कहानी 'आवसेशन' से इन्वाल्वमेंट' की तरफ बढ़ने की कहानी ही हो सकती है।' इस अर्थ में जो बातें 'नई कहानी'[८] ने वैचारिक स्तर पर व्यक्त की थीं, वही बातें अनुभव बिम्बों के स्तर पर समकालीन कहानी प्रकट कर रही है। वैचारिक स्तर पर किसी घटना, प्रसंग एवं विचार को गढ़ा जाता है, तब अभिव्यक्ति में कृत्रिम संरचना को उभारा जाता है, और प्रयत्नपूर्वक अनुभूति के अभावों की पूर्ति की जाती है। स्पष्ट है, ऐसी रचना कभी प्राणवान् नहीं हो सकती। पिछली कहानियाँ अनुभव की खोज तक ही सीमित रह गईं, समकालीन कहानी में यह 'खोज' 'पहचानने' में रूपांतरित हुई और अनुभवों को जीवन के जीवन्त संदर्भों में अभिव्यक्ति मिली।

समकालीन कहानी के इस परिपार्श्व में 'सचेतन कहानी' और 'अ-कहानी' जैसे 'नाम' उभर रहे हैं। सचेतन कहानी को आन्दोलन का रूप देने वाले डा० महीपसिंह की घोषणा के अनुसार 'सचेतनता' एक दृष्टि है, जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। सचेतन दृष्टि जीवन से नहीं, जीवन की ओर भागती है। इसमें निराशा, अनास्था और बौद्धिक तटस्थता का प्रत्याख्यान किया जाता है और मृत्युभय, व्यर्थता एवं आत्म-पराभूत चेतना का परिहार भी। इस दृष्टि में आत्म-सजगता है, तथा संघर्ष की इच्छा भी। सचेतन कहानीकार भविष्यहीन नहीं है। वस्तुतः समकालीन कहानी-साहित्य इन्हीं विशेषताओं को लेकर विकसित हो रहा है। इसे स्वतंत्र आन्दोलन न कह

कर यदि 'नई कहानी' मे अन्तर्व्याप्त 'अकहानीत्व' का विरोध करने वाली सम कालीन धारा कहा जाय तो अधिक उचित होगा।

'अ-कहानी' भी एक आन्दोलन के रूप में उभरने की कोशिश कर रही है। इसके प्रवर्तकों ने इसे पेरिस के 'एण्टीस्टोरी' का भारतीय रूप घोषित करते हुए इसमें कुछ खास विशेषताओं को ढूँढने का प्रयत्न किया है। डा० गगाप्रसाद विमल जैसे कथालेखक और आलोचक ने 'अ-कहानी' को आन्दोलन तथा रूपविधान से भिन्न माना है। वे इसे समकालीन कहानी के अन्तर्गत रख-कर ही इसकी विशिष्टता को प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार 'अ-कहानी कहानी की धारणागत प्रतीति से अलग एक अस्थापित कथाधारा है, जो कहानी के सभी वर्गीकरणों, मूल्यांकन, आधारों और पूर्व-समीक्षाओं को अस्वीकार करती है।'[१]

हम इस घोषणा का इतना ही अर्थ ले पाते हैं कि आधुनिक जीवन की निरर्थकता एव व्यर्थता की सही अभिव्यक्ति किसी भी पूर्वापर शिल्प-सयोजन मे असभव है, इसलिए जीवन सापेक्ष्य शिल्पहीनता का शिल्प ही इसे सम-कालीन जीवनबोध से सम्बद्ध करा सकता है। आधुनिक मनुष्य अपने व्यक्तित्व की खोज मे लगा हुआ है। वह हर प्रस्थापित का इन्कार करता हुआ जीवन-बोध को जी रहा है। स्वाभाविक ही है कि इस खोज की अभिव्यक्ति किसी भी दृष्टांतपरक कथानक या 'टाइप' जैसे चरित्रो द्वारा अशक्य है। इसलिए इस कथाकार का जो भी शिल्पहीन शिल्प है वह व्यक्तिगत आत्मप्रलाप मे अधिक मेल खाता है। अनुभवो के स्तर पर दृष्टि की सचेतनता और अभि-व्यक्ति के स्तर पर शिल्पहीनता का शिल्प आधुनिक भावबोध को सच्चे अर्थ में कलात्मक स्तर पर उठा सकता है। इस प्रकार दोनो तथा कथित आन्दोलन नई कहानी के वैचारिकता को कला सचेतना में डालने की कोशिशो मे लगे हुए हैं। इस दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे 'नई कहानी' कुछ रुक-सी गई थी जिसे समकालीन कहानी ने जो सचेतन भी है और परम्परागत शिल्प से मुक्त भी है, जोर से आगे धकेला है। हिन्दी साहित्य का यह सौभाग्य ही है कि 'नई कहानी' मे कुछ बरसो पहले आये हुए 'ठहराव' को खत्म करके नई कहानी की समकालीन धारा विकास के नैरन्तर्य को कायम रख सकी है। इस धारा की निश्चित उपलब्धियाँ हैं। जिनका सोदाहरण विश्लेषण पिछले अध्याय में किया गया है।

इ. समकालीन कहानी की सम्भावनाएँ

समकालीन कहानी ने जिस सही दिशा का अनुसरण किया है, जिससे

हिन्दी कहानी के भविष्य के प्रति हमारे मन में निश्चित आशाएँ बँध रही हैं, और कई संम्भावनाएँ उभर रही हैं। यह सही है कि इस दशक के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में जब 'समकालीन कहानी' 'नई कहानी' की स्थिर स्थिति को तोड़ रही थी, समकालीन कहानी के कुछ प्रवर्तकों ने जल्दबाजी में कुछ फतवे और फर्मान जारी किये थे। तब लगा कि नई कहानी का यह मोड़ भी मात्र बौद्धिक छल होकर रह जायगा। इसके कुछ आसार उस समय लिखी गई कहानियों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। किन्तु यह बात बहुत जल्द ही खत्म हो गई और कहानी आधुनिक जीवन के 'साक्षात्कार' को रचना के स्तर पर रूपायित करने के प्रयासों में लग गई। आज की स्थिति को देखकर हमें संतोष होता है कि समकालीन कहानी आधुनिक जीवन की संक्रान्ति-स्थितियों को बड़ी सूक्ष्म निगाह से पहचान रही है और अपनी पहचान को रचना-विस्तार के कलात्मक साँचे में ढालना चाहती है। आधुनिक जिन्दगी में सामाजिक संस्थाओं और मानवीय सम्बन्धों के बीच कई उलझे हुए प्रश्न निर्माण हो रहे हैं। किसी भी 'व्यवस्था' के प्रति आधुनिक व्यक्ति आस्थावान् नहीं है, पर फिर भी वह अपनी 'पहचान' की तलाश में है। उसकी अनवरत खोज जारी है। व्यक्ति के इस जटिल खोज की प्रक्रिया को समकालीन कहानी रचना में घटित करना चाहती है।' इसकी न कोई सीमा है न पंथ, न रास्ता, न दिशा............यहाँ न कुछ श्लील है न अश्लील। न कोई ग्राह्य है न अग्राह्य। न अच्छा न बुरा। न शिव न अशिवन, न कुत्सित, न सुन्दर। यहाँ जो कुछ है, वह मनुष्य ही है--और मनुष्य के आदिम या असल रूप की खोज ही समकालीन कहानी की मूल संवेदना एवं स्वर हैं'।''

इस मूल स्वर की अभिव्यक्ति के लिए समकालीन कहानी, कहानी की कहानीपरकता के पुराने प्रतिमानों को नकार रही है, और नये फार्म की तलाश में है। यह तलाश अभी जारी है। इसीलिए शायद आज की कहानी पढ़कर उसे बयान करना कठिन होता है। क्योंकि इसमें कहीं भी पुरानी 'कहानीपरकता' दिखाई नहीं देती है। लगता है उसमें 'अनुभव का घनीभूत स्फुरण है। आत्मबोध की अभिव्यक्ति है। और कथात्मकता से परे है।'[11] आत्मबोध की अभिव्यक्ति का मतलब निरे व्यक्तिगत तनाव की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि समकालीन जीवन की विसंगतियों के क्षोभ से निर्मित 'आत्मबोध' की अभिव्यक्ति है। जिसने उसमें समय-बोध का स्पष्ट स्वर है।

कथ्य के सम्बन्ध में समकालीन कहानी परम्परा-मुक्त होने के सफल प्रयास कर रही है। आज का कहानीकार किसी भी 'कथ्य' पर अवलम्बित नहीं

रहा है। सतही और सामान्य कथ्यात्मकता से आज की कहानी मुक्त हो रही है।

इन कहानियों मे जो दुनिया उभर रही है, उसमे रहने वाला व्यक्ति किसी भी व्यवस्था का गुलाम नही है। वह यथास्थिति को भी स्वीकार नही करता। पर सक्रिय जरूर है, इसलिए इस 'दुनिया' का व्यक्ति भविष्यवादी न होकर भी आने वाले भविष्य की खोज कर रहा है। इसे कमलेश्वर ने 'आगतवादी'[११] कहा है। इस दुनिया का व्यक्ति भविष्य के किसी सपने को सजोना नही चाहता, क्योंकि वह पूर्णत सपनो से मुक्त है। इसीलिए किसी भी नारे और घोषणाबाजी मे उसका विश्वास नही है। इस दुनिया का 'व्यक्ति' अपने लिए अपनी दुनिया चाहता है, एक ऐसी दुनिया जो वर्तमान की विसगतियों से निकलना चाहती है और आने वाले 'कल' के प्रति सचेत है। इस दुनिया का व्यक्ति अपने पन की 'पहचान' की तलाश मे अग्रसर रहा है। इसका कोई पिछला 'कल' नही न अगला स्वप्न प्रेरित 'कल'। वह उधर जा रहा है जिधर सही जमीन की समावनाएँ हैं। इस मार्ग पर भी वह झूठ को छाँटते जा रहा है। उसकी विकास यात्रा 'जैनुइन'[१२] की तलाश की यात्रा है।

आज के कहानीकार यथार्थ के रू—ब—रू खडे हैं। जीवन-तथ्यो को उनके नग्न रूप मे देखते हैं और उसी रूप मे दिखाते हैं। देखने और दिखाने की क्रिया एक साथ घटित होती है। इसलिए इन कहानीकारो के लिए वह समय ही नही रहता जहाँ वे अपने अनुभवो को चिन्तन की प्रक्रिया से गुजरने दें और उन्हें कलात्मक स्तर प्राप्त करने दें। इन कहानियों मे, लगता है, सारी 'एस्थेटिक सेन्सीबिलिटी' तहस-नहस हो गई है। इन कहानीकारो के लिए यथार्थ का कोई सैद्धान्तिक रूप स्वीकार्य नहीं है। 'इनके लिए यथार्थ एक सिद्धान्त या दर्शन नही, अनुभव, सज्ञा और प्रोध है जो पूरी भाषा, बुनावट और अभिव्यक्ति मे उजागर होना है। कथ्य की आनरिकता की पद्धति, उसकी अभिव्यक्ति मे ही बोलती है।'[१३] इसप्रकार समकालीन कहानी 'सही आदमी' की तलाश मे सही जमीन तोड रही है, तोडते हुए तोडने की प्रक्रिया को व्यक्त कर रही है। अपनी रचनात्मकता की खोज मे है—खोज जारी है। 'कहानी' की पुरानी 'कहानीपरकता' को तोड रही है और नई 'कहानी' की तलाश मे है। आशा है समकालीन कहानी अपना सही मुहावरा खोज लेगी और 'कहानी' न लगते हुए भी 'कहानी' लगेगी।

इधर हाल मे प्रकाशित कई कहानी सग्रह समकालीन कहानी के मिजाज को स्पष्ट कर सकते हैं। श्रीकान्त वर्मा का 'सम्वाद' गिरिराज किशोर का

'पेपरवेट', महीपसिंह का 'घिराव' सुधा अरोड़ा का 'बगैर तराशे हुए', सुरेश सिनहा का 'कोई आवाजों के बीच', वेद राही का 'दरार' आदि कहानी-संग्रहों की कहानियां इस बात की साक्षी हैं। हमने पिछले अध्याय में कई प्रसिद्ध कहानियों का विश्लेषण करते हुए समकालीन कहानी के बदलते व्यक्तित्व को समझने की कोशिश की है। दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया की कई कहानियां समकालीन कहानी के तेवर को स्पष्ट करती है।

इन संग्रहों के अतिरिक्त कई कहानियां चर्चा-विषय बन गई हैं। इनमें डा० विमल की 'बीच की दरार', दूधनाथ सिंह की 'रीछ', कामतानाथ की 'लाशें', और 'छुट्टियां', पानू खोलिया की 'बरगद', अशोक सेक्सरिया की 'लेखकी', नरेन्द्र कोहली की 'हिन्दुस्थानी', भीमसेन त्यागी की 'महानगर', अशोक आत्रेय की 'मेरे पिता की विजय', सिद्धेश की 'मन', 'मत्स्यगंध', 'फोड़ा', 'लाश' और 'अहसास', हिमांशु जोशी की 'जो घटित हुआ है', वेदराही की 'हर रोज', रमेश बक्षी की 'पिता दर पिता', रामदरश मिश्र की 'चिट्ठियों के बीच', काशीनाथ सिंह की 'सुबह का डर', सुदर्शन चोपड़ा की 'सड़क दुर्घटना', अवधनारायण सिंह की 'आत्मीय', काशीनाथ सिंह की 'लोग बिस्तरों पर', बदी उज्ज्मा की 'चौथा ब्राह्मण' विजय चौहान की 'नीलू का डर', सुधा अरोड़ा की 'मिस फिट' मृणाल पांडे की 'बैल', विभुकुमार की 'यात्रा : शवयात्रा' आदि कहानियां प्रमुख है। आये दिन कई और नाम सामने आ रहे है। समकालीन कहानी इस सदी के आठवें दशक में पदार्पण कर चुकी है। सातवें दशक के मध्य से नई कहानी ने जो नया मोड़ लिया है, उसका निरंतर विकास अब भी जारी है।

हमें आशा है कि नयी पीढ़ी के युवा लेखकों के हाथों हिन्दी कहानी का भविष्य सुरक्षित है।

सन्दर्भ-सूची

पहला अध्याय

सन्दर्भ क्रमाक

1 We must admit that in many cases an author may be a good reader of his poem, and he may help us to see things in it that we have overlooked But at the same time he is not necessarily the best reader of his poem and in deed he misconstrues it when his unconscious guides his pen more than his consciousness can admit so in this case we would have the poem read by the competent critics, and if they found irony in it, we should conclude that it is ironically, no matter what the poet says
Aesthetics M C Beardsley Page 26

२ साहित्य समीक्षा मुद्राराक्षस पृ० ५१

3 Pity, the impulse, to approach and terror, the impulse to retreat, are brought in tragedy to a reconciliation which they find no where else and with them who knows what other allied groups of equally discordant impulses Principles of literary criticism I A Richards, p 245

4 It is the general characteristic of all the most valuable experience of the arts It can be given by a carpet or a pot or by gesture We must resist the temptation to analyse its cause into sets of opposed characters in the object The balance is not in the structure of the stimulating object, it is in the response Ibd p 248

5 Ibd, p 23

6 Infact it is the only workable way of defining a poem,

namely, as a class of experiences which do not differ in any character more than a certain amount, varying for each character, from a standard experience. Ibd. p. 226-227

7. Richards has himself drawn his conclusion, saying that "It is less important to like 'good' poetry and to dislike 'bad' than to be able to use them both as a means of ordering our minds." Concept of criticism : Rene Wellek p. 265
8. Ibd. p. 352
9. सौन्दर्य आणि साहित्य : बा. सी. मर्ढेकर, पृ० ११५
10. वही, पृ० १२२
11. वही, पृ० १२२
12. कवि तेतील प्रतिमा सृष्टि : डॉ० सुधीर न० रसाल, पृ० १६
13. Aesthetics : M. C. Beardsley, p. 32
14. A poem, it is argued, is nothing outside the mental processes of individual readers and is thus identical with the mental state or process which we experience in reading or listening to a poem .... it is true, of course, that a poem can be known only through individual experiences, but it is not indentical with such an individual experience...... .. every experience of a poem thus both leaves out something or adds something individual.
    Theory of literature : Austin Warren and Rene Wellek, p. 146.
15. Ibd, p. 148
16. Ibd, p. 150-151
17. A poem, we have to conclude, is not an individual experience or a sum of experience, but only a potential cause of experiences. Ibd, p. 151
18. Ibd, p. 151
19. Ibd, p. 152-153
20. Ibd, p. 154
21. Ibd, p. 155
22. The literary work of art is neither an emperical fact .... nor is it an ideal changeless object such as a triangle. The work of art may become an object of experience, it is, we admit, accessidle only through indivibual experience, but

it is not identical with any experience Ibd, p 155

23 It has something which can be called "Life" It arises at a certain point of time, changes in the course of history, and may perish A work of art is" "Timeless" only in the sense that, if preserved, it has some fundamental structure of identity since its creation but it is "historical" too This structure, however, is dynamic it changes throughout the process of history while passing through the mind of its readers, critics, and fellow artists

Ibd p 156-157

24 "Tradion and individual Talent" (selected prose) T S. Eliot, p 23

25 We discover the nature of the object by looking, listening, reading etc But also, we learn about the nature of the object itself is indirect evidence of what the artist intended to be, and what we learn about the artist's intention is indirect evidence of what the object became. Thus when we are concerned with the object itself we should distinguish between internal, and external evidence of its nature (Aesthetics M C Berdsaley p 20)

26 Collected papers Vol IV, chapter "The reaction of the poet to Day-Dream ' S Frieud, p 180

27 That in poetry the poets desires are not represented openely and literally; they are disguised and Conveyed through a medium of fiction, bodied forth in strange forms as a result of the alchemic action, the 'dreamwork' of the posts, brain If poetry then, like dreams, has for its purpose the imaginary gratification of our desires, it also like dreams, proceeds from an unconcious rather than a conscious mental activity, and has its origin in unconscious sources The Journal of abnormal psychology (Poetry and Dreams) F C prescott p 32 37

28 Modern man in search of a soul C. G Jung ('psychology and Literature') p 178 199

29 It was the union of deep feeling with profound thought, the fine balence of truth in observing with the

imaginative faculty in modifying the objects observed; and above all the original gift of spreading the tone, the atmosphere and with it the depth and height of the ideal world had dried up the sparkle and the dewdrops.

Biographi Iiteraria : S. T. Coleridge p. 48

30. ... The primary imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perception, and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I Am. The secondary I consider as an echo of the former, co-existing with the conscious will, yet still as identical with the primary in the kind of its agency, and differing only in degree, and in the mode of its operation. It dissolved, diffuses, dissipates, in order to re-create; or where this process is rendered impossible yet still, at all events, it struggles to idealize and to unify. Ibd, p. 167

31. ...Reconcitiation of what ? primarily and generically of the two sides of self, conscious and unconscious, subject and object and of certain related abstract entities. Literary criticism. A short history : Wimsot and Brooks, p. 395

32. This power..... reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or discordant qualities : sameness with difference . .. and our admiration of the poet to our sympathy with the poetry. Biographia literaria S. T. Colegidge, p. 174

33. Litearary criticism, A short history : Wimsot and Brooks, P. 396

34. ......It is possible that the object may be merely to facilitate the recollection of any given facts or observations by artificial arrangement; and the composition will be a poem, merely because it is distinguished from prose by metre, or by rhyme, or by both conjointly.

Biographia Literaria. P. 171

35. Coleridge on imagination : I. A. Richards, P. 58-59

36. Specutation : T. E. Hulme, P. 119; 132-133; 138-139; 149

37. ......The mind of the poet is the shred of platinum. It may partly or exclusively operate upon the experience of the man himself; but, the more perfect the artist the more

completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates, the more perfectly will the mind digest and transmute the passions which are its material Selected Prose T S Eliot, P 26

38 ibd, P 27

39. ibd, P 27 28

40 ibd, P 28 to 30

41 The only way of expressing *emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative'; in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of* that particular emotion, such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked

ibd, P 102

42 ibd, 'The Metaphysical poets', P 110 111

43. Critique and Essays in criticism, (Ed R W stallman), chapter The objective correlative by Elsio Vivas, P 308

44. The new apologists for poetry (T S Eliot . expression and impersonality) Murray krieger, P 49 50

45, कवितत्तीत प्रतिमा सृष्टि डॉ० सुधीर न रसाल, पृ० १०५-१०६

46 Psychologists and Aesthetics (Chapter The childs conception of Physical casualty) By-Charles Baudowin, P. 244-245

47 मानविकी पारिभाषिक कोश (मनोविज्ञान खंड) पृ० १४०

48 We can come *nearer* to the id with images and call *it a chaos, a cauldrom of seething* excitement We suppose *that is some where in direct contact* with somatic (Physical *or bodily) progresses, and takes over* from them *instinctual needs and gives them mental expression* it has *no organisation and no unified will, only* an impulse to obtain *satisfaction for the* instinctual need in accordance with the pleasureprinciple

Art and society Herbert Read, P 89

49 मानविकी पारिभाषिक कोश (मनोविज्ञान खंड) पृ० २६३-२६४

50 वही, पृ० २८

51. The writer and his world (The artist in the community) Charles Morgan, P. 9
52. Creative imagination : (Chapter-The world of words-The inner speech) By-June E. Do wney, P. 45
53. ... And we looked, and, though we did not see what he had seen, we saw what we had not seen before and might never have seen but for his visionary flash. The writer and his world : Charles Morgan, P. 13
54. 'कल्पना' अप्रैल, १९६४, कल्पना कार्यालय हैदराबाद (सृजन-प्रक्रिया : निर्मल वर्मा पृ० ५०)
55. One assumption is that 'an eye for resemblances' is a gift that some men have but others have not. But we all live, and speak, only through our eye for resemblances Without it we should perish early.

    Philosophy of Rhetorics I. A. Richards, P. 89
56. ...The uneducated Mass of people at the other extreme concentrate on the externals on the subtleties and refinement of technique, the other on the blatant display of still, by which is always ment the creation of an illusion of reslity. Art and Society : Herbert Read, P. 70-73

दूसरा अध्याय

1. हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया (प्राक्कथन) : डा० परमानंद श्रीवास्तव, पृ० ४, ५
2. Your form is your meaning and your meaning dictates the form. Writers at work : The Paris review (Interviews) Joyce Cary, P. 51
3. नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति : डा० देवीशंकर अवस्थी, भूमिका, पृ० २१
4. वही (नई कहानी : सफलता और सार्थकता : नामवर सिंह०, पृ०) ६४
5. वही (कथाकार की अपनी बात : रमेश बक्षी), पृ० १०७
6. समकालीन कहानी का रचना संसार : डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० ८१
7. राष्ट्रवाणी (सातवें दशक की हिन्दी कहानी : विशेषांक, चौथा खंड) शिल्प में आधुनिकता और आज की कहानी : प्रभातकुमार त्रिपाठी, पृ० ६२

8 कहानी नयी कहानी डा० नामवर सिंह पृ० ३७
9 वही, पृ० ३१
10 समकालीन कहानी का रचना-विधान डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० ८३
11. I shall call an 'organic whole' and I shall define an Organic Whole' as a configuration such that the *configuration itself is prior in awareness to its compotent parts* and is not explicable by a summation of its parts and their relations according to discursive and additive principles The parts are what they are in virtue of the configurational whole of which they are parts, not the whole as a result of the summation of the parts And when any such organic whole enters into awareness, there emerges a new element or quality of perception which could no more be Imagined or deduced from the consideration of its parts in isolation. *Theory of Beauty* H Os borne, P 124
12 Speculations T E Hulme (Chapter on 'Modern Art and its Philosophy) P 87 and 104 109
13 क ले चे जीवशास्त्र व्लादीमीर वाईड् ले० (अनुवाद प्रा० वा० ल० कुलकर्णी, प्रो० मे० पु० रेगे) छद' जुलाइ अगस्त, १९५८
14 The Short story sean O Faolain (On convention' P 147
15 For that matter, I believe that in all art about one tenth is skill and the rest is personality ibd, P 170
16 A character *is a complex of potentialities for action,* Understanding fiction Cleanth Brooks P 656
17 The story is the road of time, preceeding from the know to the unknown and meeting each event in succession A plot, on the other hand, is a pattern of cause and effect Technique *in fiction* R Macavley, p. 159 G. Lanning
18 A plot is also a narrative of events, the emphasis falling on casuality it suspends the time-sequence, it moves as for away *from the story as its limitation* will allow A plot demands intelligence and memory also *Aspects of the novel* E, N Forster, p 116-117
19. The only reliable evidence we have about human life is the way people act and things they do Character is

inferred by action. The only true way to read character, is through action. Technique in Fiction : Robis Macavley and George Lanning, p. 180

20. .. ...Thus fiction, if it is to to have truth as art, can not follow the imposed scheme of a plot. It must take as its *main subject character. ibd, p. 181*
21. Plot, there is character in action : Understanding Fiction : Cleanth Brooks, p. 80
22. The art of the Novel : Henry James p. 127 and 128
23. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर, पृ० ११२
24. Technique in Fiction : R. Macavley and G. Lanning (Character today) P. 95-100.
25. We can not very long consider the action or the characters of story without coming to some concern with theme, for, as we have already insisted, a story ···is an organic unity in which all the elements have vital interrelations. Each element implies the other elements, and implies them in movement toward a significant end.

    Understanding fiction : Cleanth Brooks, P. 272
26. The theme, further more, is not to be confused with any ideas or pieces of information, however interesting or important ··the theme is what a piece of fiction stacks upto.

    ibd, p. 273

तीसरा अध्याय

१. Literary Criticism, A Short History : Wimsot amd Brooks (Wordsworth and Coleridge) P. 395
२. नया हिन्दी काव्य : डा० शिवकुमार मिश्र, पृ० ६८
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १२६
४. कहानी : स्वरूप और संवेदना : राजेन्द्र यादव (कहानी : नई कहानी तक), पृ० २२
५. इन्द्रजाल : जयशंकर प्रसाद ('गुण्डा') पृ० ८५
६. आकाशदीप : जयशंकर प्रसाद ('ममता') पृ० २६
७. वही, पृ० २८
८. वही, ('आकाश दीप') पृ० २०

९. आँधी : जयशंकर प्रसाद ('पुरस्कार'), पृ० १४३
१०. कहानी विविधा : सं० डा० देवीशकर अवस्थी, (सम्पादक की बात) पृ० १७
११. आकाश दीप : जयशंकर प्रसाद ('बिसाती') पृ० १८२
१२. वही, ('आकाश दीप') पृ० १०
१३. वही पृ० १७
१४. नाटकों की तरह उनकी कहानियाँ भी बीज, विकास और फलागम इन अवस्थाओं के क्रम से विकसित होती हैं।
हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया (प्रेमचन्द युग की हिन्दी-कहानी) : डा० परमानन्द श्रीवास्तव, पृ० १०१
१५. हिन्दी कहानी, अपनी जबानी : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ८५
१६. हिन्दी कहानी और कहानीकार : प्रो० वासुदेव, पृ० ७७
१७. इन्द्रजाल : जयशकर प्रसाद (विराम चिह्न') पृ० १११
१८. वही, ('देवरथ') पृ० १०७
१९. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द्र, पृ० ४७
२० प्रेमचन्द : एक विवेचन : डा० इन्द्रनाथ मदान पृ० २२
२१. हिन्दी कहानी और कहानीकार : प्रो० वासुदेव, पृ० १०४
२२. प्रेमचन्द : डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० ८०
२३. कहानी : स्वरूप और सवेदना . (कहानी : नई कहानी तक) : राजेन्द्र यादव, पृ० २३
२४. प्रेमचन्द : डा० गगाप्रसाद विमल, पृ० ९१
२५. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द, पृ० ४५
२६. वही, पृ० ४७
२७. प्रेमचन्द : डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० ९२
२८. वही पृ० ८१
२९. मानसरोवर (७), 'पचपरमेश्वर', पृ० १६४
३०. प्रेमचन्द : एक विवेचन : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० १२७
३१. प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, 'आत्माराम', पृ० ९९
३२. मानसरोवर (४) 'सवासेर गेहूँ', पृ० १८७
३३. वही, पृ० १९०
३४. (१) प्रेमचन्द : डा० गगाप्रसाद विमल, पृ० ७८
३४. (२) प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ : 'बड़े भाई साहब, पृ० ७२

३५. वही, 'गुल्ली डण्डा', पृ० १३१
३६. मानसरोवर 'कफन' : प्रेमचन्द, पृ० २०
३७. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर, पृ० १८६
३८. वही, पृ० १८७
३९. कहानी, स्वरूप और संवेदना : राजेन्द्र यादव, पृ० २५
४०. प्रेमचन्द : डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० ९७
४१. जैनेन्द्र की कहानियाँ (आठवाँ भाग) : जैनेन्द्र 'पत्नी', पृ० १७९
४२. जयदोल : अज्ञेय, 'साँप', पृ० २४-२५
४३. आधुनिक हिन्दी कहानी (कहानी शिल्प में कथानक का ह्रास) : डा० लक्ष्मीनारायणलाल, पृ० ७८
४४. कहानी, स्वरूप और संवेदना : राजेन्द्र यादव, पृ० २६
४५. हिन्दी कहानी (अपनी जबानी) : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० १००
४६. नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति : सं० डा० देवी शंकर अवस्थी (जैनेन्द्र : कहानी वहाँ की मार्कंडेय), पृ० ३६
४७. कहानी, स्वरूप और सम्वेदना : राजेन्द्र यादव पृ० २८
४८. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति : सं० डा० देवीशंकर अवस्थी (अज्ञेय : शेखूपुरे के शरणार्थी), पृ० ४१-४२
४९. हिन्दी कहानी (अपनी जबानी) अध्याय १०, पृ० १०६
५०. वही, अध्याय ९, पृ० ९२
५१. मेरी प्रिय कहानियाँ : इलाचन्द्र जोशी (प्रस्तावना), पृ० ८

चौथा अध्याय

१. Selected Prose : T. S. Eliot (After Strange Gods : Tradition), P. 20-21
२. वही, (Tradition and Individual talent), P. 21-30
३. प्रतिष्ठान फेब्रुवारी, १९६२, 'परम्परा आणि नवता' : गो० वि० करंदीकर, पृ० ८
४. वही पृ० १३
५. आधुनिक साहित्य बोध (एक परिसंवाद), 'आधुनिकता अर्थात् संकट का बोध : डा० धर्मवीर भारती, पृ० ६
६. वही, पृ० ७
७. आलोचना (स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य-विशेषांक ४), त्रैमासिक

आलोचना नवाक आठ जुलाई, १९६५, (आधुनिक डा० रमेश कुंतल 'मेघ'), पृ० १६

८. आधुनिक साहित्य बोध (एक परिसवाद) 'आधुनिकता अर्थात् सकट का बोध : डा० धर्मवीर भारती, पृ० १२

९. वही, 'आधुनिक साहित्य बोध के मूलतत्त्व' श्री० स० ही वात्सायन 'अज्ञेय', पृ० ३२

१०. वही, 'आधुनिकता अर्थात् सकट का बोध' डा० धर्मवीर भारती, पृ० १६

११. कहानी, स्वरूप और सवेदना · राजेन्द्र यादव, पृ० ३७

१२. सचेतना (दो दशक कथायात्रा—मूल्याकन विशेषाक अक) ११, १२, १३ सं० डा० महीप सिंह, मार्च, १९७० 'दो दशको की कहानी · रचना दृष्टियाँ, 'डा० सावित्री सिन्हा, पृ० २६

१३ आधुनिक साहित्य-बोध (एक परिसवाद) 'आधुनिकता अर्थात् सकट का बोध डा० धर्मवीर भारती, पृ० १९

पाँचवाँ अध्याय

१. कहानी, स्वरूप और सवेदना : राजेन्द्र यादव 'आज की कहानी, वर्गी-करण के नये आधार', पृ० ८४

२. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर 'कहानी मे नया क्या है ?' पृ० ३२

३ एक दुनिया समानातर · राजेन्द्र यादव, भूमिका, पृ० २९

४. नई कहानी . सन्दर्भ और प्रकृति : स० डा० देवीशकर अवस्थी, 'नयी कहानी, एक शुरुवात · नामवर सिंह', पृ० २३०

५. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर 'कहानी मे नया क्या है ?,' पृ०३०

६. एक दुनिया समानान्तर : राजेन्द्र यादव, भूमिका, पृ० २३

७ नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर 'आधुनिकता और प्रामाणिकता के संदर्भ मे नयी कहानी,' पृ० १५८

८. वही, पृ० १५९

९. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ : स० श्री० सुरेन्द्र, भूमिका, पृ० ३३

१०. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर, पृ० १७२

११. भटकती राख ('कटघरे') : भीष्म साहनी, पृ० १२

१२. सुबह के फूल (सुबह के फूल) : महीप सिंह

१३. राजेन्द्र यादव (की) श्रेष्ठ कहानियाँ ('जहाँ लक्ष्मी कैद है') राजेन्द्र यादव

१४. जिन्दगी और गुलाब के फूल ('वापसी') : उपा प्रियंवदा
१५. एक और जिन्दगी : ('मलवे का मालिक') : मोहन राकेश
१६. आलोचना (विशेषांक भाग २) नयी पीढ़ी की उपलब्धियां : बारह नई कहानियां : धनंजय वर्मा, पृ० ९८–११८
१७. पेपर वेट ('चूहे') : गिरिराज किशोर
१८. सपाट चेहरे वाला आदमी ('दु:स्वप्न') : दूधनाथ सिंह
१९. पेपर वेट ('पेपर वेट') : गिरिराज किशोर
२०. राजेन्द्र यादव (की) श्रेष्ठ कहानियां ('प्रतीक्षा') : राजेन्द्र यादव
२१ आदिम रात्रि की महक ('प्रजासत्ता') : फणीश्वरनाथ रेणु
२२. जिन्दगी और गुलाव के फूल ('जिन्दगी और गुलाव के फूल'): उपा प्रियंवदा
२३. अपने पार ('अपने पार') : राजेन्द्र यादव
२४. राजा निरवंसिया ('राजा निरवंसिया') : कमलेश्वर
२५. टूटना और अन्य कहानियां ('टूटना') राजेन्द्र यादव
२६. यही सच है (और अन्य कहानियां), 'तीसरा आदमी' : मन्नू भण्डारी
२७. अपने पार ('भविष्य के आसपास मंडराता अतीत') : राजेन्द्र यादव
२८. सपाट चेहरे वाला आदमी ('प्रतिशोध') : दूधनाथ सिंह
२९. वही, 'सब ठीक हो जायगा'
३०. एक और जिन्दगी ('एक और जिन्दगी') : मोहन राकेश
३१. नौ साल छोटी पत्नी ('नौ साल छोटी पत्नी') : रवीन्द्र कालिया
३२. घिराव ('घिराव') : महीप सिंह
३३. पिछली गर्मियों में ('पिता और प्रेमी') : निर्मल वर्मा
३४. दूसरे किनारे से ('त्रिकोण') : कृष्ण बलदेव वैद
३५. मैं हार गई ('एक कमजोर लड़की की कहानी') : मन्नू भण्डारी
३६. घिराव ('कील') : महीप सिंह
३७. रोयें रेशे ('फौलाद का आकाश' : : मोहन राकेश
३८. तीन निगाहों की एक तस्वीर ('तीन निगाहों की एक तस्वीर') : मन्नू भण्डारी
३९. समुद्र ('समुद्र') : रामकुमार
४०. वगैर तराशे हुए ('वगैर तराशे हुए') : सुधा अरोड़ा
४१. तथापि ('तथापि') : नरेश मेहता

४२ कथावीथी : ('बन्द दराजो का साथ') · स० डा० प्रेमनारायण शुक्ल
४३. मास का दरिया, और अन्य कहानियाँ 'तलाश' कमलेश्वर
४४. यही सच है ('यही सच है') मन्नू भण्डारी
४५. अपने पार ('दायरा') · राजेन्द्र यादव
४६. सपाट चेहरे वाला आदमी ('आइसबर्ग') दूधनाथ सिंह
४७ जलती झाडी ('लदन की रात') · निर्मल वर्मा
४८. वही, 'जलती झाडी'
४९ मेरा दुश्मन ('अजनबी') : कृष्ण बलदेव वैद
५०. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ ('खोई हुई दिशाएँ . कमलेश्वर) · स० श्री० सुरेन्द्र
५१. दूसरे किनारे से ('दूसरे किनारे से) · कृष्ण बलदेव वैद
५२. नौ साल छोटी पत्नी ('अकहानी') . रवीन्द्र कालिया
५३. वही, 'काला रजिस्टर'
५४. कई आवाजों के बीच ('कई आवाजो के बीच') : सुरेश सिन्हा
५५. सपाट चेहरे वाला आदमी ('सपाट चेहरे वाला आदमी') · दूधनाथ सिंह
५६. सवाद ('सवाद') : श्रीकांत वर्मा
५७ मेरा दुश्मन ('मेरा दुश्मन') : कृष्ण बलदेव वैद
५८. नयी कहानी प्रकृति और पाठ ('दोपहर का भोजन' . अमरकात) : स० श्री सुरेन्द्र
५९. भटकती राख ('खून का रिश्ता') : भीष्म साहनी
६०. कहानियाँ १९५५ ('गुल की बन्नों') : धर्मवीर भारती सं० महाराष्ट्र राष्ट्र भाषा, पुणे
६१. नई कहानी प्रकृति और पाठ ('दूध और दवा') : मार्कण्डेय, स० श्री सुरेन्द्र
६२. जिन्दगी और जोक ('जिन्दगी और जोक') अमरकात
६३. नौ साल छोटी पत्नी ('क ख ग') रवीन्द्र कालिया
६४. फैंस के इधर और उधर ('आत्महत्या') : ज्ञानरजन
६५. राजा निरबसिया ('कसबे का आदमी') : कमलेश्वर
६६ ठुमरी ('ठेस') : फणीश्वरनाथ रेणु
६७ वही, 'लाल पान की बेगम'
६८. आदिम रात्रि की महक ('आदिम रात्रि की महक') : फणीश्वरनाथ रेणु
६९. ठुमरी ('तीसरी कसम') : फणीश्वरनाथ रेणु

७०. मांस का दरिया ('नीली झील') : कमलेश्वर
७१. टूटना और अन्य कहानियां ('एक कटी हुई कहानी') राजेन्द्र यादव
७२. एक पति के नोट्स : महेन्द्र भल्ला
७३. मित्रो मरजानी : कृष्णा सोबती
७४. मांस का दरिया ('मांस का दरिया') : कमलेश्वर
७५. कोसी का घटवार ('कोसी घटवार) : शेखर जोशी

छठा अध्याय

१. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १२४
२. राष्ट्रवाणी, जुलाई, १९७१ (हिन्दी कहानी के दो दशक : दो गुरुवातें और मानसिकता) सं० गो० प० नेने, पृ० ५४
३. संचेतना (दो दशक कथा-यात्रा-मूल्यांकन विशेषांक) मार्च, १९७०, 'समकालीन कहानी का बदलता हुआ मिजाज' : प्रसन्नकुमार ओझा, पृ० १८१
४. नयी : कहानी प्रकृति और पाठ : सं० श्री सुरेन्द्र; भूमिका पृष्ठ : ३६
५. राष्ट्रवाणी, जुलाई १९७० ('हिन्दी कहानी के दो दशक : दो गुरुवातें और उनकी मानसिकता : यदुनाथ सिंह) सं० गो० प० नेने, पृ० ५५
६. राष्ट्रवाणी, अप्रैल, मई १९७०, ('कहानी के बदलते हुए तेवर : धनंजय वर्मा') पृ० ४७
७. संचेतना, मार्च १९७० ('समकालीन कहानी : यथार्थ के सलीब पर टँगा अस्तित्व बोध : डा० नरेन्द्र कोहली), सं० महीप सिंह पृ० ३३
८. राष्ट्रवाणी, अप्रैल-मई १९७०, (७० की कहानी के जरूरी नोट्स : श्रीराम तिवारी) पृ० ३०
९. समकालीन कहानी का रचना संसार : डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० ६१
१०. राष्ट्रवाणी, नवम्बर, १९६९ (समकालीन कहानी और संक्रमणशील जीवन स्थितियां : विश्वेश्वर), पृ० ४४
११. 'राष्ट्रवाणी', दिसम्बर, १९६९ ('कहानियां जो भी हों, उनके प्रश्न और उत्तर नये हैं : कमलेश्वर) पृ० ६
१२. वही, पृ० ८
१३. वही, ('समकालीन कहानी की भूमिका : डा० धनंजय') पृ० ९७
१४. 'राष्ट्रवाणी', अप्रैल-मई, १९७०, ('कहानी के बदले हुए तेवर : धनंजय वर्मा') पृ० ४६

सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची

पर्यायवाची शब्द कोश : सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अंग्रेजी-हिन्दी कोश : फादर कामिल बुल्के, काथलिक प्रेस, राँची, प्र० स० गणतन्त्र दिवस, १९६८
२. मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य-खंड) सम्पादक डा० नगेन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र० स० १९६८

हिन्दी ग्रन्थ

३. अपने पार : राजेन्द्र यादव, नेशनल प० हाउस, दिल्ली-६, प्र० स० १९६८
४. आकाश दीप : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सप्तम स० १९६३
५. आदिम रात्रि की महक फणीश्वरनाथ रेणु, राधाकृष्ण प्र० दिल्ली-६, १९६७
६. आंधी · जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार इलाहाबाद, पष्ठम स० २०१६ वि
७. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, साहित्य भवन, प्रा० लि०, इलाहाबाद प्र० स० १९६६
८. आधुनिक साहित्य-बोध (एक परिसंवाद) श्री. शिक्षायतन कालेज कलकत्ता-१६
९. आधुनिक हिन्दी कहानी . लक्ष्मीनारायण लाल, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, प्र० स० १९६२
१०. इन्द्रजाल : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार इलाहाबाद, पंचम स० २०१८ वि.
११ एक और जिन्दगी : मोहन राकेश, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, प्र० सं० १९६१
१२. एक दुनिया समानांतर : सम्पादक एवं भूमिका लेखक, राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, १९६६

१३. एक पति के नोट्स : महेन्द्र भल्ला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, प्र० सं० १९६७
१४. कई आवाजों के बीच : सुरेश सिन्हा, लोकभारती प्र० इलाहाबाद, प्र० सं० १९६८
१५. कथावीथी : सं० डा० प्रेमनारायण शुक्ल, 'ग्रन्थम', रामबाग, कानपुर-१२, १९७०
१६. कहानी, स्वरूप और संवेदना : राजेन्द्र यादव, नेशनल प० हाउस, दिल्ली-६ प्र० सं० मार्च, १९६८
१७. कहानी : नयी कहानी : डा० नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं० मार्च, १९६६
१८. कहानी-विविधा : सं० डा० देवीशंकर अवस्थी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६ चतुर्थ आवृत्ति—१९६८
१९. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद
२०. कोसी का घटवार : शेखर जोशी, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं० जुलाई १९५८
२१. घिराव : डा० महीप सिंह, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६, प्र० सं० १९६८
२२. जलती झाड़ी : निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय आवृत्ति, १९६६
२३. जयदोल : अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय सं० १९६२
२४. जिन्दगी और गुलाब के फूल : उषा प्रियंवदा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, द्वि० सं० १९६९
२५. जिन्दगी और जोंक : अमरकान्त, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६
२६. जैनेन्द्र की कहानियाँ (आठवां भाग) : जैनेन्द्र, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली-६ तृतीय सं० १९६४
२७. टूटना और अन्य कहानियाँ : राजेन्द्र यादव, अक्षर प्र० प्रा० लि० दिल्ली-६, प्र० सं० १९६६
२८. ठुमरी : फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल प्र० दिल्ली-६, तृतीय आवृत्ति १९६७
२९. तथापि : नरेश मेहता, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई-४, प्र० सं० १९६१
३०. तीन निगाहों की तस्वीर : मन्नू भण्डारी, श्रमजीवी प्रकाशन, इलाहाबाद.
३१. दूसरे किनारे से : कृष्णवलदेव वैद, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-६, १९७०

३२. नया हिन्दी काव्य : डा० शिवकुमार मिश्र, अनुसन्धान, प्रकाशन, कानपुर
३३. नयी कहानी, सन्दर्भ और प्रकृति . स० एव भूमिका लेखक, डा० देवीशकर अवस्थी, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, प्र० स० १९६६
३४ नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली–६, द्वितीय स० १९६९
३५- नयी कहानी : प्रकृति और पाठ . सपादक एव भूमिका लेखक, श्री सुरेन्द्र, परिवेश प्रकाशन, जयपुर, प्र० स० १९६८
३६. नौ साल छोटी पत्नी . रवीन्द्र कालिया, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद-२ प्र० स० १९६९
३७ पिछली गर्मियो मे : निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली—६, प्र० स० १९६८
३८. पेपरवेट · गिरिराज किशोर, राजकमल प्र० दिल्ली–६ प्र० स० १९६७
३९ प्रेमचन्द : डा० गगाप्रसाद विमल, राजकमल प्र० दिल्ली–६ प्र० स० १९६८
४०. प्रेमचन्द : एक विवेचन · डा० इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्र० दिल्ली, चौथा नया स० १९६८
४१. प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानिया : प्रेमचन्द, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
४२. फेन्स के इधर और उधर . ज्ञानरजन, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, प्र० स० १९६८
४३. बगैर तराशे हुए : सुधा अरोड़ा, इकाई प्रकाशन, हिम्मतगज, इलाहाबाद-१ प्र० स० जनवरी १९६८
४४ भटकती राख . भीष्म साहनी, राजकमल प्रकाशन दिल्ली–६, प्र० स० १९६६
४५ मानविकी पारिभाषिक कोश (मनोविज्ञान खण्ड), इस खण्ड के सम्पादक : डा० पद्मा अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–६ प्र० स० १९६८
४६ मानसरोवर (१) · प्रेमचन्द, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, ११ वाँ सस्करण, जनवरी १९६५
४७. मानसरोवर (४) : प्रेमचन्द, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, दसवाँ सस्करण १९६५
४८. मानसरोवर (७) : प्रेमचन्द, हस प्रकाशन, इलाहाबाद, ११वाँ स० जनवरी, १९६५

४९: मेरा दुश्मन : कृष्ण वलदेव वैद, राजकमल प्र० दिल्ली–६ प्र० सं० १९६६
५०. मेरी प्रिय कहानियाँ : इलाचन्द्र जोशी, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली–६, १९७०
५१. मैं हार गई : मन्नू भण्डारी, राजकमल, प्र० दिल्ली, प्र० सं० १९५७
५२. मित्रो मरजानी : कृष्णा सोवती, राजकमल प्र० दिल्ली–६ प्र० सं०१९६७
५३. मांस का दरिया (और अन्य कहानियाँ) : कमलेश्वर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली–६
५४. यही सच है (और अन्य कहानियाँ) : मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली–६, प्र० सं० १९६६
५५. राजा निरवंसिया : कमलेश्वर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, द्वितीय सं० १९६६
५६. राजेन्द्र यादव (की) श्रेष्ठ कहानियाँ : सं० राजेन्द्र यादव, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली द्वितीय सं० जुलाई, १९६६
५७. रायें रेशे : मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-६, १९६८
५८. संवाद-श्रीकान्त वर्मा, राजकमल प्र० दिल्ली–६, प्र० सं० १९६९
५९. सपाट चेहरे वाला आदमी : दूधनाथ सिंह, अक्षर प्र० प्रा० लि० दिल्ली–६ प्र० सं० १९६७
६०. समकालीन कहानी का रचना संसार : डा० गंगाप्रसाद विमल, सुषमा पुस्तकालय, कृष्ण नगर, दिल्ली —३१, प्र० सं० १९६७
६१. समुद्र : रामकुमार, राजकमल प्र० दिल्ली–६ प्र० सं० १९६८
६२. सुवह के फूल : महीप सिंह, राष्ट्रधर्म प्र० लि० लखनऊ, प्र० सं० १९५६
६३. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द, हंस प्र० इलाहावाद, जनवरी १९६७
६४, साहित्य-समीक्षा : मुद्राराक्षस, नेशनल प० हाउस, नई सड़क, दिल्ली, प्र० सं० १९६३
६५. हिन्दी कहानी (अपनी जवानी) : डा० इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्र० लि० दिल्ली–६ प्र० सं० १९६८
६६. हिन्दी कहानी और कहानीकार : प्रो० वासुदेव एम० ए०, वाणी-विहार, दुलहिन जी रोड, वाराणसी–१ तृतीयावृत्ति, दिसंवर १९६१
६७. हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया : डा० परमानन्द श्रीवास्तव, 'ग्रन्थम' कानपुर, फरवरी १९६५

अंग्रेजी ग्रन्थ

68 Aesthetics Monroe C Beardsley, Harcourt, Brace and Co , Newyark

69 Art and Society Herbert Read, Faber and Faber, London 1945

70 Aspects of Novel E M Forster, London, Edward Arnold and co , 7th impression, August, 1945

71 *Biographia Literatia* S T Coleridge, (Ed ted with an introduction by George Watson), Everyman s Library, Duttan Newyark, 1962

72 Coleridge on Imagination I A Richards, Kegan Paul, London, 1934

73 Collected Papers Vol IV Sigmond Frieud, Hogarth Press, 1934

74 Concept of Criticism Rene Wellek, New Haven and London Yale University Press

75 Creative Imagination June E Downey, Kegan Paul, Trench, Trubner and Co Ltd , London 1929

76 Critique and Essays in Criticism (Ed R W Stallman), The Ronald Press, Newyark, 1949

77 Literary Criticism, A short History Wimsot and Brooks Oxford and Ibh Publishing Co , New Delhi, (3rd Indian reprint, 1967)

78 Modern Man in Search of a soul C G Jung, Kegan Paul, Trench, Trubner and Co Ltd 1933

79 Philosophy of Rhetorics I A Richards, Oxford University Press, Paperback 1965

80 Poetry and Dreams, 7th Journal of Abnormal Psychology Vol VII 1912-1913 F C Press cott Editor Morton Prince, Boston, April May 1912

81 Principles of Literary Criticism I A Richards, Routledge and Kegan Paul Ltd , Broadway House, 68-74, Carter Lane, E. C 4, London, Reprinted 1963

82 Psychoanalysis and Aesthetics Charles Bavdowin(Translated by Eden and Cederp Paul), George Allen and Udwin 1924

83. Selected Prose : T. S. Eliot (Ed. John Hayward) Penguin Books, Ltd. 762, Whitehorse Road, Victoria, Reprinted in Peregrine Books, 1963
84. Speculations : T. E. Hulme, (Ed. Herbert Read), London : Routledge and Kegan Paul Ltd., Published in R. Paper back, 1960
85. Technique in Fiction : Robie Macavley George Lanning Harper and Row, Publishers, Newyork 1964
86. Theory of Beauty : H Osborne, (An introduction to Aesthetics), Routledge and Kegan Paul Ltd. London, 1952
87. Theory of Literature : Austin Warren, Rene Wellek, Jonathan Cape, Thirty Bedford Square, London Reprinted 1961
88. The Aıtffof the Novel : H. James, Charles Scpibner's Sons, Newyork, 1962
89. The New Apologists for Poetry : Murray Krieger, Indian University Press B 100 mington, 1963
90. The Short Story : Sean O' Faolain The Devin-Adair Company, New York, 1951
91. The Writer and his World : Charles Morgan, London : Macmillan and Co. Reprinted 1961
92. Understanding Fiction : Cleanth Brooks, A C C, New york, 1959. (Second Edition 1959)
93. Writers At Work : The Paris Review-Interviews : (Ed. Malcolm Cowley) First published in Mercury Books 1962

मराठी ग्रन्थ

९४. कवितेतील प्रतिमा सृष्टी : डा० सुधीर रसाल [शोध प्रबंध, मराठवाड़ा विद्यापीठ, औरंगाबाद]
९५. सौन्दर्य आणि साहित्य : बा० सी० मर्ढेकर, मौज प्रकाशन, मुंबई-४ दूसरी आवृत्ती, [illegible]

पत्र-पत्रिकायें

९६. आलोचना (विशेषांक भा २), जुलाई १९६५ (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य) सं० शिवदान सिंह चौहान, राजकमल प्र०, दिल्ली-६
९७. कल्पना, अप्रैल १९६४, कल्पना कार्यालय, सुलतानबाजार, हैदराबाद।

९८. कहानियाँ १९५५ (२) स० गो० पा० ने ने, म० रा० भा० स० पुणे
९९. राष्ट्रवाणी (दीपावली विशेषांक) नवंबर १९६९, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे
१०० राष्ट्रवाणी [सातवें दशक की हिन्दी कहानी, विशेषांक-चौथा खंड] जुलाई १९७० सयोजक श्री सनतकुमार, म० रा० भा० स०, पुणे
१०१ राष्ट्रवाणी, दिसम्बर १९६९ म० रा० भा० स०, पुणे
१०२. राष्ट्रवाणी, अप्रैल मई १९७० म० रा० भा० स०, पुणे
१०३ सचेतना [दो दशक कथायात्रा मूल्यांकन विशेषांक, अंक ११, १२, १३] मार्च १९७० स० महीपसिंह, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६
१०४. 'छंद' जुले-आगस्ट १९५८ 'कलेचे जीवशास्त्र': ब्लादीमीर वाइडले, अनुवाद · बा० ल० कुलकर्णी, मे० पु० रेगे०
१०५. 'प्रतिष्ठान', फेब्रवारी १९६२, मराठवाडा साहित्य परिषद, औरंगाबाद